॥ श्रीः ॥

मनुस्मृति

अर्थात्

मानवधर्मशास्त्र।

हिन्दीभाषानुवाद–टिप्पण–विषयसूची–श्लोकसूची
और विस्तृत-भूमिका-सहिता।

अनुवादक,

पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

हेड पण्डित.

'नवलकिशोरविद्यालय' गोमती तट,

लखनऊ

बाबू मनोहरलाल भार्गव, बी. ए., सुपरिंटेंडेंट के प्रबन्ध से

मुंशी नवलकिशोर सी. आई. ई., के छापेखाने में छपी

सन् १९१७ ई०

मनुस्मृति की

भूमिका।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥ (यजु० अ० ३० कं० ३)

धर्म।

धर्मशास्त्र के अत्यावश्यक कुछ विषय संक्षेप से लिखते हैं जिनके न जानने से वर्तमान काल में बड़ी भारी हानि है। ये विषय प्रायः धर्मसंहिता[१] नामक निबन्ध ग्रन्थ से लिये गये हैं।

यहां धर्म शब्द, पङ्कजशब्द के समान योग रूढ़ है। गिरते हुए मनुष्य का जो आधार होकर धारण करता है वह धर्म है। यह धर्म शब्द का अक्षरार्थ कहलाता है। और अनिष्ट से संबन्ध न रखनेवाले इष्टफल का साधन धर्म है। यह धर्मशब्द का प्रसिद्ध अर्थ कहलाता है। भगवान् कणाद मुनि ने वैशेषिकदर्शन में 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः' यह धर्म का लक्षण कहा है। अर्थात् जिस से लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्त हो वह धर्म है। और भगवान् जैमिनि मुनि ने मीमांसादर्शन में 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह क्रियासापेक्ष धर्म का लक्षण कहा है। अर्थ–जिस वाक्य के सुनने से कर्तव्य तथा अकर्तव्य कर्म का ज्ञान होवे उस (वाक्य) का चोदना, प्रेरणा, उपदेश और विधि नाम है; जिससे

---

१ यह ग्रन्थ पूज्यपाद श्री ६ दुर्गाप्रसाद द्विवेदीजी, प्रधानाध्यापक, संस्कृत कालेज-जयपुर, का बनाया हुआ है। इसमें धर्मशास्त्र के गूढ़तत्त्वों का विशिष्ट विवेचन है।

जिसकी पहिचान होवे वह उसका लक्षण कहलाता है; चोदना-लक्षण है जिस का ऐसा अर्थ=कल्याण के साधन अग्निहोत्र आदि कर्म, धर्म है। यहां पर आचार्यों ने उक्त सूत्र की यों भी योजना की है-

'धर्मः चोदनालक्षणः अर्थः'=धर्म, विधिरूप; कल्याण-साधन है। इस प्रकार सूत्र की योजना करने से धर्म में प्रमाण का लाभ और दो नियम सिद्ध होते हैं। पहला नियम—'यो धर्मः तत्र चोदनैव प्रमाणम्' अर्थात् जो धर्म है उसमें विधिवाक्यही प्रमाण है। इससे 'अग्नि, धूम आदि पदार्थों के समान धर्म के साधन में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण समर्थ नहीं हैं' यह बात सिद्ध हुई। पहले नियम के फल को दिखलानेवाला प्रत्यक्ष सूत्र है-'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' (मी० द० १।१।४) अर्थ-परीक्षक की चक्षु आदि इन्द्रियों का वर्तमान विषयों के साथ संयोगरूप संबन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहाजाता है। प्रत्यक्ष (प्रमाण) धर्म (प्रमेय) के ज्ञान करने में कारण नहीं है, क्योंकि वर्तमान वस्तुओं ही की इन्द्रियों से उपलब्धि होती है। अर्थात् ज्ञानकाल में वर्तमान न रहने के कारण धर्म इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने के योग्य नहीं है। इसी अभिप्राय को लेकर चातुर्वर्ण्यशिक्षा में कहा है-

'प्रत्यक्षयोगं सहते न धर्म-
स्ततोऽनुमापि प्रतिरुद्धवीर्या।

१ यह ग्रन्थ भी पूज्यपाद श्री ६ द्विवेदीजी कृत है।

मानं तु लिङ्-लेट्-मुखभावनीया
सा चोदनैवात्र वरीष्टतीति ॥'

दूसरा नियम—'यो धर्मः तत्र चोदना प्रमाणमेव' जो धर्म है उसमें विधिवाक्य प्रमाण ही है। इससे 'वेदों के रहस्य को न जानकर उसपर जो जो दोष ठहराये हैं वा ठहराये जाते हैं वे सब व्यर्थ हैं' यह बात सिद्ध हुई। इस दूसरे नियम के फल को दिखलानेवाला औत्पत्तिकसूत्र है–'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (मी० द० १।१।५) अर्थ–पूर्वपक्ष–पुरुष जिस शब्दमें जिस अर्थ का संकेत करता है उस शब्द से उस अर्थ का ज्ञान होता है, इस कारण शब्द और अर्थ का जो संकेतरूप संबन्ध है उसके पुरुषकृत होने से जैसा शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान, सीप में रजतज्ञान को; रस्सी में सर्पज्ञान को; तथा मृगतृष्णा में जलज्ञान को उत्पन्न करने से विपर्यय (मिथ्याभाव) को प्राप्त होता है ऐसा शब्द में भी विपर्ययज्ञान संभव है। इस कारण विधिवाक्य धर्म के विषय में प्रमाण नहीं हो सकते। सिद्धान्त–शब्द का अर्थ के साथ शक्तिरूपसंबन्ध नित्यही है; किन्तु कृतक नहीं है। वह धर्म का कारण है। अतएव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अप्राप्त अर्थ में विधिवाक्य व्यभिचार को नहीं प्राप्त होता। इस कारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से (वह) विधिवाक्य धर्म में बादरायण आचार्य को प्रमाण है। अर्थात् जैसा 'पर्वतो वह्निमान्'=पर्वत अग्निवाला है, इत्यादि वाक्य इन्द्रियदोषयुक्त पुरुष के (जिस को धुंध आदि कारण से पर्वत में मिथ्या अग्नि का भान है) कहे हुए अर्थ (अग्नि)

से व्यभिचरित होते हैं, इसलिये प्रमाण के विषय में प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं रखते हैं; ऐसा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'=सुख चाहनेवाला अग्निहोत्रद्वारा स्वर्ग की भावना करै, इत्यादि वैदिक उपदेश-वाक्य पुरुषकृत न होने से दोषरहित, किसी काल में भी अपने अर्थ से व्यभिचरित नहीं होते। अतएव उनकी सत्यता सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् मनु ने यह धर्म का लक्षण कहा है–

'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥'(२ । १)

और धर्मशब्द से यहां छः प्रकार का धर्म लिया गया है। (१) वर्णधर्म (२) आश्रमधर्म (३) वर्णाश्रमधर्म (४) गुणधर्म=शास्त्रोक्त अभिषेक आदि गुणों से युक्त राजा का प्रजापालन (५) निमित्तधर्म=प्रायश्चित्त और (६) साधारण धर्म=धृति आदि दश (मनु० ६ अ० ९२ श्लो०) अथवा संक्षेप से अहिंसा आदि पांच (मनु० १० अ० ६३ श्लो०)

और सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के यज्ञ, अध्ययन, दान ये तीन स्कन्ध कहे हैं।

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।'

धर्म के बारे में मनुस्मृति में यह कहा है–

'यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥'

(२ अ० ७ श्लो०)

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत्॥'
(८ अ० १५ श्लो०)

धर्मके स्थान।

भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥'

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और शिक्षा; कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चौदह; विद्या तथा धर्मके स्थान हैं।

वेदआदि प्रमाणग्रन्थों का विचार।

वेद।

मन्त्र और ब्राह्मण यह दोनों भाग मिलकर वेद कहलाता है। आपस्तम्ब-मुनि ने यही वेद का लक्षण कियाहै- 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।' और यही अभिप्राय अन्यान्य-मुनियों का भी है। वही कर्मसम्बन्धी अर्थ के बोधक मन्त्र और बाकी के ब्राह्मण कहलाते हैं, यह बात जैमिनि मुनिने मीमांसादर्शन में कही है- 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। शेषे ब्राह्मणशब्दः।' उसका आशय आचार्यों ने यह कहा है कि वेदमें जितने भाग का मन्त्र नाम से व्यवहार होता आया है वह मन्त्रभाग और बाकी ब्राह्मणभाग है।

वेदके भेद।

वेद चार प्रकार का है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। पहले तीन वेदों का नाम ऋक् आदि तीन प्रकार

की रचना के अनुरोध से हुआ और चौथे अथर्व-वेद का नाम अध्ययन के कारण से हुआ। आशय यह है कि जहांपर छन्दके वश पाद की व्यवस्था की जाय वह ऋक्; जहां गान के अनुकूल व्यवस्था हो वह साम; और जहां छन्द तथा गानसे अतिरिक्त गद्यभाग हो वह यजु कहलाता है। यह ऋक्, साम तथा यजु का लक्षण जैमिनि-मुनि ने कहाहै- 'ऋग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः।' और इसी कारण से उक्त तीन वेद ऋग्वेद आदि के नाम से कहे जाते हैं। और ब्रह्मा जीने जिन मन्त्र-ब्राह्मणों को अपने पुत्र अथर्वा नामक ऋषि को पढ़ाया उनका संग्रह अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह बात मुण्डकोपनिषद् में कही है।

'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥'

उक्त चारों वेदोंके मन्त्रभाग, जो संहिता[1] वा मन्त्रसंहिता नाम से प्रसिद्ध हैं; उनमें और उनके ब्राह्मणभाग में जो ज्ञानकाण्ड है वह उपनिषद् कहलाता है। सुप्रसिद्ध चारों वेदों की मन्त्रसंहिताओं में से केवल यजुर्वेदही की मन्त्रसंहिता का अन्तिम चालीसवां अध्याय ईशावास्यनामक उपनिषद् है, बाकी उपनिषद् ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत हैं। और वेद का कोई भाग विशेष आरण्यक नाम से कहाजाता है। वह अरण्य

---

१ ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता और अथर्वसंहिता।

अर्थात् जंगलही में पढ़ने पढ़ाने योग्य है इसलिये आरण्यक कहा गया। यह ऐतरेयारण्यक के भाष्यारम्भ में लिखाहै—

'ऐतरेयब्राह्मणेऽस्ति काण्डमारण्यकाभिधम्।
अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते॥'

और ब्राह्मण-भागके अन्तर्गत एक तापिनी नामक विभाग है जिसमें विशेषतः उपासना की चर्चा की गई है।

१। ऋग्वेद के शाखाभेद।

ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएं थीं यह व्याकरण महाभाष्य के पहले आह्निक में लिखा है। वेद का अध्ययन अध्यापन के कारण जो पाठभेद होगया है वही शाखाभेद है। और वह पाठभेद कालवश न्यूनाधिकरूप से वर्तमान होकर शाखाभेद का प्रवर्तक हुआ। शौनक ऋषिकृत प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थसे ऋग्वेद की ये पांच शाखा ज्ञात होती हैं—शाकल, वास्कल, आश्वलायन, शाङ्खायन और माण्डूक। और विष्णुपुराण से शाकलों के ये पांच शाखाभेद प्राप्त होते हैं—मुद्गल, गोकुल, वात्स्य, शैशिर और शिशिर।

शौनक का वचन—

'ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम्॥
शाङ्खाश्वलायनौ चैव माण्डूको वास्कलस्तथा।
बह्वृचा ऋषयः सर्वे पञ्चैत एकवेदिनः॥'

विष्णुपुराण का वचन—

'मुद्गलो गोकुलो वात्स्यः शैशिरः शिशिरस्तथा।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः॥'

इसी प्रकार ऐतरेयी, कौपीतकी, पैङ्गी आदि कितने एक शाखाभेद ग्रन्थान्तरों से और प्राप्त होते हैं । ऋग्वेदकी शाकल-संहिता और ऐतरेय तथा कौपीतक ये दो ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध हैं।

२। यजुर्वेद के शाखाभेद ।

यजुर्वेद कृष्ण और शुक्लभेद से दो प्रकार का है जिसका कारण आगे लिखा जायगा। यजुर्वेद की एकसौ एक शाखाएं थीं यह व्याकरण महाभाष्य के पहले आह्निक में लिखा है। कृष्णयजुर्वेद के बारह शाखाभेद प्राप्त होते हैं—चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्य कठ, कापिष्ठलकठ, चारायणीय, वारतन्तवीय, श्वेत, श्वेततर, औपमन्यव, पात्यण्डिनेय और मैत्रायणीय। और मैत्रायणीयों के छः शाखाभेद उपलब्ध होते हैं—मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय, हारिद्रवीय और श्यामायनीय। और चरकविशेष तैत्तिरीयों के दो शाखाभेद प्राप्त होते हैं—औखीय और खाण्डिकीय। खाण्डिकीयों के पांच शाखाभेद मिलते हैं—आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्यापाढ़ी, हिरण्यकेशी और शास्यायनी।

कृष्णयजुर्वेद की कृष्ण-यजुःसंहिता, तैत्तिरीय-ब्राह्मण और तैत्तिरीय-आरण्यक सांप्रत में प्रचरित हैं।

शुक्लयजुर्वेद के पंद्रह शाखाभेद हैं—काण्व, माध्यंदिन, जाबाल, बुधेय, शाकेय, तापनीय, कपोल, पौण्ड्र, वत्स, आवटिक, परमावटिक, पाराशरीय, वैनेय, वैधेय, औधेय और गालव। ये सब शाखा—प्रवर्तक वाजसनेय याज्ञवल्क्य के शिष्य होने के कारण वाजसनेयी कहलाते हैं।[1]

---

१ वाजसनेरपत्यं वाजसनेयः=वाजसनिका संतान वाजसनेय।

शुक्लयजुर्वेद की माध्यंदिनीय-संहिता और शतपथ ब्राह्मण, प्रसिद्ध है । संहितान्तर्गत ईशावास्य, ब्राह्मणान्तर्गत बृहदारण्यक ये दो उपनिषद् प्रसिद्ध हैं । भगवान् याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय में लिखा है कि मैंने जो सूर्य से आरण्यक पाया वह आत्मज्ञानार्थ विचारने योग्य है ।

'ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्' (११० श्लो०)

यजुर्वेद के शुक्लत्व में यह कारण है-

व्यास के शिष्य वैशंपायन ने याज्ञवल्क्य आदि अपने शिष्यों को यजुर्वेद पढ़ाया । एक समय किसी कारण से क्रुद्ध हो वैशंपायन ने याज्ञवल्क्य से कहा कि तुम हमारे से जो पढ़ा है उसको वापस करदो । तब याज्ञवल्क्य ने पढ़ी हुई विद्याको योगबल से मूर्तिमती बनाकर उगल दिया । उगली हुई (अङ्गार के समान) यजुर्विद्या को वैशंपायन की आज्ञा से अन्य शिष्यगण तित्तिर बनकर चुनलिया । तबसे वे यजुर्मन्त्र उगल देनेके कारण कृष्णयजु और उनको चुननेवाले शिष्यगण तैत्तिरीय कहाये । बाद विद्यावियोग से दुःखित याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना से जो दूसरे यजुर्मन्त्र पाये उनकी शुक्लयजुः संज्ञा पड़ी । योगीश्वर-याज्ञवल्क्य ने शुक्लयजुर्वेद को उक्त कण्व, मध्यंदिन आदि पंद्रह शिष्यों को पढ़ाया ।

३ । सामवेद के शाखाभेद ।

सामवेद की हजार शाखा थीं यह व्याकरण-महाभाष्यमें लिखा है । उनमें से ये शाखाभेद ज्ञात हैं-राणायनीय,

---

१ योग की शक्ति जानने के लिये पातञ्जलदर्शन का विभूतिपाद देखो ।

२ यह वृत्त शुक्लयजुर्वेद के भाष्यारम्भ में लिखा है ।

शाट्यमुग्र, कापोल, महाकापोल, लाङ्गलिक, शार्दूल और कौथुम । कौथुमों के ये शाखाभेद हैं–आसुरायण, वातायन, प्राञ्ज, वैनधृत, प्राचीनयोग्य और नैतेय ।

छन्द, आरण्य, माहानाम्न और उत्तर–ये चार आर्चिक ग्रन्थ । स्तोभग्रन्थ एक । गेय, आरण्य, ऊह और ऊह्य ये चार प्रधान ग्रन्थ । माहानाम्न, भारण्ड, तवश्यायनीय और गायत्र–ये चार परिशिष्टग्रन्थ । इस प्रकार आठ ग्रन्थ गान के और छन्द आदि पांच ग्रन्थ पहले के मिलकर तेरह ग्रन्थ संहिता नाम से कहेजाते हैं ।

ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद् और वंश, ये आठ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं । इनका साधारण नाम छान्दोग्य ब्राह्मण है ।

४ । अथर्ववेद के शाखाभेद ।

अथर्ववेद की नौ शाखा थीं यह व्याकरण-महाभाष्य में लिखा है । वे ये हैं–पैप्पलाद, शौनकीय, दामोद, तोतायन, जायन, ब्रह्मपलाश, कुनखी, देवदर्शी और चारणविद्य ।

अथर्ववेद की शौनकसंहिता और गोपथब्राह्मण प्रसिद्ध हैं ।

वेदों के षडङ्ग ।

वेदों के शिक्षाआदि छः अङ्ग हैं । जैसे अङ्ग अङ्गी के उपकारक होते हैं इसी प्रकार वेद के शिक्षा आदि उपकारक होने से अङ्ग कहलाते हैं ।

१ । शिक्षा ।

सर्वसाधारण पाणिनीय-शिक्षा है । और याज्ञवल्क्य

शिक्षा, कात्यायन शिक्षा, वशिष्ठ शिक्षा आदि अनेक शिक्षा-ग्रन्थ हैं ।

२ । कल्प ।

वेदोक्त कर्मों का यथावत् कल्पना जिसमें हो वह कल्प कहलाता है । कल्प दो प्रकार का है-एक श्रौतकल्प, दूसरा स्मार्तकल्प । ये दोनों ग्रन्थ वेदभेद अथवा शाखाभेद से भिन्न भिन्न हैं । श्रौतकल्प श्रौतसूत्र नाम से और स्मार्तकल्प स्मार्तसूत्र नाम से अथवा गृह्यसूत्र नाम से कहा जाता है ।

३ । व्याकरण ।

वार्तिककार-कात्यायन और भाष्यकार पतञ्जलि द्वारा उन्नत पाणिनीय (पाणिनिप्रोक्त अष्टाध्यायी) व्याकरण । और वैदिक शब्दानुशासन के उपयोगी प्रातिशाख्य ग्रन्थ ।

४ । निरुक्त ।

वेदार्थ के ज्ञान में अत्यन्त उपकारी यास्कमुनि कृत-निरुक्त । जिसके नैघण्टुक, नैगम और दैवत संज्ञक तीन काण्ड हैं ।

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा ।
तृतीयं दैवतं चेति समाम्नायस्त्रिधा मतः ॥'

५ । छन्द ।

पिङ्गल-मुनिप्रणीत छन्द, जो वैदिक तथा लौकिक भेदसे दो प्रकार का है ।

६ । ज्योतिष ।

ज्योतिष, सूर्य आदि देवता तथा ऋषियों का बनाया हुआ । जिसके सिद्धान्त, संहिता और होरा नामक तीन विशाल स्कन्ध हैं। ज्योतिःशास्त्र के कर्ताओं के नाम कश्यप ने अपनी संहिता में यों लिखे हैं—

'सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रिः पराशरः ।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः ॥
लोमशः (रोमशः) पुलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः ।
शौनकोऽष्टादशैवेते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः ॥'

अङ्गों की कल्पना ।

वेद और वेदाङ्गों का जिस क्रम से उल्लेख किया गया है वह अथर्ववेदीय–मुण्डकोपनिषद् के अनुसार है। और रूपक के अनुसार शब्दब्रह्म–वेद को पुरुषकल्पना करके उसके उपकारक शिक्षा आदि छः अङ्ग नासिका आदि अवयव (अङ्ग) कल्पना किये गये हैं । जैसा—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ॥'

शिक्षा आदि छः अङ्गों की वेदोपकारकता सूर्यसिद्धान्त-समीक्षा[१] में यों दिखलाई है—

'स च यथा शिक्षया शिक्ष्यते स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रक्रियया समुपदिश्यते, व्याकरणेन व्याक्रियते तत्तच्छब्दार्थान्वाख्यानेन व्युत्पाद्यते, निरुक्तेन निरुच्यते पदपदार्थनिर्धारणेन निरूप्यते, छन्दसा छाद्यते त्रयीत्वव्यपदेशबीजेन पद्यगद्यगानरूपेण ऋग्यजुः-

१—यह ग्रन्थ उक्त द्विवेदी जी का बनाया है ।

सामवन्धेन बध्यते, कल्पेन कल्प्यते कर्मकाण्डानुपूर्व्या संपाद्यते, तथैव ज्योतिषेण द्योत्यते प्रकृतिविकृत्युभयानुभयात्मनां यज्ञाना-मनुष्ठानकालादेशेन प्रकाश्यते । '

वेदों के चार उपाङ्ग ।

वेद, वेदाङ्ग के समान वेदों के उपाङ्ग की नियत गणना नहीं है उसका क्रम भिन्न भिन्न प्राप्त होता है । याज्ञवल्क्योक्त क्रम पहले लिखा जा चुका है और यह दूसरा क्रम है—

'अथ चत्वार्युपाङ्गानि वेदानां संप्रचक्षते ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसान्यायविस्तरः ॥'

ऐसी दशा में नाम क्रम की एकता नहीं हो सकती और यहांपर मीमांसा से पूर्व तथा उत्तरमीमांसा का ग्रहण किया जाता है न्याय से वैशेषिक का ग्रहण हो सकैगा; परंतु सांख्य और योग का भी ग्रहण करना उचित है क्योंकि वह भी न्याय आदि के समान आस्तिक-दर्शन है तो पुराण से सांख्य-योग का ग्रहण हो सकेगा । अथवा वैशेषिक-न्याय, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा, यह दार्शनिक विभाग स्वतन्त्र है और यही षट्शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है ।

षट्शास्त्रों का संग्राहक श्लोक ।

'न्यायवैशेषिके पूर्वं सांख्ययोगौ ततः परम् ।
मीमांसाद्वितयं पश्चादित्याहुर्दर्शनानि षट् ॥'

१। न्यायविस्तर । प्रमाणों से अर्थपरीक्षा के लिये शास्त्र । वह दो प्रकार का । एक न्याय दूसरा वैशेषिक । प्रमाणादि षोडश-पदार्थवादी पञ्चाध्यायी गौतम मुनिकृत न्यायशास्त्र ।

द्रव्यादि सप्तपदार्थवादी दशाध्यायी कणाद मुनिकृत वैशेषिकशास्त्र । इन दोनों का साधारणनाम 'आन्वीक्षिकी' है । न्यायभाष्य के आरम्भ में वात्स्यायन मुनिने लिखा है कि—

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तितः ॥'

और भगवान् मनु ने भी बारहवें अध्याय के १०५-१०६ श्लोकों में उक्तविद्या की प्रशंसा की है ।

कपिल मुनिकृत षडध्यायी सांख्यशास्त्र और पतञ्जलि मुनिकृत चतुष्पादी योगशास्त्र कहलाता है । सांख्ययोग की महिमा श्वेताश्वतरोपनिषद् में यों कही है—

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥'

२ । मीमांसा । वेद के वाक्यार्थों का बोधक शास्त्र । मीमांसा दो प्रकार की । एक पूर्वमीमांसा दूसरी उत्तरमीमांसा (वेदान्त शास्त्र; वा वेदान्तदर्शन) पूर्वमीमांसा जैमिनि मुनिकृत बारह अध्याय । उत्तरमीमांसा व्यास मुनिकृत चार अध्याय । पहली में कर्म का दूसरी में ज्ञान का विचार है । पाराशरोपपुराण में उक्त छः दर्शनों में से पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा की सर्वांश में प्रशंसा की है । जैसा—

'अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः ।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः ॥

जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन ।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ ॥'

उत्तरमीमांसा और अद्वैतवाद ।

उत्तरमीमांसा के द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत वाद का आलम्बन करके चार प्रकार के भाष्य बनाडाले गये हैं । इन्हीं के बनानेवाले चतुःप्रस्थानी वैष्णव कहलाये जिससे आज चार संप्रदाय परस्पर विरुद्ध चल रहे हैं । इन संप्रदायों में विशिष्टाद्वैत-संप्रदाय सब से प्राचीन मालूम होता है जिसका स्थापनकाल विक्रमकी बारहवीं शताब्दी है । संप्रदायों के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

' रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः ।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः ॥ '

उक्त द्वैत आदि चार वादों के अनुसारी उत्तरमीमांसा के भाष्य वेदादिविरुद्ध हैं अर्थात् अपने अपने संप्रदाय की पुष्टि के लिये श्रुति-स्मृतियों के आशयों को पलट कर वे सब भाष्य बनाये गये हैं ।

वेद-तथा वेदव्याससम्मत अर्थ को प्रकाश करनेवाला उत्तर-मीमांसा का ' शारीरक ' नामक भाष्य है, जिसके बनाने वाले वेदव्यास के वचनानुसारी और वेदव्यास ही के शिष्य परम्परा में परिगणित आचार्य-श्री ६ शङ्कर स्वामी हैं ।

वेदव्यास ने कूर्मपुराण के तीसवें अध्याय में कहा है—

' कलौ रुद्रो महादेवो लोकानामीश्वरः परः ।
करिष्यत्यवतारं स्वं शङ्करो नीललोहितः ॥
श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ।

उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंमितम् ॥
'सर्ववेदान्तसारं च धर्मान् वेद निदर्शनान् ॥' इति ।

और ये शिष्यपरम्परावोधक श्लोक हैं—

'नारायणं पद्मभुवं वशिष्ठं
शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं
गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्म-
पादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं तोटकं वार्तिककारमन्या-
नस्मद्गुरून् संततमानतोऽस्मि ॥' इति ।

और दादूपन्थी विद्वच्छिरोमणि निश्चलदास ने अपने विचारसागर के पांचवें तरंग में लिखा है—

'चारि यार मध्वादिक जे हैं
वेदविरुद्ध कहत सब ते हैं ।
यामें व्यासवचन सुनि लीजे
शंकर मतहि प्रमान करीजे ॥
कलिमें वेद अर्थ बहु करिहैं
श्रीशंकर शिव तब अवतरिहैं ।
जैन बुद्ध मत मूल उखारै
गंगा ते प्रभु मूर्ति निकारै ॥
जैसे भानु उदय उजियारो
दूरि करै जग में अंधियारो ।
सब वस्तुहिं ज्योंको त्यों भासै
संशै और विपर्यय नासै ॥

वेद अर्थ में त्यों अज्ञाना ।
नशिहै श्रीशंकर व्याख्याना ॥
करिहैं ते उपदेश यथारथ ।
नाशहि संशय अरु अयथारथ ॥
और जु वेद अर्थ को करिहैं ।
ते सब वृथा परिश्रम धरिहैं ॥
यों पुरान में व्यास कही है ।
शंकर मत में मान यही है ॥
मध्वादिक को मत न प्रमानी ।
यह हम व्यासवचन तें जानी ॥
और प्रमान कहौं सो सुनिये ।
वाल्मीकि ऋषि मुख्य जु गिनिये ॥
तिन मुनि कियो ग्रन्थ वाशिष्टा ।
तामें मत अद्वैत स्पष्टा ॥
श्रीशंकर अद्वैतहि मान्यो ।
तिनको मत यह हेतु प्रमान्यो ॥
वाल्मीकि ऋषि वचन विरुद्धं ।
भेद वाद लखि सकल अशुद्धम् ॥'

इत्यादि ।

---

१ । आदिकवि-वाल्मीकि ऋषि ने उत्तर रामायण वासिष्ठ नाम ग्रन्थ बनाया है, वहां अद्वैत मत में प्रधान जो दृष्टि सृष्टिवाद है उसको अनेक इतिहासों से प्रतिपादन किया है, इसलिये वाल्मीकिवचन के अनुसार भी अद्वैतमत प्रमाण है और वाल्मीकिवचनाविरुद्ध भेदवाद अप्रमाण है ।

२ । और खण्डनखण्डखाद्य तथा भेदधिक्कार आदि ग्रन्थों में अनेक युक्ति से भेदवाद का खण्डन है । किं बहुना, वेदानुसार विष्णु शिव शक्ति आदि किसी ब्रह्मविभूति के उपासक क्यों न हों उन सब को अद्वैतमत इष्ट है । अतएव वैष्णवशिरोमणि तुलसीदास ने यह कहा है—

' यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः । '

इत्यादि ।

परमार्थ-दशा में अद्वैत वाद ही मान्य है, जिसके विषय में नानाविध श्रुति-स्मृति-पुराण वचन प्रमाण हैं जिनमें से कुछ वाक्य लिखते हैं—

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'

इत्यादि—श्रुति ।

'अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति ।
ब्रह्मभूतः स एवेह दक्षपक्ष उदाहृतः ॥'
'सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यशुद्धचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः ॥'

इत्यादि—स्मृति ।

उक्त विषय का उल्लेख ब्राह्मपुराण में इस प्रकार किया है—

'धर्माधर्मौ जन्ममृत्यू सुखदुःखेषु कल्पना ।
वर्णाश्रमास्तथा वासः स्वर्गो नरक एव च ॥
पुरुषस्य न सन्त्येते परमार्थस्य कुत्रचित् ।
दृश्यते च जगद्रूपमसत्यं सत्यवन्मृषा ॥
तोयवन्मृगतृष्णा तु यथा मरुमरीचिका ।
रौप्यवत्कीकसंभूतं कीकसं शुक्तिरेव च ॥
सर्पवद्रज्जुखण्डश्च निशायां वेश्ममध्यगः ।
एक एवेन्दुर्द्वौ व्योम्नि तिमिराहतचक्षुषः ॥
आकाशस्य घनीभावो नीलत्वं स्निग्धता तथा ।
एकश्च सूर्यो बहुधा जलाधारेषु दृश्यते ॥
आभाति परमात्मापि सर्वोपाधिषु संस्थितः ।
द्वैतभ्रान्तिरविद्याख्या विकल्पो न च तत्तथा ॥
यत्र अन्धागारः स्यात्तेषामात्माभिमानिनाम् ।

आत्मभावनया भ्रान्त्या देहं भावयतः सदा ॥
आमङ्गैरादिमध्यान्तैर्भ्रमभूतैस्त्रिभिः सदा ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तैस्तुच्छादितं विश्वतैजसम् ॥
स्वमायया स्वमात्मानं मोहयेद्द्वैतरूपया ।
गुहागतं स्वमात्मानं लभते च स्वयं हरिम् ॥
व्योम्नि वज्रानलज्वालाकलापो विविधाकृतिः ।
आभाति विष्णोः सृष्टिश्च स्वभावो द्वैतविस्तरः ॥
शान्ते मनसि शान्तश्च घोरे मूढे च तादृशः ।
ईश्वरो दृश्यते नित्यं सर्वत्र ननु तत्त्वतः ॥
लोहमृत्पिण्डहेम्नां च विकारो न च विद्यते ।
चराचराणां भूतानां द्वैतता न च सत्यतः ॥
सर्वगे तु निराधारे चैतन्यात्मनि संस्थिता ।
अविद्या द्विगुणां सृष्टिं करोत्यात्मावलम्बनात् ॥
सर्पस्य रज्जुता नास्ति नास्ति रज्जौ भुजङ्गता ।
उत्पत्तिनाशयोर्नास्ति कारणं जगतोऽपि च ॥
लोकानां व्यवहारार्थमविद्येयं विनिर्मिता ।
एषा विमोहिनीत्युक्ता द्वैताद्वैतस्वरूपिणी ॥
अद्वैतं भावयेद् ब्रह्म सकलं निष्कलं सदा ।
आत्मज्ञशोकसंतीर्णो न बिभेति कुतश्चन ॥
मृत्योः सकाशान्मरणादथवान्यकृताद्भयात् ।
न जायते न म्रियते न वध्यो न च घातकः ॥
न बद्धो बन्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः ।
पुरुषः परमात्मा तु यदतोऽन्यदसच्च तत् ॥
एवं बुद्ध्वा जगद्रूपं विष्णोर्मायाम्
भोगात्सङ्गाद्भवेन्मुक्तस्त्यक्त्वा

त्यक्तसर्वविकल्पश्च स्वात्मस्थं निश्चलं मनः ।
कृत्वा शान्तो भवेद् योगी दग्धेन्धन इवानलः ॥

एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना
मायापरा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ भयं च
विषादशोकौ च विकल्पजालम् ॥
धर्माधर्मौ सुखदुःखे च सृष्टि-
विनाशपाकौ नरके गतिश्च ।
वासः स्वर्गे जातयश्चाश्रमाश्च
रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च ॥
कौमारतारुण्यजरावियोग-
संयोगभोगानशनव्रतानि ।
इतीदमीहग्घृदयं निधाय
तूष्णीमासीनः सुमतिं विविद्धि ॥'

और इसी प्रकार श्रीविष्णुधर्म में कहा है—

'अनादिसंबन्धवत्या क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया ।
युक्तः पश्यति भेदेन ब्रह्मतत्त्वात्मनि स्थितम् ॥
पश्यत्यात्मानमन्यच्च यावद्वै परमात्मनः ।
तावत्संभ्राम्यते जन्तुर्मोहितो निजकर्मणा ॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु परंब्रह्म प्रपश्यति ।
अभेदेनात्मनः शुद्धं शुद्धत्वादक्षयो भवेत् ॥
अविद्या च क्रियाः सर्वा विद्या ज्ञानं प्रचक्षते ।
[illegible] जायते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ॥
द्वैतभ्रान्ति[illegible]तं तद्भिन्न उच्यते ।
परत्र बन्धागारः [illegible]वैव नृप नारकम् ॥

चतुर्विधोऽपि भेदोयं मिथ्याज्ञाननिबन्धनः ।
अहमन्योऽपरश्चायममी चात्र तथापरे ॥
अज्ञानमेतद् द्वैताख्यमद्वैतं श्रूयतां परम् ।
मम त्वहमिति मज्ञाविमुक्तमविकल्पवत् ॥
अविकार्यमनाख्येयमद्वैतमनुभूयते ।
मनोवृत्तिमयं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥
मनसो वृत्तयस्तस्माद्धर्माधर्मनिमित्तजाः ।
निरोद्धव्यास्तन्निरोधे द्वैतं नैवोपपद्यते ॥
मनोदृष्टमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावेऽद्वैतभावं तदाप्नुयात् ॥
कर्मणां भावना येयं सा ब्रह्मपरिपन्थिनी ।
कर्मभावनया तुल्यं विज्ञानमुपजायते ॥
तद्दा भवति विज्ञप्तिर्यादृशी खलु भावना ।
क्षये तस्याः परब्रह्म स्वयमेव प्रकाशते ॥
परात्मनो मनुष्येन्द्र विभागो ज्ञानकल्पितः ।
क्षये तस्यात्मपरयोरविभागोऽत एव हि ॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञो हि संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव विगतः शुद्धः परमात्मा निगद्यते ॥'

इत्यादि अन्यान्य पुराण वचन हैं ।

पुराण । भगवान् वेदव्यास के निर्मित अठारह पुराण हैं उनके नाम—१ ब्राह्म, २ पाद्म, ३ वैष्णव, ४ शैव, ५ भागवत, ६ भविष्य, ७ नारदीय, ८ मार्कण्डेय [illegible] हाँ है
१० ब्रह्मवैवर्त, ११ लैङ्ग, १२ वाराह [illegible] राक्यः । [illegible] वचनानुसार
१५ कौर्म, १६ मात्स्य, १७ गारु [illegible] क्षादयस्तत [illegible] मनु, २ अङ्गिरा,

'ब्राह्मं पुराणं प्रथमं द्वितीयं पाद्ममुच्यते ।
तृतीयं वैष्णवं प्रोक्तं चतुर्थं शैवमुच्यते ॥
ततो भागवतं प्रोक्तं भविष्याख्यं ततः परम् ।
सप्तमं नारदीयं च मार्कण्डेयं तथाष्टमम् ॥
आग्नेयं नवमं पश्चाद् ब्रह्मवैवर्तमेव च ।
ततो लैङ्गं वराहं च ततः स्कान्दमनुत्तमम् ॥
वामनाख्यं ततः कौर्मं मात्स्यं तत्परमुच्यते ।
गरुडाख्यं ततः प्रोक्तं ब्रह्माण्डं तत्परं विदुः ॥
ग्रन्थतश्च चतुर्लक्षं पुराणं मुनिपुङ्गवाः ।
अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः ॥'

सूतसंहिता ।

उपपुराण । मुनियों के बनाये उपपुराण हैं उनके नाम—१ सनत्कुमारपुराण, २ नारसिंह, ३ नान्दपुराण, ४ शिवधर्म, ५ दौर्वासस, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ मानव, ९ औशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वारुण, १२ कालीपुराण, १३ वासिष्ठलैङ्ग, १४ माहेश्वर, १५ साम्ब, १६ सौर, १७ पाराशर, १८ मारीच, १९ भार्गव ।

'अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु ।
आद्यं सनत्कुमारेण प्रोक्तं वेदाविदां वराः ॥
द्वितीयं नारसिंहाख्यं तृतीयं नान्दमेव च ।
चतुर्थं शिवधर्माख्यं दौर्वासं पञ्चमं विदुः ॥
षष्ठं तु नारदीयाख्यं कापिलं सप्तमं विदुः ।
[illegible]मानवं प्रोक्तं ततश्चौशनसेरितम् ॥
[illegible]वारुणाख्यं ततः परम् ।
[illegible]वाशिष्ठं मुनिपुङ्गवाः ॥

ततो वासिष्ठलैङ्गाख्यं प्रोक्तं माहेश्वरं परम् ।
ततः साम्बपुराणाख्यं ततः सौरं महाद्भुतम् ॥
पाराशरं ततः प्रोक्तं मारीचाख्यं ततः परम् ।
भार्गवाख्यं ततः प्रोक्तं सर्वधर्मार्थसाधकम् ॥'

सूतसंहिता ।

पुराण और उपपुराण ।

विष्णुपुराण के गणनानुसार भी यही पुराण हैं केवल इतना भेद है—छठा नारदीय, सातवां मार्कण्डेय, आठवां आग्नेय, नववां भविष्य । और देवीभागवत के अनुसार वायुपुराण, पुराणों में शिवपुराण, उपपुराणों में है । प्रमाणवाक्य स्मरण रखने योग्य है—

'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥'

भागवत दो प्रकार के हैं । एक विष्णुभागवत, दूसरा देवीभागवत । इनमें से एक पुराण, दूसरा उपपुराण है; क्योंकि दोनों के पुराण होने में कोई प्रमाण वाक्य नहीं प्राप्त होता । इस दशा में कौन पुराण है ? कौन उपपुराण है ? इस निर्णय के लिये महाभारत का आश्रय लेकर दोनों भागवतों का पूर्वापर देख उनके प्रारम्भिक श्लोकों को देखो और एक को पुराण दूसरे को उपपुराण मान लो ।

सिद्धान्त से जब ब्रह्म के विष्णु-शिव आदि नाम हैं तब पुराण अथवा उपपुराण में कहीं किसी देव के प्रतिपादन से उसका उत्कर्ष वा अपकर्ष नहीं है । और यहां—

'ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः ।
ततो न्यूनाश्च मैत्रेय देवा दक्षादयस्ततः ।

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः ॥'

इत्यादि वचन भी सूक्ष्मदृष्टि से विचारणीय हैं ॥

उपपुराणों के विषय में कौर्म वचन—

'आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् ।
तृतीयं नान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् ॥
कापिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्माण्डं वारुणं चैव कालिकाह्वयमेव च ॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम् ।
पाराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम् ॥'

तथा ब्रह्मवैवर्त्त वचन—

'आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं द्वितीयकम् ।
तृतीयं नारसिंहाख्यं शैवधर्मं चतुर्थकम् ॥
दौर्वासं पञ्चमं षष्ठं कापिलेयमतः परम् ।
सप्तमं मानवं प्रोक्तं शौक्रमष्टममेव च ॥
वारुणं नवमं प्राहुर्ब्रह्माण्डं दशमं स्मृतम् ।
कालीपुराणं च तत एकादशमथुच्यते ॥
वासिष्ठलैङ्गं द्वादशमं माहेशं तु त्रयोदशम् ।
साम्बं चतुर्दशं प्रोक्तं सौरं पञ्चदशं स्मृतम् ॥
पाराशर्यं षोडशमं मारीचं तु ततः परम् ।
अष्टादशं भार्गवाख्यं सर्वधर्मप्रवर्तकम् ॥'

...नसंहिता के अनुसार १६ उपपुराण हैं। कूर्म के अनु-
...उपपुराण हैं उनमें 'वासिष्ठलैङ्ग' की गणना नहीं
...परन्तु ...र्त्त के अनुसार भी १८ उपपुराण हैं उनमें

'नान्द' की गणना नहीं की। देवीभागवत में 'वायुपुराण' पुराणों में परिगणित है, परंतु सूतसंहिता आदि के अनुसार वायुपुराण न तो पुराणों में और न उपपुराणों में है। इसी प्रकार एक 'भागवत' की दशा है। विचार करने से उपपुराणों की संख्या अष्टादशमात्र नहीं है इस कारण उक्त और तादृश अनुक्त उपपुराण ही हैं। और उपपुराणों के अन्तर्गत 'नारदीय' तथा 'ब्रह्माण्ड' भिन्न हैं। उपपुराण पुराणही से निकले हैं यह मात्स्यपुराण में लिखा है—

'पाद्मे पुराणे यत्प्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम्।
तदष्टादशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते॥
नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्णितम्।
नन्दापुराणं तल्लोके नन्दाख्यमिति कीर्तितम्॥
यत्तु साम्बं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम्।
प्रोच्यते तत्पुनर्लोके साम्बमेव मुनिव्रताः॥
एवमादित्यसंज्ञं च तत्रैव परिगद्यते।
अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्तु दृश्यते॥
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्॥'

धर्मशास्त्र वा स्मृति।

४। धर्मशास्त्र। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' इस मनु वचन के अनुसार धर्मशास्त्र का दूसरा नाम स्मृति है। मनु आदि कई एक स्मृतियां अपने अपने कर्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्मृतियों के नामों का क्रम नियत नहीं है वह भिन्न भिन्न प्राप्त होता है। यहां पैठीनसि के वचनानुसार छत्तीस स्मृतियों का उल्लेख करते हैं—१. मनु, २ अङ्गिरा,

३ व्यास, ४ गौतम, ५ अत्रि, ६ उशना, ७ यम, ८ वशिष्ठ, ९ दक्ष, १० संवर्त, ११ शातातप, १२ पराशर, १३ विष्णु, १४ आपस्तम्ब, १५ हारीत, १६ शङ्ख, १७ कात्यायन, १८ भृगु, १९ प्रचेता, २० नारद, २१ याज्ञवल्क्य, २२ बौधायन, २३ पितामह, २४ सुमन्तु, २५ काश्यप, २६ बभ्रु, २७ पैठीनसि, २८ व्याघ्र, २९ सत्यव्रत, ३० भरद्वाज, ३१ गार्ग्य, ३२ कार्ष्णाजिनि, ३३ जाबालि, ३४ जमदग्नि, ३५ लौगाक्षि और ३६ ब्रह्मगर्भ—स्मृति ।

'तेषां मन्वङ्गिरोव्यासगौतमात्र्युशनोयमाः ।
वशिष्ठदक्षसंवर्तशातातपपराशराः ॥
विष्ण्वापस्तम्बहारीताः शङ्खः कात्यायनो भृगुः ।
प्रचेता नारदो योगी बौधायनपितामहौ ॥
सुमन्तुः कश्यपो बभ्रुः पैठीनो व्याघ्र एव च ।
सत्यव्रतो भरद्वाजो गार्ग्यः कार्ष्णाजिनिस्तथा ॥
जाबालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्ब्रह्मसंभवः ।
इति धर्मप्रणेतारः षट्त्रिंशदृषयस्तथा ॥'

पैठीनसिस्मृति ।

याज्ञवल्क्य ने जो बीस स्मृतिकर्ताओं का नाम क्रम लिखा है वह पैठीनसि लिखितक्रम से निराला है और याज्ञवल्क्योक्त स्मृतिकर्ताओं में 'बृहस्पति' तथा 'लिखित' के नाम हैं वे दोनों पैठीनसि के वाक्य में नहीं हैं उनको लेने से ३८ स्मृति हुईं ।

'मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥

पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥'

याज्ञवल्क्यस्मृति।

प्रयोगपारिजात में स्मृतिकर्ताओंका नामक्रम पैठीनसि तथा याज्ञवल्क्य लिखित नाम क्रम से निराला है और अठारह स्मृति तथा अठारह उपस्मृति का विभाग करके इकीस स्मृति-कारों के नाम और लिखे हैं, जिनमें १ नाचिकेत, २ स्कन्द, ३ काश्यप, ४ सनत्कुमार, ५ शंतनु, ६ जनक, ७ जातूकर्ण्य, ८ कपिञ्जल, ९ कणाद, १० विश्वामित्र, ११ गोभिल, १२ देवल, १३ पुलस्त्य, १४ पुलह, १५ क्रतु, १६ आग्नेय, १७ गवेय, १८ मरीचि, १९ वत्स, २० पारस्कर, २१ ऋष्यशृङ्ग और २२ वैजावाप ये बाईस नाम अधिक हैं इनको पहले लिखी ३८ स्मृतियों में मिलाने से ६० स्मृति हुईं।

'मनुर्बृहस्पतिर्दक्षो गौतमोथ यमोङ्गिराः।
योगीश्वरः प्रचेताश्च शातातपपराशरौ॥
संवर्तोशनसौ शङ्खलिखितावत्रिरेव च।
विष्णवापस्तम्बहारीता धर्मशास्त्रप्रवर्तकाः॥
एते ह्यष्टादश प्रोक्ता मुनयो नियतव्रताः।
जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकाश्यपौ॥
व्यासः सनत्कुमारश्च शंतनुर्जनकस्तथा।
व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातूकर्ण्यः कपिञ्जलः॥
बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च।
पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः॥
वशिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः।
विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः॥

जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च ॥
पारस्करश्चर्ष्यशृंगो वैजावापस्तथैव च ।
इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः ॥'

प्रयोगपारिजात ।

कल्पतरु से १ बुध, २ सोम, ३ छागलेय, ४ जाबाल और ५ च्यवन ये पांच नाम और ज्ञात होते हैं । इनको ६०में मिलाने से ६५ स्मृति हुई। साधुचरणप्रसाद—महोदयसंगृहीत धर्मशास्त्रसंग्रह से १ आश्वलायन, २ मार्कण्डेय, ३ शौनक, ४ कण्व, ५ उपमन्यु, ६ शाण्डिल्य ये छः स्मृतियां और प्राप्त होती हैं। इनको मिलाने से ७१ एकहत्तर स्मृति हुई ॥

वृद्ध आदिपद—विशिष्टस्मृति ।

वृद्ध मनु, वृद्ध याज्ञवल्क्य, वृद्ध वशिष्ठ और वृद्ध॰ सातातप; इस प्रकार कतिपय स्मृतिकारों के नाम वृद्धपद विशिष्ट प्राप्त होते हैं। बृहद्विष्णुस्मृति, बृहद्यमस्मृति, बृहत्पाराशरीय धर्मशास्त्र; इस प्रकार कई एक स्मृति बृहत्पदविशिष्ट मिलती हैं। तथा लघुहारीतस्मृति, लघुशंखस्मृति; एवं कोई कोई स्मृति लघुपद विशिष्ट प्राप्त होती हैं। साधुचरणप्रसाद संगृहीत धर्मशास्त्रसंग्रह से द्विविध आङ्गिरसस्मृति, द्विविध शातातपस्मृति, द्विविध देवलस्मृति, त्रिविध औशनसस्मृति उपलब्ध होती हैं। इनके भी कर्ता वही वही ऋषि-मुनि माने जाते हैं और ग्रन्थसंख्या के बृहत् तथा लघु होने के कारण ग्रन्थकर्ता वा ग्रन्थ बृहत्-लघुपद से अङ्कित हुए, वा वृद्ध पद ऋषि-मुनि के नाम में गौरव के लिये लगाया गया, इसी प्रकार योगिपद। जैसा—योगि-याज्ञवल्क्य ।

वर्णाश्रमधर्मविचार, शास्त्रप्रकोप और परीक्षा।

भगवान् मनु ने कहा है कि—

'अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥'

अर्थ और काम में असक्तों (अलोलुपों) के लिये धर्मोपदेश है और धर्म खोजनेवालों को धर्मनिर्णयार्थ श्रुति (वेद) ही सर्वोपरि प्रमाण है। वेद का प्रतिपाद्य कर्म, उपासना और ज्ञान है। यद्यपि वेदार्थ, ऋग्-यजुः-साम भेद से तथा शाखाभेद से अपरिच्छिन्न है; तौभी भगवान् जैमिनि और भगवान् वेदव्यास के निरूपित सूत्रों से वह परिच्छिन्न हो गया है। भलेही कालवश से वेदशाखाओं का लोप हो जाय परंतु उक्त सूत्रों से वेद-रहस्य रक्षित हो रहा है; इस कारण वर्तमान काल में भी अधिकारी के लिये अभ्युदय-निःश्रेयस (भुक्ति-मुक्ति) का द्वार खुला है। इससे स्पष्ट है कि श्रौत तथा स्मार्त वाङ्मयमात्र का रहस्य पूर्वोत्तरमीमांसा है और उनके कर्ता जैमिनि-व्यास वेदपारदृश्वा हैं। इस विषय में पाराशरीय प्रमाणवचन पहिले लिखा जा चुका है।

वेद के शब्द और अर्थ-ये दो शरीर हैं। उसमें शब्द-शरीर की रक्षा-शिक्षा-व्याकरण-निरुक्त और छन्द से है, अर्थ-शरीर की रक्षा ज्योतिष कल्पसूत्र और उपाङ्ग से है। इस प्रकार ऋग्-यजुः-सामरूप वेद के शब्दार्थरूप शरीर के अङ्ग तथा उपाङ्ग सहायक हैं। अङ्ग-उपाङ्ग कहने से यह अभिप्राय नहीं है कि जैसे लोक में अङ्गोपाङ्ग का समुदायरूप अङ्गी है, वा अङ्गोपाङ्ग के नाश होजाने से अङ्गी नष्ट होजाता है; किंतु वेद

के अङ्गोपाङ्ग, वेद के शब्दार्थरूप शरीर के परिचायक-प्रदर्शक-बोधक माने जाते हैं । जैसे किसी पाव्य के देवदत्तआदि बोधक हैं; किंवा किसी दृश्य के सौर आदि प्रकाशप्रकाशक हैं। और जैसे देवदत्त के अभाव में यज्ञदत्त आदि तथा सौर प्रकाश के अभाव में आग्नेय-प्रकाश आदि कार्य के साधक हैं, वैसेही कालवश अङ्गोपाङ्ग के नष्ट हो जाने पर दूसरे अङ्गोपाङ्ग वेद के सहायक होते हैं । इससे स्पष्ट है कि अङ्गोपाङ्ग के अधिकार नित्य हैं और वे स्वरूप से अनित्य हैं और वेद तो स्वरूप से भी नित्य है । इसीलिये वेद का नाम श्रुति है 'श्रूयते गुरुपरम्परया, न तु केनचित् क्रियते इति श्रुतिः' जो गुरुपरम्परा से सुनी जावै और बनाई न जावै वह श्रुति है। और अङ्गोपाङ्ग का साधारण नाम स्मृति है 'स्मर्यते इति स्मृतिः' जो वेदार्थानुकूल स्मरण की जावै वह स्मृति है। स्मरण के न्यूनाधिक भाव से ही स्मृतियों के प्रामाण्य में न्यूनाधिक भाव माना गया है इसीलिये बृहस्पति ने कहा है—

'वेदार्थोपनिबन्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥'

वेदार्थ के संकलन करने से मनु का प्राधान्य है और मनुस्मृति से विरुद्ध जो कोई स्मृति है वह प्रशंसनीय नहीं है। यहां यद्यपि मनुस्मृति सजातीय स्मृतियों के लक्ष्य से यह बृहस्पति का वचन है तोभी बलाबल विचार से यथासंभव अङ्ग और उपाङ्ग भर में प्रामाण्य का न्यूनाधिक भाव मानना पड़ता है । और यह स्मरण रहै कि अङ्ग और उपाङ्ग की संज्ञा बलाबल विचार में प्रयोजनीय नहीं है, वह वैदिक शब्दार्थ शरीर के अनुसार की गई है ।

यह अवश्य विज्ञेय है कि शब्द और अर्थ का नित्य संबन्ध है, तथा शब्द का दोष अर्थ में संक्रान्त होता है। अतएव शब्दनिष्ठ स्वर के भेद से अर्थ का भेद हो जाता है। यह बात शिक्षा-निरुक्त लिखित इस मन्त्र से स्पष्ट है। जैसा—

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥'

स्वर अथवा वर्ण से हीन, अतएव दोषग्रस्त होने से मिथ्या उच्चारित, मन्त्र-वाक्य; वास्तविक अर्थ को नहीं कहता है। वह मन्त्ररूप वज्र यजमान को मार देता है। जैसे स्वर के दोष से इन्द्रशत्रु मारा गया। आशय यह है कि पूर्व काल में इन्द्रने त्वष्टा के विश्वरूप नामक पुत्र को मारा, तब त्वष्टा क्रुद्ध होकर इन्द्रको मारनेवाले वृत्र नामक दूसरे पुत्र की कामना से आभिचारिक यज्ञ किया और 'इन्द्र का शत्रु होकर बढ़ो' इस इच्छा से 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस वाक्य का उच्चारण किया। उसमें षष्ठीतत्पुरुष समास के अनुसार अन्तोदात्त का उच्चारण करना था, परंतु प्रमाद से बहुव्रीहि समास के अनुसार आद्युदात्त का उच्चारण हो गया, जिसका विपरीत फल हुआ कि वृत्र को इन्द्रने मारा। अर्थात् 'इन्द्रशत्रुः' इस पद का 'इन्द्रस्य शत्रुः' ऐसा तत्पुरुष समास करने से 'इन्द्र का शत्रु' यह अर्थ होता है; और 'इन्द्रः शत्रुर्यस्य सः' ऐसा बहुव्रीहि करने से 'इन्द्र है शत्रु (मारने वाला) जिसका' यह अर्थ होता है। यह विषय वैयाकरणों में अति प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार–" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म " इत्यादिक श्रुति में विज्ञान-पद में मत्वर्थीय अच्प्रत्यय कल्पना करके 'विज्ञानरूप' ऐसा परम्परा गत अर्थ को न मानकर 'विज्ञानवान्' ऐसा नवीन अर्थ कल्पना करते हैं। अर्थात् विज्ञान-पद से 'विज्ञानवान्' यह अर्थ निकालने के लिये जब 'विज्ञानमस्यास्तीति विज्ञानम्=जिस के विज्ञान है वह विज्ञान=विज्ञानवान्' ऐसी व्याख्या की जाती है तब 'विज्ञान' पद अन्तोदात्त होगा, परंतु 'विज्ञायते यत् तत्=जो जाना जाय' ऐसी परम्परागत व्याख्या से 'विज्ञान' पद स्वरित स्वरान्त है। आशय यह है कि जो गुरुपरम्परा से सस्वर-वेद पढ़े हैं वे लोग 'विज्ञान' पद को स्वरित ही पढ़ते हैं, तब पूर्वयुक्ति से 'विज्ञान' पद को अन्तोदात्त बना डालना कैसा अनर्थ का काम है ? शिव शिव, हरे हरे। एवं साहस करने ही से वेददूषक–ब्रह्मघ्न आदि उपाधि के पात्र बनते हैं।

इसी प्रकार–" कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये " इस सुप्रसिद्ध यजुर्वेदीय-मन्त्र में 'कृष्ण' पद आद्युदात्त पढ़ाजाता है जिससे वहां 'कृष्ण' पद का मृग अर्थ परम्परा प्राप्त है। यदि 'कृष्ण' पद अन्तोदात्त पढ़ा जाय तो वर्णवाची हो जायगा इत्यादि।

इन बातों से साफ जाहिर होता है कि वेदों में थोड़े ही हेरफेर से अर्थ का अनर्थ होजाता है इसी भय से पूर्वकाल में वेद अयातयाम (ताजे) बनारक्खे जाते थे उनके यथार्थ धारण करनेवाले 'ऋषि' तथा 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाते थे और गुरुमुख से यथावत् उनको पढ़नेवाले 'अनूचान' नाम से विख्यात होते थे। मनु ने लिखा है–

'न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥'

बड़ी अवस्था होने से या बार पकने से या धनवान् होनेसे या सुयोग्य बान्धवों से महत्त्व नहीं प्राप्त होता है। ऋषियों ने नियम किया है कि जो अनूचान (साङ्गवेद का अध्येता) है वही हमारे महान् है।

कालवश जब क्षत्रियसम्राट् का अभाव हुआ, वर्णाश्रम की शिक्षाप्रणाली शिथिल होगई, वैदिक शुद्धज्ञान लुप्तप्राय होगया; तभी से वर्णाश्रमव्यवस्था में चलनेवाले मनुष्यों की वृत्तियां बदलगई, नानाप्रकार की धार्मिकशिक्षा चलपड़ीं, ब्राह्मण धर्म-ध्वज बन गये, मनमानी धार्मिक व्यवस्थाएं करने लगे, अपने अपने मतों के पुष्टि के लिये श्रुति स्मृतियों के यथेष्ट व्याख्यान होने लगे, ग्रन्थों में नानाविध वाक्य मिला दिये गये, श्रुति स्मृति के नाम से कितने एक नवीन ग्रन्थ बना डाले गये, यहां तक कि कईएक स्थलों में आर्ष और पौरुष विवेक संदेह-सागर में डूब गया।

काल की महिमा है कि जो व्याकरण-न्याय वेदार्थ की रक्षा के लिये पढ़े पढ़ाये जाते थे, जिनके बदौलत वेद के शब्द और अर्थ से शरीर में किसी प्रकार की भी पीड़ा नहीं पहुँचती थी वही (व्याकरण-न्याय) अब विपरीतभाव के लिये उपस्थित किये कराये जाते हैं। व्याकरण-भाष्य में वारंवार दिखलाया है कि वेदों के रक्षार्थ व्याकरण है। परंतु अब वेदों का मनमाना अर्थ करने के लिये व्याकरण-वीर तयार किया जाता है। और न्यायदर्शन में कहा है कि तत्त्वनिर्णय

के रक्षार्थ[1] जल्प-वितण्डा हैं। परंतु इस समय अपने अपने मतों के रक्षार्थ जल्प-वितण्डा का प्रयोग होता है।

प्रसङ्गवश यह कहना पड़ता है कि चार्वाक, बौद्ध और जैन वेददूषक अवश्य हुये हैं, पर उनसे वैदिक धर्म पर ऐसा आघात नहीं पहुँचा कि जिसका प्रतीकार न हुआ हो। क्योंकि वे सब खुल्लमखुल्ला वेददूषक हुए इस कारण समय समयपर उनकी चिकित्सा भी होती गई। पर इस दुर्बल धार्मिक-संस्था में जो प्रच्छन्न (गुप्त) चार्वाक आदि प्रबल हो रहे हैं इनका शासन अतिकठिन क्या, बल्कि अशक्य सा हो रहा है। इस शोचनीय दशा का उल्लेख विद्यां[2] (दार्शनिकनिबन्ध) में यों आया है—

'प्रत्यक्षीक्रियतेऽद्य वेदपुरुषो व्याख्याकशालाञ्छितो
दृश्यन्ते स्मृतयोऽपि दुर्बलदशाः स्वेच्छा नियोगाङ्किताः।
तर्कोद्भावनया पुराणघटनोपन्यासतां नीयते
क्षुभ्यद्धर्मसृगान्तरेषु वलते शार्दूलविक्रीडितम् ॥
साध्यन्ते परमोहनाय शतधा साध्यानि वेदादितो
वेदार्थेष्वपि साध्यभङ्गसमये श्रद्धाऽन्यथोत्पाद्यते।
आपातामलवस्तुसंगतिकथाव्याजृम्भणादुर्व्वरै-
राशूपार्जितगौरवं प्रतिसभं निःशङ्कमाभाष्यते ॥
आस्तिक्यं प्रथयन्ति धर्मविषये भस्मोर्ध्वपुण्ड्रादिकै-
रन्तर्ध्वस्तसमस्तशास्त्रविषयो नास्तिक्यमध्यासते।
मन्ये भाग्यत एव वेदविटपी शाखासहस्रं दधौ
तस्मादेव धरामरेन्द्रकुलतः संप्रत्युपेत्यत्ययम् ॥'

---

१ 'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्' गौ० सू०

२ यह निबन्ध उक्त पूज्यपाद श्रीद्विवेदी जी कृत है।

१ । कर्मकाण्ड । वेद प्रतिपाद्य कर्म, श्रौत और स्मार्त भेद से दो प्रकार का है; इसका उल्लेख पहिले भी हो चुका है । यद्यपि श्रुतियों के आधार पर स्मार्तकर्म हैं और श्रौतकर्म साक्षात् श्रुतियों से सिद्ध हैं, इस युक्तिसे श्रौतकर्म का प्राधान्य प्राप्त होताहै तो भी स्मार्तकर्म उपनयन के विना श्रौतकर्म अग्निहोत्र आदि नहीं हो सकता यह वैदिक सिद्धान्त है । इसीलिये श्रौतकर्म का अधिकारी बनने के लिये पहिले उपनयनद्वारा द्विजाति होना अत्यावश्यक है ।

उपनयन=यज्ञोपवीत=जनेऊ । उपनयनसंस्कार के पूर्व पश्चाद्भावी संस्कारों की चर्चा आगे की जायगी, पहिले यह जानना बहुत जरूरी है कि 'उपनयन' ऐसा प्रधान संस्कार जिसके ऊपर सारी वर्णाश्रम-व्यवस्था का भार है, वह इस समय कष्टतरदशा को झेल रहा है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य से विवाहिता-ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या में उत्पन्न बालक अपने अपने समय पर उपनयन होने से 'द्विजाति' पद को प्राप्त करते थे। क्षत्रिय, वैश्यों की कथा पीछे की जायगी, पहिले उन अभागे ब्राह्मण बालकों की दशा दिखलाई जाती है कि जिनके माता पिता दान लेने के लिये द्विजोत्तम बनकर अग्रसर होते हैं । बहुधा देखने में आता है कि आठ वर्ष क्या, बल्कि सोलह वर्ष का जवान बन गया है लेकिन गले से जनेऊ लिपटने का अवसर नहीं आया । यदि भाग्यवश अवसर भी आया तो किसी देवता वा तीर्थ के स्थान पर जाकर जनेऊ गले में डाल लिया गया । यदि लड़के के माता पिता धनिक हुए तो विवाह-मुहूर्त्त के एक दो दिन पेश्तर, कैसा ही दुर्मुहूर्त्त क्यों न हो, झटपट गले में जनेऊ डाल दिया जायगा । उस पर भी

किसी किसी प्रदेश में यह 'विशेष' है कि बालक के पिता के भगिनीपति या जामाता आदि ही गायत्री का उपदेश किया करते हैं और वे 'मान्य' शब्द से पुकारे जाते हैं। कहीं कहीं कुलगुरु कान फूंका करते हैं, वे चाहे गायत्री से परिचित हों वा अपरिचित। और यही दशा उन मान्यधुरंधरों की भी है। किसी मौके पर यहां तक नौबत गुजरती है कि 'रामनाम' सुना दिया गया। क्या इससे भी गायत्री बड़ी है! हरे हरे, ऐसा अँधियारा छा गया। देखो 'रामनाम' बड़ा पदार्थ है, इसमें कोई शक नहीं पर 'गायत्री' भी वह पदार्थ है जिसकी पाबन्दी वर्णाश्रम शृंखला में बँधकर रामजी ने भी की थी। और ऐसा भी देखने में आया है कि जिन लड़कों के माता पिता सामान्य हैं, या विवाह की राह देख रहे हैं, या लापरवाह हैं उनके दश, बीस, पचास, सौ लड़कों को एकत्र करके कोई कोई साहसिक धनी एकदम जनेऊ करा डालते हैं। यह ताण्डव प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक पांच सात ब्राह्मणों से खतम होता है........इत्यादि।

लड़कों के पिता लोग 'गोत्र, प्रवर' से अपरिचित रहते हैं, ऐसी दशा में संध्या-तर्पण की तो बात ही क्या है? कोई गोत्र से परिचित भी रहते हैं पर 'प्रवर' से अपरिचित रहते हैं। कोई गोत्र से परिचित होकर भी गोत्र का व्यवहार नहीं करते हैं, किंतु गोत्र की जगह 'गोत' एक निराला ही पदार्थ मानते हैं और उस गोत ही से विवाह-संबंध करते हैं। ऐसी दशा में 'सगोत्रा' तथा 'समानप्रवरा' कन्या से विवाह करने में कितना बड़ा दोष[1] है यह बात धर्मशास्त्र या लोक-

---

१ परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा।
त्यागं कुर्याद्‌द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत्॥

व्यवहार से छिपी नहीं है। यह केवल मूर्खों ही की कथा नहीं है किंतु विद्वानों की भी है और उनको समाधान भी मिलता ही जाता होगा।

बाक़ी रहे क्षत्रिय और वैश्य; उनको क्या कहा जावे? ब्राह्मणों को चारा देते हैं, तो भी 'दोषा वाच्या गुरोरपि' इस न्याय का आश्रय लेकर कुछ कहा जाता है क्योंकि याज्य होने से धर्मशास्त्रानुसार उनके ऊपर ब्राह्मणों का अधिकार पुश्तैनी है। दुःख का विषय है कि क्षत्रिय और वैश्य जाति से जनेऊ का व्यवहार उठ सा गया। कई घराने तो ऐसे मिलेंगे कि उनमें से यदि किसी एक बूढ़े को पूछा जावै कि आपके पुरुषों में किसका जनेऊ हुआ था तो देखना तो दूर है पर सुनने का भी पता न चलेगा। कई घराने में किसी क़दर जनेऊ होता भी है तो और घरानों के साथ खान पान संबंध होने से गजस्नान के समान उसका होना न होना बराबर है। दूसरी यह बात है कि छोटे छोटे क्षत्रिय तथा वैश्य विवाह आदि संबंधों के कारण बड़ों के अधीन हो रहे हैं और बड़े तो बड़े ही हैं जिनमें बहुतेरे क्षत्रियों की उपभोग-सामग्री महंमदीयों की सी है और बहुतेरे वैश्यों का आचार जैनों का सा है इसीलिये 'कलावाद्यन्तयोः स्थितिः' यह कहना कई अंशों में यथार्थ हो गया है। और जो ब्राह्मणों के प्रभाव से तथा अपने अपने अज्ञान से नवीन-त्रैवर्णिक जाति बनती जाती है उसके विचार की आवश्यकता नहीं है। चातुर्वर्ण्यशिक्षा में कहा है—

'उत्पद्यतां नाम विलीयतां
वा नवा नवा जातिरहो तया किम् ।
न यत्र पारम्परिकी प्रतीतिः
क्रियापि सा जातिरनर्गला किम् ॥
जातिस्तदुत्कर्षविधिर्द्वयीति
स्मार्तो न लौकिक्यथ शासनेन ।
तत्राश्रयो युज्यत आत्मवृद्ध्यै
नहीच्छया सिध्यति भागधेयम् ॥'

अब 'उपनयन' के पूर्वपश्चाद्भावी संस्कारों का क्रम दिखलाया जाता है, यह क्रम यद्यपि स्मृतिपाठभेद के कारण कई स्थलों में भिन्न भिन्न प्राप्त होता है तो भी प्रौढ़ विद्वानों के लेखानुसार ठीक कर लिया गया है। "१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ अन्नप्राशन, ७ चौल, ८ उपनयन, १२ चतुर्वेदव्रत, १३ स्नान (समावर्तन) १४ सहधर्मचारिणी-संयोग (विवाह) १९ पञ्चमहायज्ञ, २० अष्टका, २१ पार्वण, २२ श्राद्ध, २३ श्रावणी, २४ आग्रहायणी, २५ चैत्री, २६ आश्वयुजी, २७ अग्न्याधान, २८ अग्निहोत्र, २९ दर्शपौर्णमास, ३० चातुर्मास्य, ३१ आग्रयणेष्टि, ३२ निरूढपशुबन्ध, ३३ सौत्रामणी, ३४ अग्निष्टोम, ३५ अत्यग्निष्टोम, ३६ उक्थ, ३७ षोडशी, ३८ वाजपेय, ३९ अतिरात्र, ४० आप्तोर्याम ये चालीस संस्कारों के नाम हैं। इनके अनुष्ठान-क्रम और लक्षण कल्पसूत्रों से जाने जाते हैं। इनमें गर्भाधान से लेकर विवाहपर्यन्त चौदह संस्कारों से पवित्र गृहस्थ=गृही=घरवाला बनता है और अगले संस्कारों से वह उत्तरोत्तर माननीय बनता है (और चतुर्वेदव्रत के

अनन्तर ही पूर्वकाल में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अथर्ववेद की शिक्षा प्राप्त की जाती थी) इनमें भी पञ्चमहायज्ञ गृहस्थ का नित्यकर्म है, जिसके बारे में भगवान् मनु ने तृतीय अध्याय में बहुत कुछ लिखा है । अष्टकादि आश्वयुजीपर्यन्त सात स्मार्तकर्म पाकनिष्ठ हैं, अग्न्याधानादि सौत्रामणीपर्यन्त सात श्रौतकर्म हविर्यज्ञनिष्ठ हैं और अग्निष्टोमादि आप्तोर्याम-पर्यन्त सात श्रौतकर्म सोम (पूविका) निष्ठ हैं । उक्त चालीस संस्कारों के अलावा ये आठ आत्मगुण हैं—१ दया, २ क्षान्ति, ३ अनसूया, ४ शौच, ५ अनायास, ६ माङ्गल्य, ७ अकार्पण्य, ८ अस्पृहा । आन्तरक्रिया साध्य होने से इनका भी उल्लेख संस्कारप्रकरण में किया है ।

' गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामकरणान्न-प्राशनचौलोपनयनं चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणी-संयोगः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानमष्टका पार्वणं श्राद्धं श्रावण्या-ग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति सप्त पाकसंस्थाः अग्न्याधानमग्नि-होत्रं दर्शपौर्णमासौ चातुर्मास्यान्याग्रयणेष्टिर्निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्र आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्था इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः । अष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्ति-रनसूया शौचमनायासो माङ्गल्यमकार्पण्यमस्पृहेति ॥ '

गौतम ।

' सर्वथापि–३ । ४ । ३४ । ' इस ब्रह्मसूत्र के शारीरक व्याख्यानुसार ' १ निरशनसंहिताध्ययन, २ प्रायणकर्म,

---

१ वर्तमानकालिक मनुष्यशिक्षा का वर्णन ' चातुर्वर्ण्यशिक्षा ' में देखो ।

३ जप, ४ उत्क्रमण, ५ दैहिक, ६ भस्मसमूहन, ७ अस्थि-संचयन, ८ श्राद्ध,' ये आठ संस्कार और प्राप्त होते हैं इनको लेने से अड़तालीस संस्कार होते हैं ।

'यस्यैते अष्टाचत्वारिंशत् संस्कारा इत्याद्या च'

शारीरक ।

आङ्गिरा ने ये पचीस संस्कार कहे हैं—

'पञ्चविंशतिसंस्कारैः संस्कृता ये द्विजातयः ।
ते पवित्राश्च योग्याश्च श्राद्धादिषु सुयन्त्रिताः ॥
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो बलिरेव च ।
जातकृत्यं नामकर्म निष्क्रमोऽन्नाशनं तथा ॥
चौलकर्मोपनयनं तद्व्रतानां चतुष्टयम् ।
स्नानोद्वाहौ चाग्रयणमष्टका च यथायथम् ॥
श्रावण्यामाश्वयुज्यां च मार्गशीर्ष्यां च पार्वणम् ।
उत्सर्गश्चाप्युपाकर्म महायज्ञाश्च नित्यशः ।
संस्कारा नियता ह्येते ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥'

ये पचीस संस्कार नैमित्तिक, वार्षिक, मासिक और नित्य भेद से चार प्रकार के होते हैं यह अश्वलायन ने कहा है—

'नैमित्तिकाः षोडशोक्ताः समुद्वाहावसानकाः ।
सप्तैवाग्रयणाद्याश्च संस्कारा वार्षिका मताः ॥
मासिकं पार्वणं प्रोक्तमसक्तानां तु वार्षिकम् ।
महायज्ञास्तु नित्याः स्युः सन्ध्यावच्चाग्निहोत्रवत् ॥'

इनमें गर्भाधानादि विवाहान्त सोलह संस्कार नैमित्तिक और आग्रयण-आदि उपाकर्मपर्यन्त सात संस्कार मासिक, किंवा वार्षिक हैं । पञ्चमहायज्ञ, संध्योपासन तथा अग्निहोत्र के समान नित्य हैं ।

व्यास ने ये सोलह संस्कार कहे हैं—

' गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रिया-निष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनाक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः ।
नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियः ॥
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश ॥ '

इनमें गर्भाधानादि विवाहान्त चौदह संस्कार, पंद्रहवां स्मार्त अग्न्याधान, सोलहवां श्रौत अग्न्याधान है।

सारांश यह है कि अपने अपने कल्पसूत्र (स्मार्तसूत्र श्रौत सूत्रों) के अनुसार अधिक अथवा न्यून जितने संस्कार प्राप्त होवें उनका ही करना योग्य है । और पहिले जो संस्कारों की अधिक वा न्यून संख्या लिखी है वह सब वैदिक शाखा सूत्रों के भेद से है । इसीलिये गोत्र, प्रवर के समान शाखा-सूत्र का भी स्मरण रखना अत्यावश्यक है । नहीं तो किस किस वाक्य के अनुसार संस्कार किया जायगा । सर्वथा संस्कार का उच्छेद होगा या दूसरे का बेटा बनना पड़ैगा। उक्त व्यवस्था में यह गृह्यपरिशिष्टकार का वाक्य है—

' बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत् प्रकीर्तितम् ।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत् ॥ '

इसी प्रकार कात्यायन का वाक्य है—

' ऊनो वाऽप्यतिरिक्तो वा यः स्वशाखास्थितो विधिः ।
तेन संतनुयाद् यज्ञं न कुर्यात् पारशाखिकम् ॥

परशाखोऽपि कर्तव्यः स्वशाखायां न नोदितः ।
सर्वशाखासु यत् कर्म एकं मत्यत्राशिष्यते ॥ '

ऐसी दशा में अन्यान्य स्मृतियों की उपेक्षा करके अपनी अपनी गृह्यस्मृति (स्मार्तसूत्र) के अनुसार यावच्छक्य गर्भाधानादि संस्कारों का अनुष्ठान करना न्यायप्राप्त है । जैसे शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यंदिनी शाखावालों को उनकी गृह्यस्मृति (पारस्करस्मार्तसूत्र) के अनुसार ये संस्कार करने चाहियें—

(१) आर्तव (ऋतु) काल में गर्भाधान ।

(२) दूसरे वा तीसरे मासमें गर्भचलन के पूर्व पुंसवन ।

(३) छठे वा आठवें मास में सीमन्त (सीमन्तोन्नयन) ।

(४) उत्पन्न होने पर जातकर्म ।

(५) ग्यारहवें दिन नामकर्म ।

(६) चौथे मासमें निष्क्रमण (बालक को घरसे बाहर लाना)

(७) छठे मास में अन्नप्राशन ।

(८) पहिले वा तीसरे वा कुलाचार के अनुसार चूडा (चौल) । (गृह्यस्मृति वा याज्ञवल्क्य में अनुक्त कर्णवेध, चौल वा उपनयन के साथ यथाचार अनुष्ठेय है)

(९) गर्भाधान से आठवें वा आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, गर्भाधान से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का, बारहवें में वैश्य का उपनयन संस्कार कहा है । यदि उक्त काल से दूना गौण काल (१६, २२, २४ वर्ष) व्यतीत हो जाय तो बाद 'व्रात्यस्तोम' नामक प्रायश्चित्त किये बिना वे सब

---

१ । इस समय पंचगौडों में तो उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त और समावर्तन ये चारों संस्कार एक ही दिन में खतम कर दिये जाते हैं ।

२ । स्मार्त व्रात्यस्तोमकर्म दुर्लभ होरहा है ।

(ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के अभागे लड़के) उपनयन के अधिकारी कथमपि नहीं हो सकते और यह भी स्मरण रखने योग्य है कि यदि इस काल के अभ्यन्तर स्त्रीपरिग्रह हो जाय तो आधिकाधिक प्रायश्चित्त के भागी बनेंगे । जातकर्मादि चूडान्त पांच संस्कार कन्या के अमन्त्रक (मन्त्रवर्जित) होते हैं और कन्या का उपनयन-संस्कार नहीं होता है । अतएव वेदारम्भ-केशान्त-समावर्तन भी नहीं होते हैं ।

(१०) उपनयन के अनन्तर वेदारम्भ (स्वशाखाध्ययनारम्भ) ।

(११) यथासंभव अध्ययन के बाद केशान्तकर्म (गोदानविधि) ।

(१२) केशान्तकर्म के अनन्तर समावर्तन ।

(१३) सोलहवें वर्ष के अनन्तर विवाह । यह विवाह-संस्कार कन्या का आठवें वर्ष से ग्यारहवें वर्ष तक होना आवश्यक है और विवाह संस्कार के पहिले साधारण शिक्षा[1] पश्चात् विशेष शिक्षा ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक अवश्य कर्तव्य है ।

(१४) विवाह के अनन्तर ही वा भाइयों से पृथक् होने पर आवसथ्याधान (गृह्याग्निस्थापन) ।

(१५) यथाकाल पञ्चमहायज्ञ[2] ।

(१६) श्रावण की पौर्णमासी में उपाकर्म ।

---

१ । स्त्रियों की शिक्षाविधि ' विद्या ' और ' चातुर्वर्ण्यशिक्षा ' में देखो ।

२ । ' आवसथ्याधान ' किये विना भी ' पञ्चमहायज्ञ ' हो सकता है और गृहस्थ को अत्यन्त आवश्यक है ।

(१७) पौष मास के रोहिणी नक्षत्र में वा कृष्णाष्टमी में उत्सर्ग । .... इत्यादि ।

इसी प्रकार माध्यंदिनी शाखावालों को कात्यायन श्रौत सूत्रानुसार अग्न्याधानादि श्रौतकर्म करना चाहिये ।

(१) अग्न्याधान । इसका आरम्भ ब्राह्मण-द्विज वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय-द्विज ग्रीष्मऋतु में, वैश्य-द्विज शरद् ऋतु में करते हैं । अग्न्याधान में अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार ऋत्विक् होते हैं । अग्न्याधान-शाला में पश्चिम की ओर 'गार्हपत्य' नाम अग्नि का वृत्ताकार कुण्ड होता है । इस से पूर्व की ओर 'आहवनीय' नाम अग्नि का चतुरस्र कुण्ड होता है । दक्षिण की ओर 'अन्वाहार्यवचन' नाम अग्नि का वृत्तार्धाकार कुण्ड होता है । गार्हपत्य और आहवनीय कुण्ड के अन्तराल भूमि में एक विशिष्ट वेदिका बनाई जाती है, जिसका पूर्व भाग 'अंश' पश्चिम भाग 'श्रोणि' कहलाता है ।

(२) अग्निहोत्र । यह सायं और प्रातः वेदमन्त्र से जो अग्नि में आहुति दी जाती है उस कर्म का नाम है ।

'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत ।
एवꣳ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥'

(छां. उ.)

(३) दर्शपौर्णमास । यह इष्टि आहिताग्नि (अग्न्याधान-कर्ता) को प्रतिमास करना पड़ता है .... इत्यादि ।

इसी प्रकार आश्वलायन–शाङ्खायन आदि सूत्रों के अनुसार ऋग्वेदियों के कर्म; आपस्तम्ब-हिरण्यकेशीय-सत्याषाढ

१–२स्मार्त कर्म में 'अष्टका' आदि कतिपय कर्म और श्रौतकर्म में अगिले सभी याग छोड़ दिये हैं । उनमें राजसूय, अश्वमेध क्षत्रिय के विषय हैं ।

आदि सूत्रों के अनुसार कृष्णयजुर्वेदियों के कर्म; गोभिल-कौथुम आदि सूत्रों के अनुसार सामवेदियों के कर्म और शौनक सूत्रानुसार अथर्ववेदियों के कर्म होते हैं। और यह स्मरण रहे कि सर्वत्र स्मार्तकर्म में स्मार्तसूत्र और श्रौतकर्म में श्रौतसूत्र ही शरण हैं। शाखा-सूत्र के विस्मरण में वा उच्छेद में अन्यान्य स्मृतियों का शरण लेना यह अगतिक गति है। एवं, प्रेतकर्म में गरुड़पुराण का शरण लेना भी अपनी अपनी गृह्यस्मृति के अभावदशा में है। क्योंकि प्रायः पुराणों में सर्वशाखीय कर्मों का निरूपण है इस कारण पौराणिक-कर्म लेने से गृह्यस्मृति का अनादर होता है वह सर्वथा विरुद्ध है।

प्रेतकर्म-श्राद्ध। मरीचि ने कहा है—

'प्रेतं पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्तु तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥'

मृतपित्रादि 'सपिण्डीकरण' श्राद्ध के पहिले "प्रेत = प्र + इत" शब्द से कहे जाते हैं। मृतपित्रादिकों के उद्देश्य से जो आत्मप्रिय भोजनादि ब्राह्मण को श्रद्धा से दिया जावे वह 'श्राद्ध' कहलाता है। श्राद्ध चार प्रकार का है—एकोद्दिष्ट, सपिण्डन; पार्वण और नान्दी। एकोद्दिष्ट तीन प्रकार का है—नव, नवमिश्र और पुराण।

(१) मरण दिन से लेकर दशवें दिन तक जो श्राद्ध कहे हैं वे 'नव' हैं।

(२) एकादशाहादि ऊनवार्षिक पर्यन्त श्राद्ध 'नव-मिश्र' हैं।

१ इस समय ब्राह्मण सपत्ति के अभाव से अपात्रक श्राद्ध ही बहुधा होता है।

(३) वार्षिकश्राद्ध 'पुराण' है ।

(४) बारहवें दिन का श्राद्ध ' सपिण्डन ' कहलाता है । जिसका यह स्वरूप है—

' पित्र्यर्घ्यपात्रपिण्डेषु मेलनं येन भाव्यते ।
प्रेतार्घ्यपिण्डयोस्तद्धि सपिण्डनमुदीर्यते ॥ '

और पित्रादि एक के उद्देश से एक पिण्डयुत विश्वेदेव-हीन जो श्राद्ध किया जाता है वह 'एकोद्दिष्ट' है ।

(५) पित्रादि तीन पुरुष के उद्देश से जो श्राद्ध होता है— वह ' पार्वण ' है ।

(६) पुत्रजन्म, विवाह, अग्न्याधान, सोमयाग आदि शुभ कर्म के प्रारम्भ में जो श्राद्ध किया जाता है वह 'नान्दी' श्राद्ध कहलाता है । इन आवश्यक श्राद्धों से अतिरिक्त 'काम्य-श्राद्ध' हैं जो ' कात्यायनश्राद्धसूत्र ' के नौमी कण्डिका में तथा याज्ञवल्क्यस्मृति आदि में लिखे हैं ।

उपसंहार । कतिपय आवश्यक विषयों का निरूपण करके कर्मकाण्ड समाप्त कियाजाता है । यह जरूर है कि धार्मिक क्रिया अनेक अंशों में अदृष्ट फलार्थ है, पर ऐसा भी नहीं है कि दृष्टफल न हो । विचार दृष्टि से गर्भाधानादि संस्कारों में दृष्टफल बहुत मिलेंगे जिनका क्षेत्र-बीज-फल पुष्टि के साथ घनिष्ठ संबन्धहै । और यह भी जरूरहै कि क्रिया देश, काल, पात्र की अपेक्षा करती है, देश, काल, पात्र के संघटन के लिये अनेकानेक विधि हैं; उनके विघटन दशा में दोष उपस्थित होते हैं, विधि में दोष न उत्पन्न हों इसलिये अनेक निषेध वाक्य और दोषमार्जन के लिये अनेक उपाय हैं; बहुधा ये उपाय विषय विभाग से प्रायश्चित्त, शान्तिक, पौष्टिक शब्द से

कहेजाते हैं। यह विषय यहां तक पहुँचा कि ऋषियों ने देश, काल, पात्र का संकोच देखकर 'विरोधे त्वनपेक्षं स्याद् असति ह्यनुमानम्' इस श्रुति प्राबल्य व्यवस्थापर विशेष दृष्टि न देकर लोकरक्षार्थ 'कलिवर्ज्य' प्रकरण बनाया। इधर स्वार्थान्ध लोगों ने संकीर्ण ग्रन्थों की बहुतायत करदी जिसका फलफल 'प्रत्यक्षीक्रियते-' पहिले लिखा जाचुकाहै।

ऐसी कष्टदशा में 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु' इस योगीश्वर के शिक्षानुसार अपने कल्पसूत्रोक्त श्रौत-स्मार्त कर्म धर्मसंरक्षणार्थ यथासंभव अवश्य कर्तव्य हैं। और बालकाल में होनेवाले संस्कारों पर माता पिता को बाद के संस्कारों पर स्वयं विचार करना जरूरी है। काल की महिमा से बहुतेरे पुरुष यह कहते हैं कि-हम संसारी हैं, नाक दबाकर बैठने का समय नहीं है-उन महाशयों से यह कहाजाता है कि विचार कीजिये चौबीस घंटेमें एक आध घंटेका समय सबको मिल सकता है, यदि आप अपनी तन्दुरुस्ती ठीक बना रक्खा चाहते हैं तो 'नाक दबाने' को वैद्य-हकीम-डाक्टर की दवा में शुमार कीजिये। और यों त्रैवर्णिकपनेकी लीक भी चलती रहेगी।

यह अवश्य कहना पड़ैगा कि 'गृह्यस्मृति' के कुछ विषय बहुत घटे चढ़े नजर आने लगे बाक़ी के लुप्त होगये, पहिले ऐसा न था। जबसे वैदिक ज्ञान लुप्तप्राय होगया स्वशाखीय वा परशाखीय कर्मों का बोध उठगया अत्यावश्यक, आवश्यक, अनावश्यक विषयों का विवेक डूब गया और वर्णाश्रम धर्म का अधरोत्तर भया। अज्ञान

१। कलिवर्ज्य का उल्लेख बहुत स्थलों में है। जैसा कि 'निर्णयसिन्धु' में तीसरे परिच्छेद के पूर्वार्ध के अन्त में। निबन्धग्रन्थों के उद्धृत वाक्यों को मूल ग्रन्थ से मिलाने की अत्यावश्यकता है।

अथवा स्वार्थपरायणता से नानाविध कर्मकाण्डकी पद्धतियां जगमगाहट करने लगीं तबसे गरीबों का धनाभाव से अमीरों का अवज्ञा से प्रायः बहुत कर्म छूटगया।

चातुर्वर्ण्यशिक्षा में कहा है कि—

'सांस्कारिकं कर्म विधातुकामाः
पृच्छन्ति यत्तत् सुनिरूप्य लेख्यम् ।
न वा जिघृक्षारससंश्रयेण
नानाविधं वस्तु विमोहनाय ॥
निक्षिप्यतां दृष्टिरितस्ततो वा
विमृश्यतां वा मनसा निकामम् ।
अपव्ययाद् भारतभूतलेऽस्मिन्
संस्कार एष (शाखी) प्रलयं नु यातः ॥
भूरिक्रियाक्लृप्तिनिरूपितश्री-
रास्तां स सोमादिविशेषयागः ।
न स्मर्यते क्वापि स जातियोगी
संस्कारशाखी बहुवित्तसाध्यः ॥'

इत्यादि ।

कल्पसूत्रों का अन्यान्य स्मृतियों से उपबृंहण (फैलाव) हो। पर उसका यह प्रयोजन नहीं है कि कल्पसूत्रही एक कोने में कर दिये जायँ। हां, यह जरूर है; जैसे गृह्यस्मृति और ज्योतिष के संहिताभाग में संस्कार के लिये कालशुद्धि लिखी है तो गृह्यस्मृतिका अनुरोध करके ज्यौतिषिक कालशुद्धि लेनी चाहिये। अतएव कितने ही कर्म सिंहस्थ-मकरस्थ गुरु आदि दुष्टकाल में भी किये जाते हैं उसमें यह दिग्दर्शन है—

'अधार्यकल्पकोद्वाहोऽधार्यपुत्रोपनायनम्।
गयागोदावरीयात्रा सिंहस्थेऽपि न दुष्यति॥'
धर्माधिकारि नन्द पण्डित।

यही दुर्दशा शान्तिक-पौष्टिक आदि की है। जहां पर शान्तिक कर्म का विधान नहीं है वहां पर भी वह एक विशालस्वरूप धारण करके यजमान को बाधित कर डालता है। जैसे उपनयन-विवाह आदि में। उस कर्म को 'ग्रहशान्ति' वा 'ग्रहयज्ञ' कहा करते हैं, उसका उल्लेख 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में इस प्रकार है—

'श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत्।
वृष्ट्यायुः पुष्टिकामो वा तथैवाभिचरन्नपि॥ २९५॥'

और इसकी इतिकर्तव्यता (विधि) भी वहीं लिखी है, परंतु प्रचलित ग्रहशान्ति की पद्धति बहुत बढ़ाई गई है और अनेक प्रकार की प्राप्त होती है। किसको क्या कहा जाय? यही दशा संस्कारभास्कर[1] आदि की है।

पुनर्विवाह[2]। जैसे उपनीत त्रैवर्णिक का अनेक कारणों से फिर 'उपनयन' संस्कार करना प्राप्त होता है वैसा विवाहिता त्रैवर्णिक स्त्रीका फिर 'विवाह' करना नहीं प्राप्त होता। अतएव पुनर्विवाह का विधान किसी 'गृह्यस्मृति' में नहीं किया है। और मनु ने आठवें तथा नवें अध्याय में "पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः॥२२६॥" "पाणिग्रहणिका

---

१ यह पुस्तक राजपूताना प्रान्त में बहुधा व्याप्त है।
२ इस विषय का पूर्ण विचार 'विधवोद्वाहशङ्कासमाधि' नामक ग्रन्थ में किया है। यहां तो दिग्दर्शनमात्र है।

मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ॥ २२७ ॥ " " नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ॥ ६५ ॥ " इत्यादि वाक्यों से पुनर्विवाह का निषेध किया है। और शास्त्रीय युक्ति भी है कि जब एक वार कन्याद्रव्य का दान वरको करदिया गया, तब दाता का पुनः कन्याद्रव्य में अधिकार न रहा, और अधिकारी वर मृत हो गया तथा अन्यद्रव्य के समान अधिकारी के संबंधियों का अधिकार नहीं प्राप्त होता, उस दशा में 'विधवा' को देनेलेनेवाला चोर के सिवाय और कौन हो सकता है ? और—

'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतितेऽपतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥' (४अ. ३०श्लो.)

इस पराशरस्मृति वचन से जो पुनर्विवाह की सिद्धि करते हैं उनकी बड़ी भूल है; क्योंकि प्रथम तो वैवाहिक श्रुति (मन्त्र) के साथ उक्त स्मृति का विरोध होता है, जिस के बारे में भगवान् मनु ने लिखा है कि 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः' (८ अ. २२६ श्लो.) । दूसरे, गृह्यस्मृतियों में पुनर्विवाह विधिके न होने से उक्त स्मृति का गृह्यस्मृतियों के साथ विरोध स्पष्ट है। तीसरे, पतिके पतित होने पर 'आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः' (आ. ७७ श्लो.) इस याज्ञवल्क्य-स्मृति के अनुसार पत्यन्तर की प्राप्ति नहीं होती, किंतु प्रायश्चित्त करने बाद वही पति व्यवहार्य होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि उक्त, स्मृति-वाक्य स्वतन्त्ररूप

१ पति स्त्रीका दाता किसी अवस्था में होता है। जैसे राजा हरिश्चन्द्र...।

२ 'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत' इत्यादि मन्त्र और प्रस्तुतविचार विद्यासुधाकर में स्पष्ट है ।

से 'पुनर्विवाह' अथवा 'नियोग' का विधायक नहीं हो सकता, किंतु व्यवस्था की अपेक्षा रखता है। जैसा—वाग्दान के बाद पाणिग्रहण के पहले अपति[1] अर्थात् पतिभिन्न पति सदृश वर; यदि लापता हो जाय, वा मरजाय, वा संन्यासी हो जाय, वा नपुंसक हो जाय, वा महापातक से दूषित हो जाय इन पांच आपत्तियों में 'च' कारसे यदि विकर्मा, वा विरुद्ध-धर्मा, वा समान गोत्र, वा समान प्रवर ज्ञात होय तो कन्या दूसरे वर को दी जाय। यही आशय धर्माधिकारि नन्द पण्डित ने विद्वन्मनोहरा में दिखलाया है।

नियोगकर्म। यह इन्द्रियदौर्बल्य के कारण कलि में सर्वथा असंभव[2] है। इसीलिये बृहस्पति ने कहा है—

'उक्ता नियोगा मुनिना निषिद्धाः स्वयमेव तु।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः॥'

इत्यादि।

और मनु ने भी कहा है—

'अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।'

(९ अ. ६६ श्लो.)

नियोग कर्म तो दूर रहा, इस समय भी पुनर्विवाह त्रैवर्णि-कातिरिक्त शूद्र जाति में हीनदृष्टि से व्यवहार्य है। भले ही त्रैवर्णिक-महाशय उसकी कोशिश में रहें। और "अक्षमाला वशिष्ठेन—' ९। २३ 'अजीगर्तः सुतं हन्तुं—' १०। १०५

---

१. 'अपति' ऐसा छेद करने से 'उत्पत्स्यमानपतित्वधान्' ऐसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है और नञ् समास होने से 'अपतौ' की साधुता भी हो जाती है।

२ देखिये भारत में धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा पाण्डवों की उत्पत्ति के प्रकरण।

'श्वमांसमिच्छन्–' १० । १०६ 'भरद्वाजः–' १० । १०७ 'विश्वामित्रः–' १० । १०८ ।" इत्यादि मनूक्तवृत्तान्त; तथा तारा, मन्दोदरी, द्रौपदी आदि के कतिपय वृत्तान्त वर्तमान काल में कथमपि दृष्टान्त बनकर विधेय नहीं होसकते ।

यज्ञ और पशु । 'कलिवर्ज्य' के अनुसार अग्निहोत्र संन्यास आदि कतिपय कर्म कलि में वर्जित हैं तो भी उनका विधान (प्रतिप्रसववाक्य) प्राप्त होता है—

'यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते ।
संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत्कुर्यात्कलौयुगे ॥'

अर्थात् जब तक वेद और वर्णविभाग चल रहा है तब तक अग्निहोत्र और संन्यास का भी चलाना इष्ट है । 'च' कार से यथासंभव कर्मान्तर और आश्रमान्तर का ग्रहण करना योग्य है । अतएव यथा कथंचिद् ब्रह्मचर्य, चातुर्मास्य, सोमयाग आदि कतिपय कर्म कहीं कहीं शिष्टजनों में दिखाई पड़ते हैं (अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः) ।

और जो यह व्यासवचन है—

'चत्वार्यब्दसहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च ।
कलेर्यदा गमिष्यन्ति तदा त्रेतापरिग्रहः ।
संन्यासश्च न कर्तव्यो ब्राह्मणेन विजानता ॥'

कलि के चार हज़ार चार सौ वर्ष व्यतीत होने बाद सुज्ञ ब्राह्मण, अग्निहोत्र और संन्यास का ग्रहण न करै । यह निषेध भी वर्तमानकालिक वर्णाश्रमव्यवहार को सूक्ष्मदृष्टि से देखने से समुचित ज्ञात होता है ।

और जो यज्ञ में 'पशु' के संज्ञपन[1] को भ्रान्तिमूलक सिद्ध

[1] संज्ञपन=आलम्भ, यह 'संज्ञपयान्वगान्नित्येव ब्रूयात् ६ । ५ । २१ ' इस कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार भाषण है ।

करते हैं, वा उसको सामान्यतः युगान्तरीय-धर्म बतलाते हैं, वा उसको पिष्टपशुसाध्य कहते हैं, वे सब भ्रान्त अथवा स्वार्थान्ध हैं। जब 'पशुसंज्ञपन' की चर्चा एक स्थल में नहीं हज़ार स्थलों में है, वेदसे लेकर पुराणतक संज्ञपन छिपा नहीं है, वेदद्रोही उसपर 'पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥' इत्यादि मज़ाक करते आये हैं, तब क्या संज्ञपन हमारे छिपाने से छिप सकता है? कथमपि नहीं, और सच्ची बात छिपाकर पापभागी क्यों बना जाय? जैसे 'अश्वालम्भ'[1] 'अश्वमेध'[2] शब्द का 'अश्व-संज्ञपन' अर्थ छोड़कर 'अश्वस्पर्शन' वा 'अश्वसंगम' अर्थ करते हैं सो सरासर झूठा है। क्योंकि इस कपोलकल्पित अर्थ के अभिप्रायसे उक्त शब्द का प्रयोग कहीं न मिलैगा ....इत्यादि। ऐसी दशा में संज्ञपन भ्रान्तिमूलक क्योंकर सिद्ध हो सकता है? और इस बारे में श्रीभाष्याचार्य–श्रीरामानुजाचार्य ने तथा वेदान्तपारिजातसौरभाचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य के शिष्य–वेदान्तकौस्तुभाचार्य श्रीश्रीनिवासाचार्य ने यह श्रुति लिखी है—

'न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवान् इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वा देवः सविता दधातु ॥'

१–२ 'अश्वः आलम्यते वध्यतेऽत्र। अश्वः मेध्यते वध्यतेऽत्र' यों ये योगरूढ शब्द हैं, केवल यौगिक नहीं हैं। देखिये, वाल्मीकीय रामायण बाल-काण्ड १४ सर्ग।

और पूर्णप्रज्ञ दर्शनाचार्य श्रीमध्वाचार्य ने यह वाराह-पुराण का वाक्य लिखा है—

'हिंसा त्ववैदिकी या तु तयाऽनर्थो ध्रुवं भवेत् ।
वेदोक्तया हिंसया तु नैवानर्थः कथंचन ॥'

यह विचार 'अशुद्धमिति चेन्न, शब्दात् ३ । १ । २५ ।' इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में किया है । इस व्यवस्था से 'ओषध्यः पशवः—' ४ । ४० यह मनुवचन भी सहानुभूति रखता है ।

और जो सांख्यकारिका में आनुश्रविक-कर्म (त्रेताग्नि-साध्य अनुष्ठान) को अविशुद्धि, क्षय, अतिशय, इन तीन दोषों से ग्रस्त बतलाया है उसमें कर्मसाध्य स्वर्ग को अनित्यता से क्षयवान्, और कर्मफल को न्यूनाधिकभाव से अतिशयवान् बतलाना न्यायसिद्ध है; परंतु कर्म में एकान्ततः अविशुद्धि बतलाना न्यायविरुद्ध है और उपजीव्य (सांख्य-दर्शन) से बहिर्भूत है; क्योंकि किसी सांख्यसूत्र से उक्तकर्म की अविशुद्धि नहीं सिद्ध होती प्रत्युत 'अशुद्धमिति चेन्न, शब्दात्' इस ब्रह्मसूत्र के साथ विरोध खड़ा होता है और इसी सूत्र के शारीरकभाष्य में आचार्य श्री ६ शङ्कर स्वामी ने 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इस शास्त्र को उत्सर्ग और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस शास्त्र को अपवाद व्यवस्थित किया है । और 'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ४।१।१६, इस ब्रह्मसूत्र से आनुश्रविक-कर्म विशेष का ज्ञान में उपयोग बतलाया है । ऐसी स्थिति में 'अविशुद्धिः=सोमादियागस्य पशुबीजादिवधसाधनता' यह लेख कारिकापक्ष-रक्षणार्थ

है । इस विषय पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' की 'विद्वत्तोषिणी' टीका में श्रीबालराम उदासीन साधुने कर्मकाण्डोन्मूलन परिणामिका एक विशाल वक्तृता दिखलाई है जिसके प्रातिस्विक विचार का अवकाश यहां नहीं है ।

और 'संज्ञपन' को सामान्यतः युगान्तरीय-धर्म भी नहीं स्थिर कर सकते क्योंकि 'चत्वार्यब्दसहस्राणि—' इस व्यास-वाक्य से भी त्रेताग्निसाध्य कर्मों का अनुष्ठान कालि में प्राप्त होता है, वह देशकालपात्र के संकोच से कुछ दिन के लिये कहागया है यह दूसरी बात है । और 'गोसंज्ञप्तिश्च गोसंवे' इत्यादि विशेष संज्ञपन तो श्रुति-स्मृति से सुतरां निषिद्ध हैं । पर अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, सोम आदि कतिपय यज्ञ निषिद्ध नहीं हैं, अतएव उनके प्रातिस्विक निषेध वाक्य भी नहीं प्राप्त होते और वे दाक्षिणात्यशिष्टों में अब भी कथमपि किये जाते हैं । रहगया 'कलिवर्ज्य' प्रकरण लेख, वह 'श्वानं युवानं मघवानमाह' इस के समान है । यह अवश्य विचारणीय क्या बल्कि महान् विचारणीय विषय है कि जब स्मृति से श्रुति का बाध नहीं हो सकता और देश, काल, पात्र के संकोच से अनेक कर्मों के अनुष्ठान से सुकृत के बदले दुष्कृत खड़े होने की पूरी आशङ्का है तब महानुभावों ने 'कलिवर्ज्य' व्यवस्था की । जिसमें श्रुतिविहित, स्मृतिविहित, सामर्थ्य-विहित और आचारविहित कितने एक कर्मोंका निषेध तथा

---

१ आपने स्वंपरिष्कृत पातञ्जलयोगभाष्य के प्रारम्भ में एक 'योगतत्त्वसमीक्षा' नाम की भूमिका लिखी है जिसमें वेदान्त सिद्धान्तों को आड़े हाथों से सँभाला है, उसका उद्धार वेदान्तपरिभाषा की सगणिप्रभा-शिखामणि टीका की भूमिका में श्रीगोविन्द सिंह निर्मल साधुने किया है ।

किसी किसी निषिद्ध का विधान भी किया है । और वैदिक 'पशुसंज्ञपन' पिष्टपशु साध्य है, यह भी नहीं कह सकते । क्योंकि 'न वा उ एतन्म्रियसे—' इस उक्त श्रुति का विरोध होता है, तथा 'अग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसोऽनुब्रूहि' इत्यादि श्रुतियों का पैष्टिक पशु में अत्यन्त बाध है तथा पिष्टपशु करने का विधिवाक्य भी नहीं है जो 'श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः' इत्यादि वाक्यों से विधि की कल्पना की जाती है वह 'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते' इसके समान उपेक्षणीय है । और जिस लक्ष्य से पिष्टपशु का विधित्व माना जाता है उससे भी छूटना असंभव है क्योंकि— 'व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशमवृत्तायाम् । म्रियतां जीवो मा वा धावतये ध्रुवं हिंसा ॥' तो अशास्त्रीयकर्म में अहंभाव से पड़कर क्या फल है ? धन, नहीं निधन....इत्यादि ।

अग्निपुराण की शिक्षा है कि—

'अग्निष्टोमादिकर्माणि सापायानि कलौयुगे ।
गङ्गास्नानं हरेर्नाम निरपायमिदं द्वयम् ॥'

संस्कार-व्यय । जातीय संस्कार (द्विजत्ववर्द्धक-संस्कार) में अल्पव्यय है । यदि ऐसा न होता तो धनिक ही जातिमान् बन सकते; यह बात गृह्यस्मृतियों के देखने से साफ़ जाहिर है । पारस्कर गृह्यस्मृति के प्रधान व्याख्याता कर्काचार्य आवसथ्याधान के 'ततो ब्राह्मणभोजनम्' इस अन्तिम सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्त करते हैं कि एक ब्राह्मण भोजन कराना । आशय यह है कि जहां प्रकृत के समान संख्या का ज्ञान न हो वहां एक ब्राह्मण लेना और जहां 'ब्राह्मणान् भोजयित्वा'

१ [illegible] में ।

ऐसा लेखा है वहां पर तीन ब्राह्मण लेना योग्य है । भगवान् मनु ने भी कहा है कि–

'द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥'

यद्यपि यह श्राद्ध का विषय है तो भी आतिदेशिक विधि के अनुसार कर्मान्तर में भी इसका अनुरोध करना अनुचित न होगा, यदि कोई प्रामाणिक विशेष वाक्य न उपस्थित हो। यदि गृह्यस्मृति के अनुसार ब्राह्मण संख्या न्यून प्रतीत हो तो इस यज्ञपार्श्व के वाक्य का आलम्बन करो–

'गर्भाधानादिसंस्कारे ब्राह्मणान् भोजयेद् दश ।
शतं विवाहसंस्कारे पञ्चाशन्मेखलाविधौ ॥
आवसथ्ये त्रयस्त्रिंशच्छ्रौताधाने शतात्परम् ।
अष्टकं भोजयेद् भक्त्या तत्तत्संस्कारसिद्धये ॥
सहस्रं भोजयेत् सोमे ब्राह्मणानां शतं पशौ ।
चातुर्मास्ये तु चत्वारि शतानि पञ्च सुराग्रहे ॥
अयुतं वाजपेये च ह्यश्वमेधे चतुर्गुणम् ।
आग्रयणे प्रायश्चित्ते ब्राह्मणान् दश पञ्च च ॥'

२ । उपासनाकाण्ड । सर्वोपास्य-परमेश्वर, निर्विशेष और सविशेष अर्थात् निर्गुण (अवाङ्मनसगोचर), सगुण (वाङ्मनसगोचर) श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास में अनेक प्रकार से वर्णित है ।

निर्विशेष-परमेश्वर (ब्रह्म)–

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥'

कठोपनिषत्.

इस यजुर्वेदीय-कठशाखीय-श्रुति से ज्ञेय है । और सविशेष परमेश्वर (ब्रह्म)-

'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः, तस्य यथा कप्यासपुण्डरीकमेवमक्षिणी, तस्योदिति नाम, स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः, उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद, इत्यधिदैवतम् ।'

इस सामवेदीय-छान्दोग्य श्रुति से विज्ञेय है ।

विश्वरूपधारी श्रीनारायण ने नारद मुनि से कहा है कि-

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं, नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥'

शारीरकभाष्य.

अर्थात् हे नारद ! मैंने यह माया रची है जिससे तुम मेरे को सविशेष देख रहे हो; नहीं तो तुम मेरे को ऐसा नहीं जान सकते ।

इसी अभिप्राय से 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् १ । १ । २० ।' इस ब्रह्मसूत्र के 'कल्पतरु' में यह वचन लिखा है-

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'

अर्थात् निर्गुणोपासन में असमर्थ सगुणोपासन करें, चित्त के निश्चल होने पर वही निर्गुण (निरुपाधि-ब्रह्म) प्रकट होगा ।

उपास्योपबृंहण । जैसे पूर्वकाण्ड (श्रौत-स्मार्त कर्म) में प्रधानतः अग्नि, इन्द्र और देवता; उनकी भक्ति अर्थात् लोक, सवन, ऋतु, छन्द, स्तोम, साम, देवगण, कर्म; तथा भक्तिविशेष (अवान्तर भेद) और उन्हींको संस्तावक देवता; तथा ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति का यजन व्यष्टिरूप से कहा है । वैसा इस उपासनाकाण्ड में भी प्रधानतः विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य इन पांच देवताओं का यजन कहा है । इन सब के अवान्तर भेद अपरिच्छिन्न हैं । जैसे चतुर्दश विद्या-प्रस्थान, वा अष्टादश विद्या-प्रस्थान का संक्षेप (वीज) प्रणव (ओ ३ म्) है; अर्थात् वाङ्मयमात्र का वीज प्रणव (अक्षर) है । वैसाही सब देवताओं का मूल ईश्वर (अक्षर) है । अर्थात् देवतामात्र ईश्वर से अभिन्न है । और देवताओं की विभूति के विषय में यह श्रुति है—

'त्रीणि शता त्रीणि सहस्राण्यग्निं
त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।' य. ३३ । ७ ।
'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति' वृ. ।

१–४ 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः १ । १४' अविद्या आदि क्लेश, शुभाशुभ कर्मों के फल और वासना से निर्लेप पुरुष विशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है । 'तस्य वाचकः प्रणवः १ । २७' उस ईश्वर का वाचक (बोधक), प्रणव है । अर्थात् ईश्वर वाच्य और प्रणव वाचक है । ये सब उपासना के विषय **योगदर्शन** में स्पष्ट हैं । प्रणव की महिमा **माण्डूक्य** में कही है । प्रणव वह 'अक्षर' है जो शब्दतः भी ईश्वर से अलग नहीं है । **व्याससूत्र** में लिखा है कि 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः १ । ३ । १०' इससे अर्थावगति के अभाव में भी मन्त्र जप से ईश्वर का प्रसन्न होना निर्विवाद है । उपास्य ईश्वर, उपासक (योगी) से परमार्थ में पृथक् नहीं है । उपनिषद् में कहा है कि 'तत् त्वम् असि' इत्यादि ।

फिर बृहदारण्यक में 'महिमान एवैषां-' इस कथन से एकही देवता के अनेक रूप बतलाये हैं। इसी वैदिक दर्शन से भगवान् व्यास ने 'विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् १ । ३ । २७' यह विग्रहसूचक सूत्र बनाया और पुराण इतिहासों में विष्णु, शिव, शक्ति आदि भिन्न भिन्न विग्रह तथा एकही विष्णु आदि के अनेक विग्रह कहे गये हैं। और महाभारत के प्रारम्भ में पुराण तथा इतिहास के द्वारा वैदिक[1] ज्ञान को बढ़ाने को कहा-

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥'

आजान सिद्ध देवताओं की महिमा का तो कहना ही क्या है; पर कर्मसिद्ध योगियों की महिमा भी श्रुति स्मृति से विलक्षण ज्ञात होती है-

'पृथ्व्यप्तेजोनिलखे समुत्थे
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥'

श्वेता० २ । १२.

'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥

---

१ मन्त्रलिङ्गों से ज्ञात देवविग्रहादिकों का संग्राहक श्लोक-
'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता ।
फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम् ॥'

शारीरकव्याख्या.

प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥'

शारीरकभाष्य.

समानतन्त्र-सांख्यदर्शन में भी लिखा है कि-

'योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ५। १२८'

औषध मन्त्रसिद्धि के समान योगसिद्धि भी निराकरण करने योग्य नहीं है। यही दृष्टान्त न्यायदर्शन में वेद के प्रामाण्य सिद्ध करने में दिया गया है। योगसिद्धि पातञ्जल-दर्शन के विभूतिपाद में लिखी हैं, इन्हींके न जानने से भारत के क्षुद्रहृदय (अभागे) पौराणिक वा ऐतिहासिक विषयों को गप्प कहा करते हैं।

दैवतभाषण। प्रणव आदि इष्टमन्त्र के यथाविधि जप करने से इष्टदेवता के साथ संभाषणादि व्यवहार की सिद्धि होती है यह बात पातञ्जलदर्शन में लिखी है-

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः २। ४४'

और 'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि १। ३। ३३' इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में भगवत्पाद ने भी कहा है-

'तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयाद् इदानींतनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधयेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्, ततश्च राजसूयादिचोदना उपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरे-

१ 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् २। १। ६७'

ऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात् । तस्माद् धर्मोत्कर्षवशाच्चिरंतना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते । ' इति ।

अवतार । जब उक्त श्रुति स्मृति पुराण इतिहास से देवता जड़रूप भौतिकमात्र नहीं हैं; किंतु योगियों के समान ऐश्वर्यवान् चेतन हैं; एकही काल में नानाविधरूप धारण करने को समर्थ हैं; जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-संहाररूप कर्मों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नाम से विभक्त कर्मेन्द्रिय के अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु और प्रजापति नाम से विख्यात अधिष्ठाता हैं; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण नाम से विभक्त ज्ञानेन्द्रिय के दिक्, वात, अर्क, वरुण और अश्वी नाम से प्रसिद्ध अधिष्ठाता हैं; मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार नाम से विभक्त अन्तःकरण के चन्द्र, चतुर्मुख, शंकर और अच्युत नाम से प्रसिद्ध स्वामी हैं; तथा वे पिण्डाण्ड में ब्रह्माण्ड के दैवत भावनानुसार नानानामधारी हैं; और इस जगद् की सारी व्यवस्था (प्राकृतिक नियम) एकस्वामिक के समान व्यवस्थित देखने में आती है; न कि ' मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती ' के न्याय से जैसे अनेक अधिकारियों से एक अधिकार अव्यवस्थित होता है, वैसी जगत् की कोई व्यवस्था अव्यवस्थित नज़र आती है; तब अगत्या गुणकर्मानुसारी नानाविध नामरूप का उपसंहार करके जगत् का एकस्वामी ' परमेश्वर ' अङ्गीकार करना पड़ता है । ऐसी दशा में जगत् के कल्याणार्थ गुणकर्मानुसारी नामरूपधारी अवतार अङ्गीकार करने में क्या बाधा है ? कुछ भी नहीं; यदि कहाजाय कि व्याप-

कता नहीं बनपड़ैगी, सो भ्रममात्र है; देखो—अग्नि विद्युद्रूप से प्रकट हुआ तो उसकी व्यापकता में क्या बाधा है ? कुछ भी नहीं; वायु वात्यारूप से प्रकट हुआ तो उसकी व्यापकता में क्या बाधा है ? कुछ भी नहीं; जगत् के बहुतेरे कार्य सामान्यरूप[1] से नहीं सिद्ध होसकते किंतु विशेषरूप से ही सिद्ध होते हैं जैसे सामान्य अग्नि से पाक नहीं होसकता, सामान्य वायु अग्नि को नहीं चमका सकता, सामान्य जल पिपासा को नहीं शान्त करसकता .... इत्यादि।

कितने एक अवतारों का लेख वेद में भी प्राप्त होता है। जैसे शतपथब्राह्मण के हविर्यज्ञ नामक प्रथमकाण्ड में अग्निहोत्र वेदी के इतिहास प्रसङ्ग में 'वामनो ह विष्णुरास' इत्यादि से विष्णु के वामन बनने का उल्लेख, तथा संहिता के सौमिक वेदी प्रतिपादक पञ्चमाध्याय के पन्द्रहवें मन्त्र से विष्णु के त्रिविक्रमत्व का उल्लेख, तथा शतपथ के प्रथम काण्डही में 'मनवे हवै प्रातः—' इत्यादि श्रुति से मत्स्यावतार की कथा। एवं त्रिपुर आदि का इतिहास[2]। बलराम और कृष्णका अवतार निम्न लिखित श्रुतियोंसे स्पष्ट होताहै—

'जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः
प्रापश्यद् वीरो अभिपौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृज-
दस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥'

---

१ सामान्यशब्द का अर्थ कार्यानुसार व्यवस्थित स्वीकार किया गया है।

२ विस्तार भय से श्रुतियां छोड़ दी हैं। इसी बहाने जिज्ञासु लोग उनकी देखभाल करें।

जिसने (जज्ञान एव) प्रकट होतेही (स्पृधः) स्पर्धा करनेवाले पूतनादि शत्रुओं को (व्यबाधत) बाधित किया । (अद्रिं) गोवर्धन पर्वत को (अदृंहद्) धारण किया । (सस्यदः) धान्य देनेवाले वर्षते मेघों को (अवसृजत्) विसर्जित किया । (स्वपस्यया) अपनी माया से (पृथुं) महान् (नाकं) इन्द्र को (अस्तभ्नात्) स्तम्भित किया । (वीरः) महावीर होकर भी (अभिपौंस्यं) पौरुषसाध्य (रणं) भारत युद्ध को निरस्त्र (प्रापश्यत्) देखा ।

'द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे
अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावा-
ञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥'

(अन्यान्या) अलग अलग (स्वर्थे) कार्य में तत्पर (विरूपे) निराली छविवाले (द्वे) वे दो बालक (चरतः) विचर रहे हैं । (वत्सं) बछरों को (उपधापयेते) समीप में दूध पिलवारहे हैं । उनमें (अन्यस्यां) एक (स्वधावान्) अखण्डैश्वर्य (हरिः) श्यामवर्ण (भवति) है, (अन्यस्यां) दूसरा (सुवर्चाः) तेजस्वी (शुक्रः) गौरवर्ण (ददृशे) दिखलाई देता है ।

'पूर्वापरं चरतो माययैतौ
शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्ट
ऋतूनन्यो विदधज्जायते पुनः ॥'

तैत्तिरीयश्रुति.

(एतौ) ये दोनों राम-कृष्ण (पूर्वापरं) आगे पीछे (चरतः) विचरते हुए (मायया) माया से (शिशू) बाल-रूप (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते करते (अध्वरं) कंस के धनुर्यज्ञ को (परियातः) जा पहुँचे। इनमें (अन्यः) एक कृष्ण योगेश्वर होने से (विश्वानि-भुवनानि) सारे ब्रह्माण्ड को (वि-चष्टे) जानता है। (अन्यः-पुनः) दूसरा राम (ऋतून्-दधत्) समयानुसार (जायते) अवतीर्ण हुआ। अर्थात् बलराम ने कृष्ण के समान 'तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं-' इत्यादि अद्भुतरूप से नहीं अवतार का ग्रहण किया।

नाम-रूप-लिङ्ग। परमेश्वर के नाम-रूप-लिङ्ग का दिग्दर्शन किया जाता है जिसके जानने से साकारोपासना तथा निराकारोपासना की दृढ़ता होती है। पहले अवतारों की सिद्धि होचुकी है वे श्रीमद्भागवतानुसार ये हैं—

पहिला अवतार हिरण्यगर्भादि[1] पदवाच्य, दूसरा वराह (रसातल में गई पृथ्वी के उद्धर्ता) तीसरा नारद (देवर्षि भाव को प्राप्त होकर सात्वततन्त्र अर्थात् पञ्चरात्रनामक वैष्ण-

१ 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' इति ऋक्श्रुति। 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥' इति स्मृति। 'जगृहे पौरुषं रूपं—' इत्यादि भागवत।

वागम के कर्ता) चौथा नर-नारायण (धर्मपत्नी से उत्पन्न होकर दुश्चर तप करनेवाले) पांचवां कपिल (कालवशलुप्त-सांख्य को आसुरिनामक ब्राह्मण को बतलानेवाले) छठां दत्तात्रेय (अत्रि से अनसूया में जन्म लेकर प्रह्लाद आदि को अध्यात्म-विद्या पढ़ानेवाले) सातवां यज्ञ (रुचि से आकूति में पैदा होकर अपने यामादिक पुत्रों के साथ स्वायंभुव मन्वन्तर के पालक) आठवां ऋषभ (नाभि से मेरुदेवी में उत्पन्न-अत्याश्रमी) नवां पृथु (पृथ्वी को दुहनेवाले) दशवां मत्स्य (मनु के रक्षक) ग्यारहवां कूर्म (समुद्र-मथन के समय मन्दराद्रि को अपने पीठ पर धारण करनेवाले) बारहवां धन्वन्तरि (आयुर्वेदके प्रकाशक) तेरहवां मोहिनी (स्त्रीरूप से असुरों को मोहित करके सुरों को अमृत पिलानेवाले) चौदहवां नृसिंह (हिरण्यकशिपु के नाशकर्ता) पन्द्रहवां वामन (बलिको बांधनेवाले) सोलहवां परशुराम (इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार करनेवाले) सत्रहवां व्यास (पराशर से सत्यवती में जन्म लेकर वेदों के विभाग करनेवाले) अठारहवां राम (दशरथ के पुत्र बन कर रावण के विध्वंसक) उन्नीसवां राम-कृष्ण (यदुकुल में प्रकट होकर भूभार के हर्ता) बीसवां बुद्ध[3] (अजन के पुत्र देवद्वेषियों के मोहक) इक्कीसवां कल्कि का अवतार (विष्णुयशा के पुत्र चौरप्राय राजाओं के विनाशक) ।

१–३ कहीं राम, तथा कृष्ण की अलग २ अवतार संख्या दी है; नर और नारायण की एकही संख्या दी है; बुद्ध के पितृनाम में ' जिन ' यह पाठान्तर श्रीधरी टीका से प्राप्त होता है ।

.४ ' अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ' इससे अवतारों की असंख्येयता, तथा ' एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः । मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥ ' इससे स्वरूपाध्यास, तथा ' यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले । एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥ ' यह दृष्टान्त दिया है । देखो श्रीधरी ।

और दशावतार का संग्राहक यह श्लोक है—

'मत्स्यः कूर्मोऽथ वाराहो नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥'

उक्त अवतारों से औपासनिक नाम-रूप-लिङ्ग का बोध स्पष्टरूप से होता है। परन्तु वैदिक निघण्टु में ऐसे नाम नहीं प्राप्त होते जिनसे चतुर्भुजादि आकार का परिचय हो; विष्णु आदि नाम प्राप्त होकर भी पूर्वकाण्ड में अग्नि आदि अन्य देवता के समान हविर्मात्र के भागी हैं; उत्तरकाण्ड में निराकार हैं; 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इत्यादि स्थल में उपासनार्थ साकार होकर भी किसी नियत आकार के बोधक नहीं हैं; जहां विष्णु आदि नाम नामान्तर के साथ पढ़े हैं—जैसे 'आग्नावैष्णवं—' इत्यादि—वहां पर भी अर्थान्तर के बोधक हैं; और 'यथाभिमतध्यानाद्वा' इत्यादि दार्शनिक लिङ्ग भी नियत आकार के व्यवस्थापक नहीं हैं। ऐसी दशा में विष्णु आदि पदार्थ के उपबृंहक इतिहास-पुराण ही शरण हैं; उनमें जिस आकार का जो उपबृंहक प्रकरण है उसके अनुसार आकार-प्रतिपादक नाम और सहपठित निराकार-प्रतिपादक नाम, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दशा की सिद्धि के लिये पर्यायरूप मानने चाहिये । अतएव अग्निपुराण आदि के आधार से रचे नाम-लिङ्गानुशासनों (कोषों) में ब्रह्मादि देवताओं के नाम एकत्र किये गये, जिनमें वैदिक सिद्धान्तसिद्ध भेदक और अभेदक ये दोनों नाम हैं । यह विषय आगे स्पष्ट होगा ।

नाम-रूप-लिङ्ग की उपबृंहक श्रुतियां—

"अथ यो ह खलु वा वास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्मा, अथ यो ह खलु वा वास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रः, अथ यो ह खलु वा वास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स योऽयं विष्णुः" इति मैत्रेयोपनिषत् ।

"उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रि[1]लोचनं नील[2]कण्ठं प्रशा[3]न्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥"

कैवल्योपनिषत् ।

"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताᳫं होवाच किमेतद् यक्षमिति ।"

सामवेदीय-तलवकारोपनिषत् ।

"तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् ॥ दुर्गां देवीᳫं शरणमहं प्रपद्ये सुतरसितरसे नमः ॥"

नारायणोपनिषत् ।

इत्यादि ।

पदार्थ के उत्पत्ति-स्थिति-संहाररूप अवस्था भेद के अनुसार परमेश्वर के ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूप अवस्था भेद वेद-दृष्टि

---

१ 'त्र्यम्बकं यजामहे—' (य० ३ । ६१) इत्यादि ।
२ 'नीलग्रीवः—' (य० १६ । ७) इत्यादि ।
३ 'या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥'
(य० १६ । ४९)
४ अन्य देवताओं के आकार के विषय में एवंविध मन्त्रलिङ्ग चारो वेद की मन्त्रसंहिताओं में तथा तैत्तिरीयमन्त्रसंहिता में नहीं प्राप्त होते (एक बार तो पढ़ देखिये) ।

से उत्पन्न हुए; और जड़ तथा चेतन रूप से विभक्त स्थावर-जङ्गमात्मक पदार्थ के भीतर ऊष्मा, वाहर प्रकाश की आवश्यकता के कारण अग्नीषोमात्मक सूर्य उत्पन्न हुए; पदार्थ और उसकी अवस्था[1] सिद्धि के लिये गणेश उत्पन्न हुए; पदार्थों के यथायोग्य अवस्थान के निमित्त शक्ति उत्पन्न हुई। उक्त ब्रह्म-कार्य-उत्पत्ति को शक्ति में अन्तर्भूत मान कर परमेश्वर की विष्णु आदि पञ्चदेवतात्मक उपासना प्रवृत्त हुई, जिसका विस्तार विष्णुपुराण, शिवपुराण, मार्कण्डेयपुराण, सूर्यपुराण और गणेशपुराण में भली भांति किया है। किं बहुना; सारे पुराण, उपपुराण और इतिहासों का उपसंहार इन्हीं विष्णु-शिव-शक्ति-गणेश तथा सूर्य की विभूतियों में हुआ है। जैसे पदार्थ के उत्पत्ति आदि तीन भाव-विकार से ब्रह्मा आदि तीन देवता कहे हैं वैसे ही पदार्थ के ऊष्मा तथा प्रकाश के कारण अन्य[2] भाव-विकार से सूर्य, और नियमित भाव-विकार के लाभार्थ[3] गणेश कहे हैं। और भाव-विकार ही से वेदान्त-दर्शन[4] में परमेश्वर का तटस्थ-लक्षण किया है। शब्दार्थरूप[5] जगत् में यह अर्थ-सृष्टि की व्यवस्था है, एवं शब्द-सृष्टि की भी व्यवस्था जाननी चाहिये।

---

१ पदार्थ की अवस्था।

२ "जायतेऽस्ति, विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति" वार्ष्यायणि।

३ 'विनायकः कर्म विघ्न—' याज्ञवल्क्य।

४ 'जन्माद्यस्य यतः' वेदव्यास।

५ 'नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमाद् व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपं जगत्। शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतं तद्वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं महः॥' शारदातिलककार।

परमेश्वरैक्य । चित्त के[1] अत्यन्त चञ्चल होने से परमेश्वर की निराकारोपासना पूर्वकाल में भी दुर्घट थी, वर्तमान काल में तो अत्यन्त दुर्घट क्या बल्कि असम्भव सी है । शिव महिमा में कहा है—

' अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
स्तद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥ '

अतएव मध्यमाधिकारी[2] और मन्दाधिकारी[3] के चित्तविश्रामार्थ पञ्चदेवात्मक साकारोपासना वेददृष्टि से कही है और उन पञ्चदेवताओं में श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण के अनुसार भेद नहीं है, किन्तु अभेद ही है । इस विषय में पहिले कुछ श्रुतियां दिखलाई जाती हैं—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् बहुधा विप्रा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ '
(ऋ० सं० २ अ० ३ अ० २२ अनु०)

' तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ '
(य० सं० ३२ । १)

---

१ ' चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम् ' (गीता ६ । ३४)

२–३ वर्तमान काल के उपासक मध्यम तथा मन्द नाम से चिढ़ेंगे क्योंकि उनके विचार में निराकारोपासना मौसी का घर है ।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥'
(कै० उ० प्रथम ख० ८ म०)

तथा, गायत्री-मन्त्र-प्रतिपाद्य एकही ब्रह्म सन्ध्या-प्रकरण में काल और स्थान भेद से ब्रह्मा-विष्णु-शिव रूप से ध्येय कहा है—

'पूर्वा संध्या तु गायत्री सावित्री मध्यमा स्मृता।
या भवेत्पश्चिमा संध्या सा तु देवी सरस्वती॥
रक्ता भवति गायत्री सावित्री शुक्लवर्णिका।
कृष्णा सरस्वती ज्ञेया संध्या-त्रयमुदाहृतम्॥'
'नीलोत्पलदलश्यामं नाभिदेशे प्रतिष्ठितम्।
चतुर्भुजं महात्मानं पूरकेणैव चिन्तयेत्॥
कुम्भकेन हृदिस्थाने ध्यायेच्च कमलासनम्।
ब्रह्माणं रक्तगौराङ्गं चतुर्वक्त्रं पितामहम्॥
रेचकेनेश्वरं ध्यायेल्ललाटस्थं महेश्वरम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निर्मलं पापनाशनम्॥'

आचारादर्श।

तथा, 'पञ्चायतन' पूजा में विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य, इन पांचों ब्रह्मधारा में प्रत्येक को प्रधान मान कर अन्य चारों को गौण माना है; इस प्रकार प्रत्येक देवता प्रधान और गौण सिद्ध होता है, यह बात परमार्थ-दृष्टि से अभेद मानने ही से संगत होती है अन्यथा मत्तप्रलाप समझी जायगी। इसी अभिप्राय से वेदव्यास ने विष्णुपुराण आदि

---

१ इसी मन्त्र के पूर्व में 'उमासहायं—' यह उक्त मन्त्र है।
२ आदि शब्द से कहीं पुराण और कहीं पुराण के प्रकरण का ग्रहण करना चाहिये।

में विष्णु को, शिवपुराण आदि में शिव को, देवीभागवत आदि में शक्ति को, गणेशपुराण आदि में गणेश को और सूर्यपुराण आदि में सूर्य को कारण ब्रह्म मानकर उनका उत्कर्ष और अन्यों को कार्यब्रह्म मानकर उनका अपकर्ष वर्णन किया है । अन्यथा अनेक ब्रह्मवाद लोक-वेद-विरुद्ध होगा, यह बात विद्वद्वर नीलकण्ठ ने महाभारत की टीका के मुखबन्ध में कही है । पञ्चायतन पूजा का क्रम यह है—

'शम्भौ मध्यगते हरीनहरभूदेव्यो, हरौ शंकरे—
भास्येनागसुता, रवौ हरगणेशाजाम्बिकाः स्थापिताः ।
देव्यां विष्णुहरेभवक्त्ररवयो, लम्बोदरेऽजेश्वरेनाम्बाः,
शंकरभागतोऽति सुखदा व्यस्तास्तु हानिमदाः ॥'

(निर्णय सिन्धु)

तथा, वेद, पुराण, इतिहास और तन्त्र में परमेश्वर के पञ्च देव संबन्धी जो नाम प्राप्त होते हैं उनमें से निराकार के स्पष्ट लिङ्ग नाम (अभेदक) लेने से अभेद और साकार के नाम (भेदक) लेने से भेद सिद्ध होता है । नाम दो प्रकार का; एक ओ३म् आदि, दूसरा विष्णु आदि । इनमें पहिला मन्त्र कहलाता है, दूसरा नाम-मन्त्र कहलाता है । मन्त्र, केवल वैदिक-केवल तान्त्रिक और वैदिकतान्त्रिक भेद से तीन प्रकार के हैं; नाम-मन्त्र भी तीन प्रकार के हैं परन्तु उनका पूर्वोक्त भेद ही में उपसंहार है। केवल वैदिक मन्त्र—'सहस्रशीर्षा—' आदि । केवल तान्त्रिकमन्त्र—'श्रीकृष्णः शरणंमम' आदि । उभयात्मक मन्त्र—'ओ३म् नमो नारायणाय' आदि । अब पहिले तान्त्रिक मन्त्रों के विषय में कुछ विचार करके बाद नाम द्वारा पञ्च देवताओं का अभेद दिखलाया जायगा ।

तान्त्रिकग्रन्थ के उल्लेख से 'तन्त्र' क्या पदार्थ है, इस बात की जिज्ञासा होती है। यद्यपि तन्त्र-शब्द का अर्थ दर्शन है तो भी यहां तन्त्र से विष्णु-शिव प्रोक्त ग्रन्थ विवक्षित हैं। जैसे कर्म के उपबृंहक कल्पसूत्र-मन्वादि स्मृति, उपासना के उपबृंहक शाण्डिल्य विद्या-पारमहंस संहिता, ज्ञान के उपबृंहक उपनिषद्-योगवासिष्ठ हैं; तथा कर्म-उपासना-ज्ञान के उपबृंहक पुराण-उपपुराण-इतिहास हैं; वैसेही प्रधान रूप से उपासना तथा ज्ञान के उपबृंहक तन्त्र हैं। जैसे उक्त ग्रन्थों में निराकार किंवा साकार ब्रह्म-भावनानुसार ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का प्रयत्नपूर्वक निरूपण है; वैसेही इस तन्त्र में ज्ञान-कर्मनिष्ठा की धूम है। जैसे उक्तग्रन्थों में उत्तम, मध्यम और मन्द अधिकारियों के अनुसार ही ज्ञान-कर्म तथा उनके अवान्तर भेदों का विनियोग कहा है-एवं तन्त्र में भी है। जैसे वैदिक-संपत्ति, शाखा-भेद आदि से अपरिच्छिन्न है-एवं तान्त्रिक-संपत्ति भी है।

अत एव ये वचन हैं—

'सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
अतिप्रमाणान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत्॥'[1]

योगि-याज्ञवल्क्य।

'सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
कृतान्त (सिद्धान्त) पञ्चकं विद्धि ब्रह्मणःपरिमार्गणे॥'

(विष्णु धर्मोत्तर)

'सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।

---

१ श्री रामानुजाचार्यकृत श्रीभाष्य में उत्तरार्ध यों है—
'आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः।'

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥
अपांतरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥
उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥
पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान् स्वयम् ।'

महाभारत ।

पञ्चरात्रादि तन्त्रों की गणना—पञ्चरात्र (नारद पञ्चरात्र) पाशुपतज्ञान अर्थात् शिवसूत्र, परशुराम सूत्र, चतुःषष्टितन्त्र, तथा दक्षिणामूर्ति संहिता, सनत्कुमार संहिता, परमानन्द, कुलार्णव आदि । चतुःषष्टि तन्त्रों का अनुगत विभाग यह है—

१ महामाया, २ शम्बर, ३ योगिनी, ४ जालशम्बर, ५ तत्त्वशम्बरक, ६ भैरवाष्टक, १४ बहुरूपाष्टक (ब्राह्मयादि सप्त माता और शिवदूती के प्रतिपादक—बहुरूप तन्त्र ८) २२ यामलाष्टक (ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मी यामल, उमायामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल, जयद्रथयामल) २३ चन्द्रज्ञान, २४ वासुकि, २५ महासंमोहन, २६ महोच्छुष्म, २७ वातुल, २८ वातुलोत्तर, २९ हृद्भेद, ३० भेद, ३१ गुह्य, ३२ कामिक कलावाद, ३४ कलासार, ३५ कुब्जिकामत, ३६ ततोत्तर, ३७ वीणास्य, ३८ त्रोतल, ३९ त्रोतलोत्तर, ४० पञ्चामृत, ४१ रूपभेद, ४२ भूतोड्डामर, ४३ कुलसार, ४४ कुलोड्डीश, ४५ कुलचूडामणि, ४६ सर्वज्ञानोत्तर, ४७ महाकालीमत, ४८ महालक्ष्मीमत, ४९ सिद्धयोगेश्वरीमत, ५० कुरूपिकामत, ५१ देवरूपिकामत, ५२ सर्ववीरमत, ५३ विमलामत, ५४ पूर्व, ५५ पश्चिम, ५६ दक्ष, ५७ उत्तर, ५८ निरुत्तर, ५९ वैशेषिक,

६० ज्ञान, ६१ वीरावलि, ६२ अरुणेश, ६३ मोहिनीश, ६४ विशुद्धेश्वर।

'एवमेतानि शास्त्राणि तथान्यान्यपि कोटिशः।
भवतोक्तानि मे देव सर्वज्ञानमयानि च॥'

यह उपसंहार-वाक्य है।

तन्त्रों में शिव-शक्ति का संवाद जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि परमशिव, प्रकाश तथा विमर्शसंज्ञक दो रूप धारण करके विमर्शांश से स्वात्मा को पूछा है और प्रकाशांश से स्वात्मा को उत्तर दिया है। यह बात इन प्रमाणों से जानी जाती है—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥'

स्वच्छन्दतन्त्र।

'स जयति महाप्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि।
कथमिव तस्मिन् दृष्टे सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदे॥
नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो[1] जगदुत्पादयति संहरति॥'

वरिवस्यारहस्य।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि तन्त्र-शास्त्र प्रमाणभूत है। और जो अपरार्क आदि कतिपय धर्मशास्त्री तन्त्र के प्रामाण्य में

---

१ शिव नाम की निरुक्ति यों कही है—

'हिसिधातोः सिंहशब्दो वशकान्तौ शिवः स्मृतः।
वर्णव्यत्ययतः सिद्धः पश्यकः कश्यपो यथा॥'

इतना धावन 'इच्छाशक्त्याश्रय' अर्थ के लाभार्थ।

आशङ्का करते हैं वे 'अतिप्रमाणान्येतानि—' इत्यादि पूर्वोक्त[1] वाक्यों से समाधेय हैं।

और जो भावजन्य दोष तन्त्र के कतिपय अंश में हैं वे समस्त किंवा व्यस्तरूप से वेद में भी उपलब्ध हैं। इस कारण दोनों की एक गति है। महाभारत के अनुक्रमणिका अध्याय में लिखा है कि—

'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क-
स्तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥'

और जो तन्त्र के अंश प्रत्यक्ष श्रुति-विरुद्ध हैं वे विरोधाधिकरणन्याय से जबतक मूल श्रुति का लाभ न हो तबतक आचरण के योग्य नहीं हैं। और जो—

"वामं पाशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम्।
न सेव्यमेतत्कथितं वेदबाह्यं तथेतरत्॥
कापालं पञ्चरात्रं च यामलं वाममार्हतम्।
एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु॥"

इत्यादि पाशुपत विशेष[2], पञ्चरात्र विशेष[3] तथा अन्यान्य जो सर्वांश से वेदविरुद्ध हैं वे महापातक-दूषित—वेद-भ्रष्ट तथा अन्यान्य जाति के लिये कहे हैं यह सब बात इन[4] वाक्यों से स्पष्ट है—

---

१ 'ततस्तु लक्षने—' मनु० ११। १५।

२—३ पाशुपत तथा पञ्चरात्र के द्वैविध्यसे 'विशेष' पद का दान किया है।

४ यहां कतिपयवचन विद्वद्वर श्रीनकछेदरामप्रणीत सनातनधर्मोद्धार से लिये हैं।

'पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वैखानसाभिधम् ।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान् ॥
श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्ते भयं गतः ।
क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत् ॥'

साम्बपुराण।

'अथांशुः सात्त्वतो नाम विष्णुभक्तः प्रतापवान् ।
महात्मा दाननिरतो धनुर्वेदविदां वरः ॥
स नारदस्य वचनाद् वासुदेवार्चने रतः ।
शास्त्रं प्रवर्तयामास कुण्डगोलादिभिः श्रितम् ॥
तस्य नाम्ना तु विख्यातं सात्त्वतं नाम शोभनम् ।
प्रवर्तते महाशास्त्रं कुण्डादीनां हितावहम् ॥'

कूर्मपुराण।

'तेनोक्तं सात्त्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग् भवेत् ।
यत्र स्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः ॥'

श्रीभागवत।

इत्यादि दुर्व्यवस्थाओं से ही वेदान्तदर्शन के सूत्र-भाष्य में पाञ्चरात्रिक भागवत-प्रक्रिया और पाशुपत-प्रक्रिया का खण्डन किया है, न कि पारमार्थिक वैष्णव शैव प्रक्रिया का ।

प्रकृत में नाम द्वारा पञ्च देवताओं का अभेद यों है—

विष्णु के कृष्ण (श्याम—संवलिया) केशव (अच्छे घुंघु-वाले बालवाला) पीताम्बर (चमकदार पीले वस्त्रों को

---

१ 'अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः ।'

२ 'पत्युरसामञ्जस्यात् । उत्पत्त्यसंभवात्' इत्यादि सूत्रों के शारीरकभाष्य में ।

३ पारमार्थिक-वैष्णव-प्रक्रिया नृसिंहतापिनी, गोपालतापिनी, रामतापिनी (उपनिषद) आदि ग्रन्थों में स्पष्ट है ।

धारण करनेवाला) आदि नाम; शिव के चन्द्रशेखर, त्र्यम्बक, भूतेश आदि नाम; शक्ति के सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी आदि नाम; गणेश के हेरम्ब, लम्बोदर आदि नाम; तथा सूर्य के विकर्तन, विरोचन आदि नाम; आकारोपाधिक होने से कृष्ण आदि पांच आकार (विशेष्य) के बोधक होते हैं। यदि विष्णु (वेवेष्टि) शिव (शिवयति) शक्ति (शक्नोति) गणेश (गणानामीशः) और सूर्य (सुवति) एकत्व विवक्षा से ग्रहण किये जायं तो आकारोपाधिक (नियत रूप के बोधक) न होनेसे परस्पर विशेषण-विशेष्य-भाव को प्राप्त होकर एक व्यक्ति (परमेश्वर) के बोधक होते हैं। यही रहस्य पञ्चायतन की मुख्य गुण-भाव-कल्पना में भी है। किं बहुना, पौराणिक तान्त्रिक सहस्रनाम-स्तोत्रों में ये दोनों प्रकार के नाम (भेदक-अभेदक) पढ़े हैं और इन्हीं विष्णु आदि नाम के अनुरोध से वैष्णव आदि उपासकों की संज्ञा हुई है। और जो—

' छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत-
त्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ '

(श्वे० उ० ४–९, १०)

इत्यादि उपनिषद् वाक्यों के अनुसार माया (शक्ति) और मायावान् (शक्तिमान्-परमेश्वर) ये धर्मधर्मि-भेद से दो पदार्थ कल्पना किये हैं, इनको चाहे लक्ष्मी और विष्णु शब्द

से वा, शिव और शक्ति शब्द से कहो। पर अर्थ में एकही है इसी अभिप्राय से यह कहा है—

' नित्यं निर्दोषगन्धं निरतिशयसुखं ब्रह्म चैतन्यमेकं
धर्मो धर्मीति भेदद्वितयमिति पृथग्भूय मायावशेन ।
धर्मस्तत्रानुभूतिः सकलविषयिणी सर्वकार्यानुकूला
शक्तिश्चेच्छादिरूपा भवतिगुणगणश्चाश्रयस्त्वेक एव ॥
कर्तृत्वं तत्र धर्मी कलयति जगतां पञ्चसृष्ट्यादि कृत्ये
धर्मः पुंरूपमद्धा सकलजगदुपादानभावं बिभर्ति ।
स्त्रीरूपं प्राप्य दिव्या भवति च महिषी स्वाश्रयस्यादिकर्तुः
प्रोक्तौ धर्मप्रभेदादितिनिगमविदां धर्मिवद्ब्रह्मकोटी ॥ '

अप्पय दीक्षितः ।

अर्थात् एक सच्चिदानन्दरूप निर्विकार ब्रह्म है, वह अपनी माया से धर्म और धर्मीभाव को प्राप्त होता है, उसकी इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति ही धर्म है और इन सब गुणों का आधार वही एक धर्मी है, धर्मी जगत् के सूक्ष्म स्थूल कार्य को करता है और धर्म उस कार्य का उपादान कारण बनता है, तथा धर्मही स्त्रीरूप होकर अपने आश्रय आदिकर्ता धर्मी पुरुष को प्राप्त होता है, इस प्रकार वैदिकदृष्टि से दिव्य दम्पती की स्थिति है। और—

' द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ '

यहभी मानवीय श्लोक है ।

पीठायतन । उपास्य के पूजन के लिये नानाविध पीठायतन कहे हैं। जैसे—जल, अग्नि, हृदय, सूर्य, स्थण्डिल (वेदी) प्रतिमा (मृत्तिका काष्ठ पाषाण धातु की निर्मित तथा स्वयम्भू) और यन्त्र आदि ।

'अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च।
षट्स्वेतेषु हरेः सम्यगर्चनं मुनिभिः स्मृतम् ॥'

अग्निपुराण।

'स होवाच प्रजापतिः, षडरं वा एतत् सुदर्शनं महाचक्रं—' इत्यादि।

नृसिंहतापिनी।

'ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति। तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं, तदन्तरालेऽनलास्रयुगं, तदन्तराद्यार्णाखिलबीजं कृष्णाय नम इति—' इत्यादि।

गोपालतापिनी।

'एवं त्रिकोणरूपं स्यात्—' इत्यादि।

रामतापिनी।

यहां जल से सामान्य जल तथा गङ्गा यमुना आदि के विशेषजल; अग्नि से गृह्याग्नि, श्रौताग्नि और तान्त्रिकाग्नि; हृदय से श्रुतिप्रसिद्ध हृदय तथा तन्त्रप्रसिद्ध अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार; सूर्य से भौतिक सूर्यमण्डल तथा चन्द्रमण्डल; स्थण्डिल से अनेकविध मनोहारी पवित्र पीठ; प्रतिमा से परमेश्वर के परिचायक नानाविध चल तथा स्थिर आर्ष आकार विशेष; यन्त्र से विहित द्रव्य से विहित आधार पर लिखित आर्ष विन्दु त्रिकोणादि संनिवेश विशेष का ग्रहण इष्ट है।

---

१ शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती। मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥' भागवत.

पीठायतन के विषय में कुछ श्रुतियां दिखलाते हैं—

'सितासिते सरिते यत्र संगते
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरा-
स्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥'

इससे गङ्गा यमुना और इनका संगम तथा संगमस्थान का फल स्पष्ट है। इसीलिये 'तीर्यते अननेति तीर्थम्=संसार-सागर से तिरने का उपाय' यह तीर्थ शब्द का अर्थ है और इसीसे लक्ष्यानुसार तीर्थराज-प्रयाग की सिद्धि होती है।

'तदेवाग्निस्तदादित्यः—'

इस पूर्वोक्त श्रुति से अग्नि आदि प्रसिद्ध हैं।

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।'
'शतं चैका हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥'

इससे हृदयादि स्थान का बोध होता है। और कई एक साहसी यह कहते हैं कि वेद में मूर्तिपूजन नहीं है, अतएव—

'न तस्य प्रतिमा अस्ति
यस्य नाम महद्यशः'

इस श्रुति में प्रतिमा का निषेध है। उनको यह समझना चाहिये कि यहां पर 'प्रतिमा' शब्द का अर्थ मूर्ति नहीं है; किन्तु 'उपमा' अर्थ है।

उक्त मन्त्र का यह अर्थ है—उसकी उपमा नहीं है जिसका नाम और यश सर्वत्र फैल रहा है अर्थात् परमेश्वर निरुपम है। और परमेश्वर के रूप में यह श्रुति भी प्रमाण है—

'द्वे वा ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च'.

मूर्तिशब्द का अर्थ स्त्रीपुंसाकारही नहीं है किन्तु आकार-मात्र, इसी अभिप्राय से रुद्राध्याय आदि के द्वारा परमेश्वर के पुरुषाकार सिद्ध होने पर भी उसके 'अष्टमूर्ति' आदि नाम प्रसिद्ध हुए। और विशेषतः स्त्रीपुंसाकार के कथन का यह आशय है कि शास्त्रकी प्रवृत्ति मनुष्यों के लिये कही है। अतएव 'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्—वे.१।३।२५।' इत्यादि महर्षियों के वचन प्रवृत्त हुए। और जब परमेश्वर निराकार साकार दोनों ही है, तो केवल साकार के अभिप्राय से ही मूर्तिपूजन नहीं प्रवृत्त हुआ, किंतु निराकार के अभिप्राय से भी। अतएव 'रूपोपन्यासाच्च—वे॰ १।२।२३।' इत्यादि कल्पना की गई। यदि यह कहाजाय कि साकार के प्रतिबिम्ब होनेसे मूर्तिपूजा मान भी लीजाय, पर निराकार के प्रतिबिम्ब न होनेसे मूर्तिपूजा कैसे संगत होगी? यह सब कुतर्क-मात्र है। देखिये, आकाश के निराकारता में भी प्रतिबिम्बाकाश का व्यवहार होता है; एवं शब्द का प्रतिबिम्ब—प्रतिशब्द कहलाता है; तो उक्त आकार मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

---

१ 'न तत्प्रुतस्य प्रतिमा चराचरे' श्रीहर्ष।

२ 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या—' कालिदास.। 'साष्टमूर्तेश्च मूर्तिः' भास्कराचार्य।

यथासंभव पूर्वोक्त आयतन पीठपर षोडशोपचार वा पञ्चो-पचार वा मानसोपचार से पूर्वाह्ण में पञ्चायतन पूजा वा इष्टदेव पूजा कीजाती है। यह पूजा आहिताग्नि को संध्योपासन और नित्य हवन के पश्चात्, अनाहिताग्नि को संध्योपासन के पश्चात् और द्विजभिन्न पवित्र जाति को स्नान के पश्चात् करना चाहिये। स्थापित प्रतिमा, शालग्राम और बाणलिङ्ग में आवाहन, विसर्जन नहीं किये जाते। और शालग्राम तथा बाणलिङ्ग की पूजा में द्विजभिन्न को अधिकार नहीं है। विष्णु की पूजा में ऊर्ध्वपुण्ड्र और शिव आदि की पूजा में त्रिपुण्ड्र का लेख है। ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र पूजाकाल में जल, भस्म वा गाङ्गआदि पवित्र मृत्तिका से ही किये जाते हैं, पूजा के बाद देवशेष चन्दन से उनकी सजावट होती है। पञ्चदेवों में सूर्य को बिल्वपत्र और गणेश को तुलसीपत्र चढ़ाना मना है, पर शिव को बिल्वपत्र और विष्णु को तुलसीपत्र अतिप्रिय है। रुद्राक्षमाला से सब देवताओं के मन्त्र का जप होता है, पर विष्णु को तुलसीमाला शिव को रुद्राक्षमाला अतिप्रिय है। शालग्राम और बाणलिङ्ग आदि कतिपय मूर्तियों को छोड़कर औरों का नैवेद्य ग्रहण करना मना है।

देवताओं के विशेष तीर्थ ये हैं—(१) अयोध्या, (२) मथु (धु) रा, (३) द्वारका और काञ्चीका अर्धभाग, यों

१। (१) आवाहन, (२) आसन, (३) पाद्य, (४) अर्घ्य, (५) आचमनीय, (६) स्नान, (७) वस्त्र, (८) उपवीत, (९) चन्दन, (१०) पुष्प, (११) धूप, (१२) दीप, (१३) नैवेद्य, (१४) नमस्कार, (१५) प्रदक्षिणा, (१६) विसर्जन। ये उपचार पुरुषसूक्त से वा अन्य मन्त्रों से होते हैं।

२ ' पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्। ' मनु०।

साढ़े तीन पुरी विष्णु की हैं। और (१) काशी, (२) उज्जयिनी, (३) माया तथा काञ्चीका अर्धभाग, यों साढ़े तीन पुरी शिव की हैं । इस प्रकार विष्णु और शिव की प्रधान सात पुरी शास्त्रलोक में प्रसिद्ध हैं । एवं विष्णु की विशाला, शिव का सेतुबन्ध है। (१) कामाक्षा, (२) उड्याण (जगन्नाथपुरी नाम से प्रख्यात), (३) जालंधर और (४) पुण्यगिरि, ये चार स्थान शक्तिपीठ कहलाते हैं ।

भक्ति। भक्ति, ज्ञान का अवस्था विशेष है । जैसे निराकारोपासना में ज्ञान प्रधान है, इसी प्रकार साकारोपासना में भक्ति प्रधान है । इसके छ प्रकार हैं— (१) मानसी, (२) वाचिकी, (३) कायिकी, (४) लौकिकी, (५) वैदिकी, (६) आध्यात्मिकी । इनके लक्षण पद्मपुराणीय अम्बरीष-नारद के संवाद में यों कहे हैं—

'अथ भक्तिं प्रवक्ष्यामि त्रिविधां पापनाशिनीम् ।
त्रिविधा भक्तिरुद्दिष्टा मनोवाक्कायसंभवा ॥
लौकिकी वैदिकी वापि भवेदाध्यात्मिकी तथा ।
ध्यानधारणया बुद्ध्या देवानां स्मरणं च यत् ॥
विष्णुप्रीतिकरी चैषा मानसी भक्तिरुच्यते ।
मन्त्रवेदनमस्कारैरधिसंध्यं विचिन्तनैः ॥
जाप्यैश्चारण्यकैश्चैव वाचिकी भक्तिरुच्यते ।
व्रतोपवासनियमैस्तथेन्द्रियनिरोधनैः ॥
कायिकी सा तु निर्दिष्टा भक्तिः सर्वार्थसाधिका ।
भूषणैर्हेमरत्नाढ्यैश्चित्राभिर्वाग्भिरेव वा ॥

---

१ परमेश्वर के विषय में जो इष्टसाधनता का ज्ञान यही भक्ति को उत्पन्न करता है । ज्ञान में अन्तःकरण, भक्ति में बाह्यकरण प्रधान है ।

वासःप्रभृतिभिः सूत्रैः पत्रैर्व्यजनोत्थितैः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च सर्वबल्युपहारकैः ॥
भक्ष्यभोज्यान्नपानैश्च या पूजा क्रियते नरैः ।
नारायणं समुद्दिश्य भक्तिः सा लौकिकी मता ॥
ऋग्यजुःसामजाप्यानि संहिताध्ययनानि च ।
क्रियन्ते विष्णुमुद्दिश्य सा भक्तिर्वैदिकी मता ॥
दार्विष्टिरित्तिः सोमपानं याज्ञिकं कर्म सर्वशः ।
अग्निभूम्यनिलाकाशजलशंकरभास्करम् ॥
यमुद्दिश्य कृतं कर्म तत्सर्वं विष्णुदैवतम् ।
आध्यात्मिकीयं त्रिविधा ब्रह्मभक्तिः स्थिता नृप ॥'

भक्ति के मानसी आदि पहिले तीन प्रकार में अगिले तीन प्रकार अन्तर्भूत हैं, क्योंकि मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार से अन्य कोई व्यापार नहीं हैं । अतएव इन व्यापारों के दुष्ट होने से मनु ने 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥' ये तीन दुर्विपाक कहे हैं । मानसी आदि तीन भक्तियों में कर्म और उपासना के प्रतिपादक सारे शास्त्र समाप्त हुए हैं । यही बात उक्त भक्ति लक्षण से जानी जाती है । और जो लौकिकी भक्ति के लक्षण में नृत्य[1], गीत, वादित्र का प्रसङ्ग आया है, उसका यह आशय है कि सत्त्वगुण के उद्रेक में भक्त[2] स्वयं नृत्य आदि करके अपने उपास्य की प्रसन्नता प्राप्त करे । इसी विषय का उपबृंहण याज्ञवल्क्य ने किया है—

१ 'नृत्यं चोदरार्थं निषिद्धम्' इति श्रीधर स्वामी ।

२ भक्त चार प्रकार के—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी (गीता) ।

'यथाविधानेन पठन् सामगायमविच्युतम् ।
सावधानस्तदभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं मकरीं तथा ।
औवेणकं सरोविन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंज्ञितम् ॥
वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥'

प्रायश्चित्ताध्याय. (१२-११४)

इत्यादि वचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि विषयवासना की बहुतायत से इस समय में देवमन्दिरों में जो नृत्य गान प्रवृत्त होरहे हैं और जो रासलीला[1] आदि जगमगा रही हैं, वे सब परमार्थ में भक्ति के साधन न होकर विक्षेप वा व्यभिचार के अवश्य साधन होते हैं।

इसी अभिप्राय से कहा है—

'उपासना ध्यानधृती समाधिः
स्वर्गापवर्गौ चरितानि दूरे ।

---

१ देखिये श्रावण मास में अयोध्या आदि पुण्यक्षेत्रों में दोलोत्सव (झूला) की बहार। अत एव कहना पड़ा—

'वैधानि कर्माणि यथेष्टमात्रान्योद्यापनीत्याहह कल्पयित्वा ।
प्रायेण संप्रत्यपरे वरेण्या विश्वंभरार्चा परिपीडयन्ति ॥
विधीयते यत्र न वेदपाठो न वा पुराणागमसद्व्रतानि ।
उद्योतितातोद्यवितानभद्रया किं ? सा सपर्या परमार्थकोटिः ॥
श्रद्धाथ भक्तिर्विहिता यदर्थं सा मूर्तिपूजा क्रमशोऽपयाति ।
यत्राद्भुता वैषयिकाः प्रवाहाः सा भूरिभावं भजते समन्तात् ॥'

चातुर्वर्ण्यशिक्षा.

इतोऽधुना साधुविधीं धुनाना
श्रृङ्गारिणां वल्गति रासलीला ॥'

चातुर्वर्ण्यशिक्षा।

भक्ति और भक्तों के प्रसङ्ग में यह हठात् कहना पड़ता है कि वर्तमानकाल में प्रायः अपने अपने वर्ग को निराले ढंग पर चलाने के लिये निराले ही कुछ नियम कायम करने पड़े। इसी कारण से वैष्णव-शैवों में आपस में विरोध बढ़ने लगा, इनमें क्या वैष्णवों में भी आपस में नहीं बनती। पूर्वकाल में जो वैष्णव-शैव आदि सहमत होकर रहते थे वे सब बातें अब उठगईं, परस्पर विद्रोह होने लगा। यहां तक कि पुराने ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिये गये और पुराने के नाम से नये ग्रन्थ बना डाले गये। ऋषियों ने जिसलिये भक्ति को कहा वहां वह न रहकर माला-तिलक पर जा डटी। ये नये वैष्णव लोग शैव, शिवभस्म, रुद्राक्ष आदि की निन्दा करने लगे और शैव वैष्णवों के ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि की निन्दा करने लगे। परन्तु विष्णु की निन्दा नहीं, क्योंकि शैव लोग शिव और विष्णु का भेदभाव नहीं मानते जो कोई मानते हों वे शैव ही नहीं हैं और न ऐसे शैव वा वैष्णव ही का होना शास्त्र से सिद्ध है। यही पुराने वैष्णवों का भी मत है। देखिये श्रीतुलसीदासजी ने अपने रामायण में कहा है—

शिवद्रोही मम दास कहावै।
सो नर सपनेउ मोहिं न पावै॥

और इसी अभिप्राय से यह सुभाषित प्रसिद्ध है—

'उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदाच्च भिन्नवद्भानि।
कश्चिन्मूढः कलयति हरिहरभेदं विना शास्त्रम्॥'

इत्यादि।

और उक्त वैष्णवलोग, जो चार संप्रदायों में विभक्त हैं और जिन संप्रदायों की जाग्रति भारत के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के बाद हुई है; उनमें से पहिले संप्रदायवाले श्रीविशिष्टाद्वैतवादी (आचारी लोग) अपने मत ग्रन्थों में, जो श्रुति स्मृति पुराण इतिहास में धक्का लगानेवाली विष्णुभक्ति प्रकट की है उसका दिग्दर्शन किया जाता है—

'तापादिपञ्चसंस्कारैर्महाभागवताः स्मृताः।
चक्रादिहेतिभिस्तप्तं ताप इत्यभिधीयते॥
संस्कारः प्रथमः प्रोक्तो द्वितीयः पुण्ड्रधारणम्।
तृतीयो नामकरणं वैष्णवं पावनं परम्॥
सार्थज्ञानं चतुर्थं स्यान्मन्त्राध्ययनमुच्यते।
पञ्चमस्तु हरेः पूजा पञ्चरात्रोक्तमार्गतः॥
तदीयार्चनपर्यन्तं हरेराराधनं स्मृतम्।
इत्येवमादिसंस्कारी महाभागवतः स्मृतः॥
अन्येत्ववैष्णवाः प्रोक्ता हीनास्तापादिभिर्द्विजाः।
तथा ह्यवैष्णवा ज्ञेयाः प्राकृताः पापकारिणः॥
वादशास्त्रेषु निपुणास्ते वै निरयगामिनः।
अवैष्णवत्वं विप्राणां महापातकसंमितम्॥

१ आशय। विष्णु और शिव, इन दोनों का भक्तवत्सलता आदि एक ही स्वभाव है, पर ज्ञानभेद से दो मत मिलते हैं सो यह मानना सर्वनाश का निशान है। एवं, विष्णु शिववाचक–हरि हर नाम से भी वही बात सिद्ध होती है–हरि हर की एक प्रकृति (धातु) है प्रत्यय (अ-इ) भेद से दो नाम मालूम होते हैं, यह शास्त्र विरुद्ध है।

अवैष्णवस्तु यो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।
रौरवं नरकं प्राप्य चाण्डालीं योनिमाप्नुयात् ॥
चतुर्वेदी च यो विप्रो वैष्णवत्वं न विन्दति ।
वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः ॥
पाखण्डितं च पतितमुन्मत्तं शवहारिणम् ।
अवैष्णवं द्विजं स्पृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत् ॥
चक्रादिचिह्नहीनेन स्थाप्यते यत्र कर्मणि ।
न सांनिध्यं हरेर्याति क्रियाकोटिशतैरपि ॥
अवैष्णवस्थापितानां प्रतिमानां च वन्दनम् ।
यः करोति स मूढात्मा रौरवं नरकं व्रजेत् ॥
शूद्रादीनां तु रुद्राद्या अर्चनीयाः प्रकीर्तिताः ।
रुद्रार्चनं त्रिपुण्ड्रं च यत्पुराणेषु कीर्तितम् ॥'

ये वचन श्रीविशिष्टाद्वैत-वादियों की वसिष्ठस्मृति में लिखे हैं ।
और—

'तस्मात्त्रिपुण्ड्रं विप्राणां न धार्यं मुनिसत्तमाः ।
यद्यज्ञानात्तं बिभृयुः पतितास्ते न संशयः ॥
अवैष्णवस्तु यो विप्रश्चण्डालादधमः स्मृतः ।
न तेन सह भोक्तव्यमापद्यपि कदाचन ॥'

ये इन लोगों के प्रजापति के वचन हैं । तथा—

'चक्रादिचिह्नरहितं प्राकृतं कलुषान्वितम् ।
अवैष्णवं तु तं दूरात्—श्वपाकमिव संत्यजेत् ॥
रुद्रार्चनाद् ब्राह्मणस्तु शूद्रेण समतां व्रजेत् ।
न भस्म धारयेद् विप्रः परमापद्गतोऽपि वा ॥
मोहाद्वै बिभृयाद्यस्तु स सुरापो भवेद् ध्रुवम् ।'

ये वचन इनकी हारीतस्मृति के हैं ।

तथा—

'विना यज्ञोपवीतेन विना चक्रस्य धारणात् ।
विना द्वयेन वै विप्रश्चण्डालत्वमवाप्नुयात् ॥
अचक्रधारिणं विप्रं यः श्राद्धे भोजयिष्यति ।
रेतोमूत्रपुरीषादि स पितृभ्यः प्रयच्छति ॥
शङ्खचक्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरहितो ब्राह्मणाधमः ।
स जीवन्नेव चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥'

ये इनकी पराशरस्मृति के उद्गार हैं ।

एवं श्रीविशिष्टाद्वैत-वादियों (आचारियों) के कल्पित अन्यान्य ग्रन्थ भी हैं । जैसे—भार्गवपुराण, पद्मपुराणीय उत्तर खण्ड, भारद्वाजसंहिता, परमेश्वरसंहिता, बृहद्ब्रह्मरहस्यसंहिता, सुदर्शनमीमांसा, चक्रोल्लास, प्रपन्नामृत, नारायणसारसंग्रह इत्यादि ।

यह अनूठा निन्दा प्रकार देखकर आश्चर्य होता है और इन्हों के लिखे हुए रागद्वेषकलुषितवाक्यों से ब्राह्मणों की चण्डालता, इनसे अन्य वैष्णवों की अवैष्णवता, तथा शिवादिकों की अपूज्यता आदि कैसे सिद्ध होसकती है, कथमपि

---

१ द्वयसंज्ञक मन्त्र ये हैं—

'श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये' 'श्रीमते नारायणाय नमः' इनकी प्रशंसा कई स्थान में है । (वैष्णव प्रदीप)

२ विज्ञजन 'आदि' शब्द का अर्थ ढूँढ़ें ।

३ आप लोगों की भारद्वाजसंहिता का वचन है कि—

'नातिसङ्गं परिचरेत् पित्रादीनप्यवैष्णवान् ।
ब्रह्मरुद्रदिगीशार्कतच्छक्तिप्रभवादयः ॥
नित्यमभ्यर्चने वर्ज्याः कामोऽपि स्यान्न तन्मुखः ॥'

नहीं। यह बात मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास आदि के वाक्यों से विवेक रखनेवालों को अज्ञात नहीं है इसीलिये अधिक कहना व्यर्थ है। और उक्त वाक्यों से जो चक्रशंख से शरीर का अङ्कन तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र का धारण विधान किया है उसमें से चक्र-शङ्ख वा धनुर्बाण से वैष्णवों का अङ्कन;[1] और त्रिशूल-डमरू से शैवों का अङ्कन;[2] त्रैवर्णिकों[3] का धर्म नहीं है, किंतु अन्यों का धर्म है। और ऊर्ध्वपुण्ड्र का धारण त्रैवर्णिक-धर्म भी है; परन्तु नाना द्रव्यों से नानाप्रकार का ऊर्ध्वपुण्ड्र सर्व-वैष्णव-मान्य नहीं है, अत एव प्रत्येक संप्रदायों के ऊर्ध्वपुण्ड्रों के आकार पुराणों में नहीं प्राप्त होते। अङ्कन के विषय में कतिपय श्रुति प्रमाण दी जाती हैं उनमें से पहली श्रुति यह है—

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्नतदामोऽश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समासत ॥'
(ऋक् सं० ७ अष्टक ३ अध्या० ८ वर्ग ५ मं०)

इस मन्त्र से अङ्कन कथमपि नहीं सिद्ध होता। यह सोम के सम्बन्ध का मन्त्र है (देखिये वेदभाष्य)

दूसरी श्रुति—

'सहोवाच याज्ञवल्क्यः, तस्मात् पुमान् आत्महिताय हरिं भजेत्। सुश्लोकमौलेर्वर्माण्यग्निना संदधते ॥'

यह श्रुति 'शतपथ' के नाम से निर्णयसिन्धु में लिखी है; परंतु 'शतपथ' में नहीं प्राप्त होती।

१-२ धनुर्बाण से अङ्कन अर्थात् तप्तमुद्रा धारण वैरागियों में और त्रिशूल-डमरू से अङ्कन लिङ्गायतों में प्रसिद्ध है।

३ 'शिवकेशवयोरङ्कान् शूलचक्रादिकान् द्विजः।
न धारयेत मतिमान् वैदिके वर्त्मनि स्थितः ॥'
निर्णयसिन्धु २ परि०

तीसरी श्रुति—

'प्रतद्विष्णो अब्जचक्रे सुतप्ते जन्माम्भोधी तर्तवे चर्षणीन्द्राः ।
मूले बाह्वोर्दधन्ये पुराणा तु लिङ्गान्यङ्गे तप्तायुधान्यर्पयन्त ॥'

यह श्रुति सामवेद के नाम से लिखी है, परंतु उसमें नहीं प्राप्त होती । यदि कहीं 'अल्लोपनिषद्' के समान कल्पित भाग में मिले तो भलेही मिलो ।

और—

'अग्निहोत्रं तथा नित्यं वेदस्याध्ययनं तथा ।
ब्राह्मणस्य तथैवेदं तप्तमुद्रादिधारणम् ॥'

यह पद्मपुराण का वचन है, इसमें वेदपाठ-अग्निहोत्र के तुल्य अङ्कन-विधि लिखी है, यदि वास्तव में ऐसी ही होती तो वेदपाठ अग्निहोत्र के समान अङ्कनविधि भी ब्राह्मण, कल्पसूत्र और मन्वादि ग्रन्थ में अभ्रान्त प्राप्त होती और वेदपाठ अग्नि-होत्र के समान अङ्कन के विषय में किसी को संदेह न उत्पन्न होता । परंतु इस अङ्कन (तप्तमुद्राधारण) को श्रीरामानुजा-चार्य तथा श्रीमध्वाचार्य के संप्रदायवालों को छोड़कर अन्यसंप्रदायी भी नहीं मानते तो औरों की क्या कथा है ?

ऊर्ध्वपुण्ड्र विशेष के विषय में ये वचन मिलते हैं—

नारद उवाच ।

ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्रव्यमन्त्रस्थानादिसंयुतम् ।
ब्रूहि मे देवदेवेश यथाहं धारयामि (वै) ॥ ७६ ॥

श्रीवासुदेव उवाच ।

श्वेतं पीतं तथा रक्तं द्रव्यं तु त्रिविधं स्मृतम् ।
पुण्ड्राणां धारणे विप्र मयैव प्रकटीकृतम् ॥ ७७ ॥
तेषु रक्तं श्रिया देव्या मत्स्नेहात्प्रकटीकृतम् ।

श्रीकुङ्कुमेति विख्यातं सदा माङ्गलिकं मुने ॥ ७८ ॥
केवलं भक्तिदं पुंसाममङ्गलविनाशनम् ।
पुण्ड्राणामन्तरालस्थं मुक्तिदं मुनिसत्तम ॥ ७९ ॥
समुद्रमथनोद्भूता कमला मम वल्लभा ।
यदा तदाब्धिनाप्येषा दातुं मां समलंकृता ॥ ८० ॥
सुरासुराणां मध्ये च स्वयमेव विधानतः ।
दातुं कन्यां कञ्जकरां समुद्रः समुपस्थितः ॥ ८१ ॥
सा तमालोक्य देवेशमात्मनो हितमीश्वरम् ।
प्रेमातिशयतो नेत्रादम्भोबिन्दुममूमुचत् ॥ ८२ ॥
तेनाभूद् वीरुधः प्रेम नियतः परमाद्भुतः ।
तेनैव सा हरिं प्राप्ता वीरुधेन स्वयंवरे ॥ ८३ ॥
हरिं द्राति परप्रेम्णा निजार्थोत्र विचार्य (सा) ।
प्रापणाच्च हरेः साक्षाद् हरिद्रेयं प्रकीर्तिता ॥ ८४ ॥
लक्ष्म्याः प्रेमतरुः साक्षाद् हरेरत्यन्तवल्लभः ।
संवीक्ष्य चिह्नितं तेन भक्तं प्रीणाति केशवः ॥ ८५ ॥
लक्ष्मीप्रेमात्मकं द्रव्यं साक्षात्किं न करोति च ।
धनधान्यं समृद्धिं च रूपसौभाग्यसंपदम् ॥ ८६ ॥
विवाहव्रतबन्धादि जन्मयात्रासु युज्यते ।
द्रव्यं माङ्गलिकं साक्षाद् हारिद्रं प्रेमभाजनम् ॥ ८७ ॥
या नारी भालदेशे तु बिभर्ति प्रत्यहं द्विज ।
सा नारी लभते भाग्यं सुखं च निजमन्दिरे ॥ ८८ ॥
लक्ष्मीर्न मुञ्चति प्रेम्णा पार्श्वं तस्यास्त्वहर्निशम् ।
प्रयच्छति वरान् प्रीता जायते पतिवल्लभा ॥ ८९ ॥
' लक्ष्मी प्रेमसमुद्भूते हरिद्रे हेमसंनिभे ।
बिभर्मि त्वां महाभागे वरदा भव ते नमः ॥ ९० ॥ '

इति मन्त्रेण या नारी श्रीचूर्णमभिमन्त्रितम्।
स्नात्वा धारयते नित्यं सा लक्ष्मीव विराजते॥ ९१॥
लक्ष्मीरूपमिदं द्रव्यं पुण्ड्रमध्ये बिभर्ति यः।
दास्यं स लभते विष्णोः सत्यं सत्यं ब्रवीम्यहम्॥ ९२॥
पुण्ड्ररूपेण मां विद्धि रेखारूपेण वै श्रियम्।
संधारयन्ति ये भाले बाहुवक्षस्थलादिषु॥ ९३॥
ज्ञानाय मुक्तये चूर्णं पुण्ड्रमध्ये बिभर्ति यः।
स प्रियो ह्यावयोर्भूत्वा मामकं धाम याति हि॥ ९४॥
अज्ञोऽपि ज्ञानसिद्ध्यर्थं मुक्त्यर्थं चापि यो भजेत्।
ज्ञानं मुक्तिमवाप्नोति रहस्यं ते ब्रवीम्यहम्॥ ९५॥
हरिद्रासंभवं चूर्णं टङ्कणेन समन्वितम्।
भावितं चाम्लद्रव्येण रक्तत्वमुपयाति हि॥ ९६॥
वैवाहिकेषु योगेषु स्नात्वामलकवारिणा।
संस्मृत्य परमां देवीं कमलां मम वल्लभाम्॥ ९७॥
हिरण्यवर्णाममलां वसुपात्रकरद्वयाम्।
मातुलिङ्गधरां देवीं गन्धद्वारां मनोरमाम्॥ ९८॥
पूजार्थं तव देवेशि वैकुण्ठप्राणवल्लभे।
आज्ञां देहि महामाये श्रीचूर्णं साधये यथा॥ ९९॥
हिरण्यवर्णेतिऋचां पञ्चकेन महामनाः।
प्रोक्षयेद् रजनीद्रव्यं पञ्चगव्येन शोधयेत्॥ १००॥

---

१ कैसा सुलभ अनुष्ठान है।

२ यही पदार्थ श्री-रोली-कुङ्कुम-आदि नाम से प्रसिद्ध है। श्री हनुमान् आदि कतिपय मूर्ति पर रोली के बदले सिन्दूर चढ़ाया जाता है वा सिन्दूर का स्वतन्त्र विधान है?

अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य च ।
पञ्चामृतेन संस्नाप्य तक्रमध्ये निचिक्षिपेत् ॥ १०१ ॥
भूमिं संलिप्य तद्भाण्डं स्थापयेन्मृण्मयोद्भवम् ।
रात्रौ संरक्षयेद् दुष्टच्छायातो हृष्टमानसः ॥ १०२ ॥
ग्रन्थीनां तक्षणं कुर्याद् इतिर्णा सूक्तमुच्चरन् ।
द्वितीये मृण्मये भाण्डे छायाशुष्कं विधाय च ॥ १०३ ॥
प्रातः स्नात्वा शुचिर्भूत्वा नित्यकर्म विधाय च ।
पात्रमुद्धृत्य हृन्मन्त्रं जप्त्वा कुर्याद् वहिस्ततः ॥ १०४ ॥
भावयेदम्लद्रव्येण शुद्धनिम्बूद्रवेन च ।
अम्लपिष्टेन वा तत्र टङ्कणं पातयेद् बुधः ॥ १०५ ॥
दत्वा चैरण्डपत्राणि मुखे मारुतवर्जिते ।
प्रदेशे स्थापयेद् यावद्रक्तत्वमुपजायते ॥ १०६ ॥
तावद्विधूपयेन्नित्यं यथा छाया न संक्रमेत् ।
पश्चात् संशोध्य यत्नेन शिलया चूर्णयेद् दृढम् ॥ १०७ ॥
सुगन्धस्नेहतैलेन भावयेच्चन्द्रकेण वा ।
देव्याः प्रीतिकरं चूर्णं निष्पन्नं जायते यदि ॥ १०८ ॥
वासयेन्मालतीपुष्पैस्तिलानीव महामनाः ।
यावत्संपद्यते गन्धः श्रीचूर्णं कमलाप्रियम् ॥ १०९ ॥
निष्पाद्य मङ्गलद्रव्यमष्टपत्रे च धारयेत् ।
पूजयेद् विविधोपायैस्तथा नीराजयेन्निशि ॥ ११० ॥
द्वादश्यां जन्मसमये श्रीदेव्याः प्रयतो नरः ।
संपूज्य परमां देवीं सर्वावरणसंयुताम् ॥ १११ ॥

---

१ साधन प्रकार ।

इदं द्रव्यं मया देवि प्रीत्या निष्पादितं तव ।
स्वीकुरुष्व महामाये विष्णुपत्नि नमोऽस्तु ते ॥ ११२ ॥
धारणार्थं पृथक् कुर्याद् बिल्वपात्रे विशेषतः ।
श्रिये जातेति वा केन विभृयादिति मे मतम् ॥ ११३ ॥
पुण्ड्रार्थं श्वेतद्रव्यं हि समानीतं गरुत्मता ।
श्वेतद्वीपान्महाभाग मलयाद्रौ निवेष्टितम् ॥ ११४ ॥
मलयाद्रिसमुद्भूतां मृदमादाय वैष्णवः ।
करोति चोर्ध्वपुण्ड्राणि स ऊर्ध्वपदमश्नुते ॥ ११५ ॥
यस्य भाले हरेर्नाम श्वेतद्रव्येण दृश्यते ।
अन्तकाले मृतो याति श्वेतद्वीपं स पातकी ॥ ११६ ॥
न तथा वल्लभं विष्णोश्चन्दनं कुङ्कुमान्वितम् ।
यथा मलयकूटस्थं यद् द्रव्यं चन्द्रपाण्डुरम् ॥ ११७ ॥
विष्णोर्ललाटे यः प्रेम्णा करोति तिलकं मुदा ।
श्वेतद्वीपमृदा नित्यं स प्रियः कमला यथा ॥ ११८ ॥
स्नाने दाने प्रयाणे च श्राद्धे पर्वणि मङ्गले ।
होमे सुरार्चने पुण्या श्वेतद्वीपामलामही ॥ ११९ ॥
श्रीगोपीचन्दनं नाम पीतद्रव्यं महामते ।
वैकुण्ठलोकादानीतं द्वारकायां प्रतिष्ठितम् ॥ १२० ॥
सर्वेषां गोपनाद् गोपो वासुदेवोऽहमेव हि ।
अनन्ताः शक्तयो गोप्यो मदीया एव नारद ॥ १२१ ॥
मदङ्गलेपितं पुण्यं वैकुण्ठे कुङ्कुमान्वितम् ।
गोपीभिः क्षालितं तस्माद् गोपीचन्दनमुच्यते ॥ १२२ ॥[1]
[1] भावयन्त्यपरे भक्ताः पुण्ड्रं तु हरिमन्दिरम् ।

---

१ ऊर्ध्वपुण्ड्र की निरुक्ति ।

लक्ष्मीनारायणं तत्र बुद्ध्या ध्यायन्ति नित्यशः ॥ १३५ ॥'
..................इत्यादि । (बृहद्ब्रह्मसंहिता चतुर्थपाद)
' अशुचिर्वाप्यनाचारी महापापयुतोऽपि हि ।
पुण्ड्रसंधारणादेव निर्भयत्वं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा म्लेच्छा वान्त्यजजातयः ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रधराः सर्वे नमस्या देवता इव ॥ ५७ ॥ '
..............इत्यादि । (बृहद्ब्रह्मसंहितासुदर्शनगीता.)

उक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र से पूर्णरीत्या सहमत श्रीरामानुजाचार्य के अनुयायियों को छोड़कर अन्यसंप्रदायी वैष्णव भी नहीं हैं और ऊर्ध्वपुण्ड्र के विषय में निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थों में भी अनेकानेक संकीर्ण वाक्य प्राप्त होते हैं जिनका निर्णय अल्प-साधन से दुःशक है । वैष्णव चार संप्रदायों के जो चार आचार्य हुए हैं उनमें श्रीरामानुजस्वामी भारी विद्वान् हुए, आप जिस संप्रदाय में दीक्षित हुए उसके प्रथमाचार्य श्रीशठकोप शूद्रजातीय थे, यह वृत्त श्रीनिवासाचारिकृत दिव्यसूरिचरित्र नामक ग्रन्थ के चौथे सर्ग से ज्ञात होता है और उनके विषय में—

' विचक्षणो विश्वविमोहहेतुः
कुलोचिताचारकलानुषक्तः ।
पुण्ये महीसारपुरे विधाय
विक्रीय शूर्पं विचचार योगी ॥'

यह श्लोकभी सुप्रसिद्ध है ।

आधुनिक वैष्णवों का शैवों[1] के साथ द्वेष क्यों । जब शैव, विष्णु को पूज्यतम मानते हैं, और तुलसी आदिका

१ यहां शैवशब्द से स्मार्त उपासकमात्र का ग्रहण है ।

शिवपूजन में उपयोग करते हैं, विष्णुचरणामृत तथा एकादशी-जन्माष्टमी व्रत से पराङ्मुख नहीं हैं, इस दशा में पूर्वापर विचार से यही ज्ञात होता है कि जब श्रीशठकोप आदि शूद्राचार्य के संप्रदाय में श्रीरामानुज आदि ब्राह्मण व्यक्ति दैववशात् प्रवृत्त हुए और ये लोग अपने ब्राह्मणसमाज में शूद्राचार्यक होने के कारण हीनदृष्टि से व्यवहृत हुए तब कुपित होकर इन लोगों ने अपने संप्रदाय के प्रतिष्ठार्थ अनेक ग्रन्थ और वाक्य बनाये तथा श्रुति-स्मृति को गौरवार्थ ढाल बनाया। जो अन्य वैष्णव भी इनके आचार से सहमत हुए वे भी इन लोगों की तरह शैवद्वेषी हुए। बाक़ी संप्रदायी वैष्णव भी शैवद्वेषी न हुए। जैसे वल्लभ-संप्रदायी वैष्णव लोग.... ।

'परमेश्वरैक्य' प्रकरण में पञ्च देवताओं का ऐक्य अनेक प्रकार से सिद्ध हो चुका है। अब विष्णु और शिव के कतिपय घनिष्ठ संबन्धों को दिखलाते हैं—जब शिव, विष्णुपदी (गङ्गा)[1] को धारण करते हैं और विष्णु, शिवकृपा से प्राप्त चक्र[2] (सुदर्शन) को धारण करते हैं तथा विष्णु-शिव मिलकर हरिहर ([3]हरिहरावतार) बने; तब उपास्यों के ऐसे हिलमिल बर्ताव में उपासकों का अनमिल बर्ताव क्यों? और

१ 'गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्। त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्॥'

२ 'हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्। गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम्॥'

३ 'अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं देवेत्थं जगतीतले स्मरहराभावे समुन्मीलति। गङ्गा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां मां च भिक्षाटनम्॥'

विष्णुने रामरूप से रामेश्वर (लिङ्ग) की स्थापना की तथा कृष्णरूप से पुत्रार्थ शिव की तपस्या की, ये बातें रामायण और भारत आदि में विख्यात हैं । और देखिये शिवकी दिव्यमूर्ति की यह महिमा लिखी है—

' तवैश्वर्यं यत्नाद् यदुपरि विरञ्चिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश य-
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १ ॥

और देखिये इतिहास-पुराणधुरन्धर रोमहर्षण (सूत) का नैमिषीय ऋषियों के प्रति यह वचन है—

' विष्णुर्विश्वजगन्नाथो विश्वेशस्य शिवस्य तु ।
आज्ञया परया युक्तो व्यासो जज्ञे गुरुर्मम ॥ '

(सूतसंहिता माहात्म्यखण्ड १ अध्या० ४२ श्लो०)

इत्यादि अनेकानेक प्रमाणों से विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार विष्णु शिव के मूर्तिभेद मानने पर भी उनका परस्पर पूज्य-पूजक वा ध्यातृ-ध्येय भाव के निर्बाध होने से जगत् की एक स्वामिकता में विरोध नहीं है ।

और जो स्मृति-पुराण-महर्षियों को गुण विभाग से विभक्त मानते हैं, तथा विष्णु के अतिरिक्त शिवादि मोक्ष को नहीं दे सकते—इत्यादि गीत गाया करते हैं; वे सब बातें वास्तविक विचार से विरुद्ध हैं । यह मात्स्य वचन है—

' यस्मिन् कल्पे च यत्प्रोक्तं पुराणं ब्रह्मणा पुरा ।
तस्य तस्य च माहात्म्यं तत्स्वरूपेण वर्ण्यते ॥
अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्तितम् ।
राजसेषु च कल्पेषु माहात्म्यं ब्रह्मणो विदुः ॥

संकीर्णेषु सरस्वत्या पितॄणां च निगद्यते ।
सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः ॥
तेष्वेव योगसंसिद्धा गच्छन्ति परमां गतिम् ॥'

यह स्मृतिविभाग है–

'मानवी याज्ञवल्की च आत्रेयी दाक्षिणी तथा ।
कात्यायनी वैष्णवी च राजसी स्वर्गदा स्मृतिः ॥
शाङ्खी चौशनसी देवि तामसी नियमप्रदा ।'

यह पुराणविभाग है–

"वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् ।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शनम् ॥
षडेतानि पुराणानि सात्त्विकानि मतानि मे ।"
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च ।
भविष्यद् वामनं ब्राह्मं राजसानि मतानि मे ॥'
'मात्स्यं कौर्मं तथा लिङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च ।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि मतानि मे ॥'

यह महर्षिविभाग है–

'कणादं गौतमं शक्तिमुपमन्युं च जैमिनिम् ।
कपिलं चैव दुर्वासं मृकण्डुं च बृहस्पतिम् ॥
भार्गवं जमदग्निं च दशैतांस्तामसानृषीन् ।'

यह मोक्षहेतु है–

'पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः ।
रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम् ॥
जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥'

यहां ये सब वाक्य सात्त्विक गुण के अभिप्राय से आपाततः

भूमिका।

विष्णु में समन्वित किये गये हैं पर इन वाक्यों की सुप्रसिद्ध वर्णाश्रम व्यवस्थापक ग्रन्थों के साथ एकवाक्यता होनी असंभव है।

मन्वादि-शास्त्रानुसार कल्प (ब्रह्मदिन) कृत, त्रेता, द्वापर, कलि तथा मन्वन्तरसंज्ञक कालविभाग से विभक्त माना गया है; और कृतादि विभाग के अनुसार ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यात्मक सात्त्विक भाव पादक्रम से न्यून कहागया है; और एक गुणोपाधिक कार्य ब्रह्म की उपासना कहीं नहीं है, किन्तु सर्वगुणोपाधिक कारण ब्रह्महो की उपासना सर्वत्र कही है; अत एव उनके सर्वगुणमय चरित्र इतिहास-पुराणों में जगमगा रहे हैं; और एककर्तृक लोकव्यवस्था मानने में एकत्रही राजस, सात्त्विक, तामस गुणों का उपसंहार है, वासनाभेद से वह (अधिष्ठान) चाहे राम-कृष्ण नाम से उपास्य हो वा विष्णु-शिव नाम से उपास्य हो; और उपास्य-प्राप्ति (मोक्ष) भक्ति-ज्ञान से है, भक्ति-ज्ञान की उत्पत्ति अन्तःकरण शुद्धि से कही है; ऐसी दशा में व्युत्थान काल में वर्णाश्रममर्यादा के बांधनेवाले मन्वादि तथा ज्ञाननिष्ठ कपिलादि, काल्पनिक सात्त्विक-राजस-तामस कल्प (कोटि) से क्यों घसीटे जाते हैं ? और यह खैंचातानी भगवान् वेद-पुरुष तक क्या नहीं पहुँची ? अवश्य पहुँच कर उनको ढीला करादिया।

काल की दशा-

'विज्ञा व्याकृतिदण्डनेन शतधा वेदोऽर्थतः पात्यते
तत्पोष्याः स्मृतयोऽवसन्नमनसो ऽङ्गोपाङ्गमुद्भ्रमियात्ति'।

काको हंसति हंस एति वकतां वर्णोऽन्यवर्णायते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥ १६६ ॥'

उक्त विषय के सहायक प्रमाण-वाक्य पहिले आचुके हैं और यथाप्रसङ्ग आगे ज्ञानकाण्ड में आवेंगे ।

मन्त्र और उसका अर्थ देवता, इन दोनों का जैसे श्रुति-स्मृति में प्रतिपादन है वैसाही उनका तन्त्र (आगम) में भी पूर्ण प्रतिपादन है । पहिले विष्णु-शिव की एकता लिखी जा चुकी है अब देखिये ब्रह्मा, विष्णु, शिव नवार्णमन्त्र-प्रतिपाद्य शक्ति के ऋषि कहे हैं; तथा अन्यान्य तन्त्रों में राम-कृष्ण की उपास्य अन्यान्य शक्ति लिखी हैं, तथा मन्त्रशास्त्रीय-बीज (वर्णविशेष) राम-कृष्ण के मन्त्र में पढ़े हैं, पढ़िये रामतापिनी-गोपालतापिनी उपनिषत् । तथा ओड्याणपाठस्थायी श्री जगन्नाथजी के प्रसादभक्षण की व्यवस्था को देखकर कतिपय लोग उसे वामाचरण ठहराते हैं, इसीके आस पास श्री वदरीनारायण में अटके की हाल है । इधर प्रायः सब संप्रदायी वैष्णवलोग अपने अपने संप्रदायानुसार दीक्षितलोगों में वर्णभेद का आदर नहीं रखते इत्यादि ।

३ ज्ञानकाण्ड । उपासनाकाण्ड में सविशेष-ब्रह्म (साकार) का विस्तारपूर्वक निरूपण होचुका है । अब निर्विशेष-ब्रह्म (निराकार) का निरूपण किया जाता है । यद्यपि वर्तमान-काल में ज्ञानमार्ग के अधिकारी देखने में नहीं आते, जो दीखते हैं वे कर्मभीरु वा कर्म के अनधिकारी होने के कारण ज्ञान का शरण ले रहे हैं तो भी 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' की न्याय से कोई ज्ञानमार्ग के भी अधिकारी होंगे इस दृष्टि से उसके मन्तव्य विषय में कुछ सिद्धान्त लिखते

हैं । परमेश्वर के निर्विशेषरूप का निरूपण (अशब्दमस्पर्श-मरूपमव्ययं-' इस श्रुति में किया है और इसी अभिप्राय की ये श्रुतियां हैं-

' अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारमपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः । ' माण्डूक्य.

' यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः । ' मुण्डक.

' यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति-' इत्यादि । बृहदारण्यक.

इन सिद्धान्त श्रुतियों से निर्विशेष ब्रह्म (निराकार) अर्थात् नाम-रूप आदि समस्त उपाधि से रहित केवल सच्चिदानन्द ज्ञात होता है । इसी कारण वह श्रुति-स्मृतिरूप नेत्रही से कथमपि देखने योग्य है अन्य नेत्रद्वारा नहीं देखा जा सकता । यही बात इन श्रुति-स्मृतियों से स्पष्ट है-

' पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभुः
तस्मात् पराङ् नान्तरात्मन् ।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छ-
दावृत्ते चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ '

कठ.

भावार्थ-परमेश्वर ने इन्द्रियों को आत्मा के ग्रहण करने में समर्थ नहीं बनाया इस कारण वे स्थूल पदार्थ ही का ग्रहण कर सकती हैं उस आत्मा के प्रत्यक्षकरने में असमर्थ हैं ।

कोई सा जितेन्द्रिय महापुरुष मोक्ष की वासना से शास्त्रद्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष करता है।

'चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥'

मुण्डक.

'यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥'

स्मृति.

और यही आशय 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (वे०द० ३।२।२४) इस सूत्र का है तथा इस कल्पतरु के श्लोक का है-

'अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजाप्रमा।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः॥'

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि उस निर्विशेष (निराकार) परात्मा का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता वह केवल ज्ञानगम्य है। और जो कहीं इसका प्रत्यक्ष होना लिखा है वह सब मायासृष्टि है, इसीलिये 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद' यह कहा है। और यही अभिप्राय भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान् के दिव्यरूप को जो देखा है उसका है। कृष्ण-भगवान् के साधारण अवतारस्वरूप को तो उस समय के सबलोग देखते ही रहे। यही बात रामावतार में भी जाननी चाहिये।

सविशेष और निर्विशेष इन दो विशेषणों से ब्रह्म दो प्रकार का जाना जाता है उनमें सविशेष अर्थात् नाम-रूप की

विचित्रता से अनेक रस ब्रह्म (साकार) के लिये है, परमार्थ में वह निर्विशेष (निराकार) ही है, इस सब सिद्धान्त को भगवान् वेदव्यास ने तृतीयाध्याय के दूसरे पाद में भली भांति कहा है, जिसके संग्राहक पूर्वपक्षसिद्धान्तरूप श्रीभारती तीर्थ के ये श्लोक हैं-

'ब्रह्म किं ? रूपि, वाऽरूपं, भवेन्नीरूपमेव वा ।
द्विविध-श्रुतिसद्भावाद् ब्रह्म स्याद्-उभयात्मकम् ॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः ।
रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तम्, उभयत्वं विरुध्यते ॥'

उक्त ब्रह्म की प्राप्ति में ज्ञान ही एक साधन है, ज्ञान के बिना ब्रह्म नहीं पहिचाना जाता, ब्रह्मलाभ-ब्रह्मदर्शन-ब्रह्म साक्षात्कार ज्ञानही से होता है; यही श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदिकों का आदेश-उपदेश-सुभाषित-सारांश है । विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपराम, तितिक्षाषट्क, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वं पदार्थशोधन, ये आठ ज्ञान के अन्तरङ्ग साधन हैं और कर्म बहिरङ्ग साधन है । अत एव ब्रह्म (आत्मा) के साक्षात्कार में ज्ञान और कर्म का परमार्थदृष्टि से समुच्चय, वा विकल्प, वा अङ्गाङ्गिभाव कथमपि नहीं है । उक्त विषय में कतिपय प्रमाण-वाक्य लिखते हैं-

'न कर्मणा न प्रजया धनेन-'
'नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा-'
'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः-'

इत्यादि श्रुति.

'ज्ञानं निश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वपातकैः॥'

'व्रतानि दानानि तपांसि यज्ञाः
सत्यं च तीर्थाश्रमकर्मयोगाः।
स्वर्गार्थमेवाशुभमध्रुवं च
ज्ञानं ध्रुवं शान्तिकरं महार्थम्॥'

'अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च
कामस्य रूपं च वपुर्वयश्च।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च
मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः॥'

इत्यादि स्मृति.

किंबहुना, प्रतितन्त्र सांख्यदर्शन में भी कहा है कि—

'ज्ञानान्मुक्तिः। बन्धो विपर्ययात्। नियतकरणत्वान्न समुच्चय-विकल्पौ। स्वप्नजागराभ्यामिव मायिका मायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य' (३ अध्याय २३–२६ सूत्र.)

तथा भगवद्गीताभाष्य में भगवत्पाद ने भी केवल ज्ञान ही से मोक्षप्राप्ति कही है और अन्त में तात्पर्य-निर्णायक भाष्य में गीताशास्त्र का रहस्य दिखलाया है। प्रमाणवाक्य—

'तस्माद् गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिः, न कर्म-समुच्चितादिति निश्चितोऽर्थः'।

ऐसी दशा में भी ज्ञान कर्म की सहानुभूति के लिये श्रीभाष्य में यह एक अलौकिक कल्पना की है कि जैमिनि की द्वादशाध्यायी (पूर्वमीमांसा) अपने परिशिष्ट चतुरध्यायी (संकर्षणकाण्ड) के साथ षोडशाध्यायी बनती है, इस षोडशा-ध्यायी और वेदान्तचतुरध्यायी (ब्रह्मसूत्र) की जो एकविंशत्य-

ध्यायी (१२ अध्याय पूर्वमीमांसा + ४ अध्याय संकर्षण-काण्ड + ४ अध्याय उत्तर मीमांसा=२० अध्याय) बनती है उसको एक शास्त्र मानना चाहिये। भला देखिये तो सही प्रवृत्ति निवृत्तिरूप धर्मों के भेद से जिज्ञासा के भेद होने पर भी उनके भिन्नप्रतिपादक शास्त्रों को एक बना देना कैसी उद्दण्डता है।

कई एक वादी सविशेष ब्रह्म (साकार) ही को उपास्य मानते हैं निर्विशेष ब्रह्म (निराकार) को उपास्य नहीं बतलाते परन्तु यह बात अविचारित रमणीय है। जब श्रुति स्मृतियों में दोनों की उपासना कही है तब एकही की उपास्यता क्यों? अधिकारिभेद से दोनों की उपासना क्यों नहीं? सविशेष ब्रह्म के नानात्व के कारण उसकी उपासना का भी नानात्व है अर्थात् ध्येयाकार के भेद से ध्याता के धारण, ध्यान, समाधि (संयम) और उपचार भिन्न हैं, इधर अन्त में विशेषक-गुणों का उपसंहार मानकर निर्विशेष ही पर विश्राम होता है भलेही वह एक विषयक-विशेष (आकार) क्यों न हो, श्रुतिसिद्ध अव्याकृतावस्था तो शिर पड़ी है; इस कारण निर्विशेष ब्रह्म प्रधान है उसके एकत्व के कारण उसकी उपासना धारण-ध्यान-समाधि एकाश्रित है, और ब्रह्म के निर्विशेषत्व का निरूपण करके उसके साक्षात्कार का मोक्ष-रूप फल इस सिद्धान्तश्रुति में प्रसिद्ध है—

‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥’
कठोपनिषद्.

ऐसी अवस्था में सविशेष पक्ष लेकर विष्णु वा शिव के ऐच्छिक एकही आकार पर अथवा ऐच्छिक आकार के उपसंहार पर निर्भर होकर ब्रह्मसूत्रों की योजना करना ऐच्छिक व्याख्या (ब्रह्मसूत्र-भाष्य) नहीं है तो और क्या है ? उसे क्या कहना चाहिये ? देखिये यदि किसी संहिता ब्राह्मणभाग, वा तदाश्रित ब्रह्मसूत्र में विष्णु वा शिव का सविशेष (आकारघटक लिङ्ग) प्राप्त होता तो पुराणों की तरह सविशेष (विष्णु शिव आदि) के अभिप्राय से ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करने में क्या दोष था ? कुछ भी नहीं । पर ऐसा न होने से भगवान् वेदव्यास ने निर्विशेष के लक्ष्य से तदनुकूल 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस शास्त्रारम्भ के सूत्र में किया । ऐसी दशा में सविशेष पक्ष का आलम्बन करके 'ब्रह्म' शब्द का केवल विष्णु वा केवल शिव अर्थ करना एकदेशीय-मत है। अत एव ये सब व्याख्यान एकदेशी हैं—

'ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते।' श्रीभाष्य.।

'अनन्ताचिन्त्यस्वाभाविकस्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्बृहत्तमो यो रमाकान्तः पुरुषोत्तमो, ब्रह्मशब्दाभिधेयः—' वेदान्तपारिजातसौरभ.

'ब्रह्मशब्दश्च विष्णावेव' पूर्णप्रज्ञदर्शन.

तात्पर्य यह है कि 'सविशेष ब्रह्मवाद' में भी ब्रह्मशब्द केवल विष्णु का वाचक नहीं होसकता क्योंकि ब्रह्मशब्द का विष्णु में शक्तिग्रह नहीं है इसीलिये श्रुति स्मृति में ब्रह्म विष्णु शिव आदि शब्द पर्याय (प्रयोगप्रवाह से एकार्थक) नहीं माने गये । यदि वेदान्तप्रक्रिया से ब्रह्मशब्द का विष्णु अर्थ

माना जाय तब उसके शिवादि अर्थ भी किसी तरह खण्डित नहीं होसकते अर्थात् ब्रह्मशब्द पञ्चदेवतावाचक हुआ। विज्ञानभिक्षु ने भी कहा है कि—

"यत्त्वाधुनिकाः केचन परस्य साक्षादपि लीलाविग्रहं कल्पयन्ति तदप्रामाणिकम्, विष्णवादीनामेव लीलावतारश्रवणात्। विष्णवादीनां च परमात्मन्येवाहं भावात्तेषामवतारा एव परमेश्वरावतारतया श्रुतिस्मृतिपूच्यन्ते। ते न तु ते भ्रान्ताः 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते—' इत्यादि श्रुतिभ्यः परमेश्वरस्य कार्यकारणाख्यशरीरद्वयप्रतिषेधात्। 'अनादिमत् परं ब्रह्म सर्वदेहविवर्जितम्' इत्यादि स्मृतिभ्यश्चेति दिक्।" तथा—'ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः' इति।

(योगवार्तिक.)

और उक्तरीति से ब्रह्मशब्द केवल पञ्चदेवतामात्र का वाचक नहीं है, किंतु राम-कृष्ण आदि इतिहास-पुराण-तन्त्र प्रसिद्ध अनेकानेक लीलाविग्रह का भी वाचक है। यही तात्पर्य रामतापिनी-गोपालतापिनी आदि ग्रन्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है— (राम)

'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासनानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना।
द्विचत्वारिषडष्टासां दश द्वादश षोडश॥
अष्टादशापि कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना॥

शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा ।
कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना ॥'
रामतापिनी.

(कृष्ण)

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥'
गोपालतापिनी.

'कृष्यते विलिख्यते इति कृट्, भूमिः सर्वाधारः; निर्वृतिः आनन्दः सुखम्; तयोरैक्यं सामानाधिकरण्यम् । तच्च यदा कर्मधारयेण भवति तदा परंब्रह्म कृष्णे इति शब्देनाभिधीयते । अथवा भूग्रहणं दृश्योपलक्षणम्; निर्वृतिः सुखस्वरूपं ब्रह्म, तयोरैक्यम् अध्यासनिवृत्त्या शुद्धात्मतापादनम् । ' इति नारायणः ।

पश्चात्ताप का विषय है कि जब शास्त्रों में अथ से इति तक यथास्थान निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन प्राप्त होता है और उसी का प्राधान्य माना है; केवल उपासनार्थ सविशेष ब्रह्म का निरूपण किया है; और निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि के लिये अद्वैतवाद तथा उसके उपयोगी अध्यासवाद विवर्तवाद आदि श्रुति युक्तिसिद्ध पदार्थ कल्पना किये हैं और यह अद्वैतवाद आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् अनुभव में आता है यह बात–

'देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥'

इत्यादि श्रुति-स्मृति-युक्ति-सिद्ध प्रमाणों से स्पष्ट है और व्यवहार दशा में द्वैतवाद ही मानागया है तोभी हठात् संप-

दायियों ने निर्विशेषवाद खण्डनपूर्वक सविशेषवाद की सिद्धि के लिये दुर्व्याख्याओं से भगवान् वेदव्यास के ब्रह्मसूत्रों को आकुल कर दिया है और मायावाद के विरोधी होकर भी श्रुति स्मृतियों को साधारण लोगों के लिये घोर मायावाद में पटक दिया है, एवं कुकर्म से जो प्रत्यवाय होता है वह धर्मशास्त्र में छिपा नहीं है। अब साधारण लोगों के भी समझ में आने योग्य निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिपादक कुछ श्रुतियां दिखलाते हैं, जिनमें दृढ़ता के लिये वार वार उसी बात की चर्चा की गई है—

'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥'
(निचाय्यतन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते)

केनोपनिषत्.

कई एक कारणों से ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) का अर्थ वही माननीय (श्रवण-मनन-निदिध्यासनयोग्य) है जिसको भगवत्पादने शारीरक-भाष्य में लिखा है और जिसका विस्तार ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-छान्दोग्य-बृहदारण्य-ऐतरेय उपनिषदों के भाष्यों में तथा श्री ६ गीताभाष्य में किया है।

कारण—'श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ।
उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंमितम् ॥
'युगे युगे ममांशश्च हरांशश्चैव शङ्करः ।
उद्धरिष्यति मे मूर्तीस्तावकीनहृदाच्छुभात् ॥'

इत्यादि प्रमाणों से श्री ६ शङ्कर-भगवत्पाद का अवतार वेदान्त-सिद्धान्त तथा श्रौत-स्मार्त कर्म के स्थापन के लिये हुआ है ।

भगवत्पाद श्रीवेदव्यास की शिष्यपरम्परा में परिगणित हैं इसलिये व्यासकृत ब्रह्मसूत्रों का आशय जो उन्होंने वर्णन किया है वही प्रामाणिक है ।

भगवत्पाद ने श्रुतियों के आधार पर जिस अद्वैतवाद के अनुसार प्रस्थानत्रय का भाष्य किया है वही भगवान् वेदव्यास का आशय था, वह भारत के अनेक स्थलों में विभक्त है जिसका परिचय इस भारतीय-माङ्गलिक-श्लोक से भी होता है—

'नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥'

श्रीलक्ष्मणार्यश्रित-नीलकण्ठव्याख्या—' नरोऽविद्यावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः, तेन विषयीकृतेऽनवच्छिन्नचैतन्यरूपे ब्रह्मणि, शुक्तौ रजतवत् कल्पितं चराचरमप्-शब्दवाच्यं नारम्, तदेव अयनं शुक्तीदमंशस्य रजतमिव प्रवेशस्थानं यस्य स नारायणः । स्वस्मिन् जीवकल्पितस्य प्रपञ्चस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन कारणीभूत इत्यर्थः । यथोक्तम्—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ' इति । तं नारायणं नमस्कृत्य । तथा नरमुक्तरूपं नमस्कृत्य; एनं विशिनष्टि—नरोत्तममिति । जीवो हि चेतनत्वेन जडवर्गादुत्कृष्टः, तत उत्कृष्टतरः

कारणात्मा नारायणः, ततोऽप्युत्कृष्टतमं निरुपाधि चैतन्यम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धम्। तदेव नरोत्तमस्य निरस्ताविद्यस्य जीवस्य निष्प्रपञ्चं पारमार्थिकं रूपमिति युक्तं तत्रोत्तमत्वविशेषणम्। यथोक्तम्—

'पिण्डब्रह्माण्डनेतृत्वान्नरौ जीवेश्वरावुभौ।
तयोश्च नयनाच्छुद्धं ब्रह्मापि नर उच्यते॥
नरजानामपां कार्यं नारां ब्रह्माण्डमिष्यते।
तद् यस्य वसति स्थानं तेन नारायणो विभुः॥
स्वाविद्यासृष्टपिण्डेन तादात्म्यं यो गतो नरः।
स जीवः स परब्रह्म नरोत्तमपदाभिधम्॥
तद्द्योतिकां गिरं नत्वा ततो व्यासस्तथैव सन्।
संसारजयिनं ग्रन्थं जयनामानमीरयेत्॥

एवं जीवाविद्याकल्पितत्वाज्जगतो मिथ्यात्वम्, ब्रह्मणश्च तत्र सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन सत्यत्वम्, जीवस्य तदभिन्नत्वं चेति विषयो दर्शितः। अविद्यानिवृत्तौ तत्कृतस्य प्रपञ्चस्य त्रैकालिकबाधाद् आत्यन्तिकी अनर्थनिवृत्तिः प्रयोजनम्।

भारत के पूर्व ग्रन्थ अध्यात्मरामायण (रामहृदय-रामगीता) और योगवासिष्ठ में भी अद्वैतवाद की परिपूर्ण चर्चा है। किं बहुना, भेदवादसंबन्धी व्यावहारिक दशा को छोड़ कर पारमार्थिक दशा में सर्वत्र अद्वैतवादही का प्राधान्य है और अन्यान्य मार्गावलम्बी लोगों ने भी अद्वैतवादही का आदर किया है। और पद्मपुराण के निम्नलिखित वाक्यों से जो निन्दा प्राप्त होती है वह अविचारित-रमणीय है अर्थात् जब तक उन वचनों का विचार न किया जावे तब तक ही वे

वचन और निन्दा सत्य प्रतीत होते हैं विचार के बाद सब निर्मूल हैं—

'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमात् ।
येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि ॥
प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम् ।
मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम् ॥
कणादेन च संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं मतम् ।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन च ॥
धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम् ।
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा ॥
बौद्धशास्त्रमसत् प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् ।
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ॥
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम् ॥
परेशजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते ।
ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं नैर्गुण्यं वक्ष्यते मया ॥
सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे ।
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ॥
मयैव वक्ष्यते देवि जगतां क्लेशकारणात् ।
द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमपार्थतः ॥
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् ।
षोडशाध्यायसंयुक्तं तामसं तामसप्रियम् ॥'

पद्मपुराण उत्तरखण्ड.

देखिये—पञ्चरात्र को निकाल दिया है जिसके बारे में पहिले मतामत का विचार होचुका है । वास्तव में निषिद्ध पाशु-

पत और पञ्चरात्र का खण्डन ब्रह्मसूत्रही में आचुका है और अनिषिद्ध पाशुपत तथा पञ्चरात्र सर्वथा ग्राह्य हैं यह विचार भी पहिले आचुका है। सांख्य और तत्समान तन्त्र-योग के प्रधान कारण वादादि कतिपय विषय का निरास ब्रह्मसूत्रही में आया है बाकी के विषय माननीय हैं, इसीलिये सांख्य-योग की महिमा सर्वत्र प्रसिद्ध है। न्याय और वैशेषिक के भी कतिपय अंश दूष्य हैं उनका भी खण्डन ब्रह्मसूत्र में लिखा है। चार्वाकादि नास्तिक दर्शन की अग्राह्यता सर्वत्र सुप्रसिद्ध है जिसका यहां प्रस्ताव ही नहीं है। बाकी रही पूर्वोत्तरमीमांसा; जिनमें पूर्वमीमांसा का निरास पद्मपुराण के ही वाक्य से प्राप्त हुआ। और उत्तरमीमांसा का नामही नहीं है; यदि 'माया-वाद' शब्द से उसका नाम ग्रहण किया जाय तो उत्तर-मीमांसा का प्रतिपाद्य मायावाद सिद्ध होगा, वह इष्ट नहीं है; यदि स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाय तो इस नाम का धार्मिक ग्रन्थ मिलना चाहिये; यदि मायावाद स्वतन्त्र विषय मानाजाय तो विषयी ग्रन्थों की गणना में विषयमात्र का निर्देश विरुद्ध है; यदि वक्ता के अभिप्राय से शाङ्कर-भाष्य मानालिया जावे तो भी पद्मपुराण के कथनमात्र से वह अग्राह्य कथमपि नहीं हो सकता और पूर्वमीमांसा की मान्यता के बारे में पराशर-पुराण का वाक्य लिखा जा चुका है। विचार का विषय है कि जब मायावाद, ब्रह्म जीवैक्य तथा नैर्गुण्य (निर्विशेषत्व) आदि वेदान्त के विषय अद्वैतवाद के अनुयायी हैं और अद्वैत वाद तथा मायावाद आदि, श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण संस्कृत-भाषा निबन्धों में परिपूर्ण रीति से कहे हैं तब उनका अन्यान्य अभिप्राय है यह कहना वा इसके लिये प्रयत्न करना

आकाश में धूलिप्रक्षेप वा बीजवाप वा मुष्टिप्रकार के समान गिना जाता है। और जो उक्त ग्रन्थों को तामस ठहराया है वह उनकी पारिभाषिक संज्ञा है और जो पातित्य कारणता बतलाई है वह भी—

'शङ्खचक्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरहितो ब्राह्मणाधमः।
स जीवन्नेव चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः॥'

इसके समान उनका हृदयोद्गार है। ऐसी दशा में उक्त वाक्य पद्मपुराणीय हैं वा भविष्योत्तरखण्ड के समान अनाकर हैं, यह विचारकों को उपायन किया जाता है।

मायावाद—माया, अज्ञान, प्रकृति आदि नाम एकही वस्तु के हैं वह सत् वा असत् रूप से निर्वचन करने योग्य नहीं है इसीलिये अनिर्वचनीय कहलाती है। अनिर्वचनीय ख्याति का प्रतिपादन गौड ब्रह्मानन्द प्रणीत ख्यातिवाद आदि ग्रन्थों में है। उस अनिर्वचनीय-माया का विलास इन्द्रजाल आदि दृष्टान्त से आध्यात्मिक प्रकरणों में कहा है। माया के संबन्धही से वह निर्विशेष ब्रह्म 'मायी' कहलाता है 'जालवान्' बतलाया जाता है; इस विषय में 'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्' 'य एको जालवानीशते' 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध हैं जिनके पूरे विचार होने के लिये ग्रन्थान्तर की अपेक्षा है। यहां यह भी श्लोक द्रष्टव्य है—

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्॥'

योगसूत्रीय व्यासभाष्य.

'एवं बुद्ध्वा जगद्रूपं विष्णोर्मायामयं नृपा।'

ब्रह्मपुराण.

'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा'

श्रीभागवत.

ऐसी दशा में जगत् को सत्य सिद्ध करने के लिये प्रातिभासिक (रज्जु सर्प-शुक्ति रजत-मरीचि सलिल) वस्तुओं की भी सत्यता साधन के बारे में श्रीभाष्यकारों के जो प्रतिवाद भयंकर लेख हैं वे स्पृहणीय हैं। श्रीभाष्यकारों के प्रधानमूर्ति शेष ने तो अपने परमार्थसार में यों कहा है—

'रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गस्त्रासं कुरुते च मृत्युपर्यन्तम्।
भ्रान्तेर्महती शक्तिर्न विवेक्तुं शक्यते नाम॥'

जो ब्रह्मजीवैक्य—पूर्वलिखित प्रमाणों से शतधा सिद्ध है तो भी अद्वैतानुरागियों के विनोदार्थ ये वचन लिखते हैं—

'राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते।
यथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः॥'

'ग्रहाविष्टो द्विजः कश्चिच्छूद्रोऽहमिति मन्यते।
ग्रहनाशात्पुनः स्वीयं ब्राह्मण्यं मन्यते यथा॥
मायाविष्टस्तथा जीवो देहोऽहमिति मन्यते।
मायानाशात्पुनः स्वीयं रूपं ब्रह्मास्मि मन्यते॥'

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्माकाङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम्।
नहि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः॥'

'यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥'

'वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किंचन॥'

सांख्यवृत्ति.

इत्यादि प्रमाणों से श्रीभाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य के निम्नलिखित लेख मान्य नहीं होसकते—

'यतो वाक्यादपरोक्षज्ञानासंभवाद् वाक्यार्थज्ञानेनाविद्या न निवर्तते, तत एव जीवन्मुक्तिरपि दूरोत्सारिता' एवमादि ।

नैर्गुण्य—आत्मा, सांख्य-योग और वेदान्तों में असकृत् निर्गुण कहा है । जैसा—'निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गादिति श्रुतेः।' 'असङ्गोऽयं पुरुष इति ।' इत्यादि.

श्रीरामानुजाचार्य नारायण के कलावतार थे यह इन वचनों से ज्ञात होता है—

'यत्र मे लोककल्याणकारिणी परमा कला ।
द्विजरूपेण भविता या तु संकर्षणाभिधा ॥ ६६ ॥
द्वापरान्ते कलेरादौ पाखण्डप्रचुरे जने ।
रामानुज इति ख्याता विष्णुधर्मप्रवर्तिका ॥ ६७ ॥
श्रीरङ्गेश-दयापात्रं विद्धि रामानुजं मुनिम् ।
येन संदर्शितः पन्था वैकुण्ठाख्यस्य सद्मनः ॥ ६८ ॥
परमैकान्तिको धर्मो भवपाशविमोचकः ।
यत्रानन्यतया मोक्ष आवयोः पादसेवनम् ॥ ६९ ॥
कालेनाच्छादितो धर्मो मदीयोऽयं वरानने ।
तदा मया प्रवृत्तोऽयं तत्कालोचितमूर्तिना ॥ ७० ॥
विष्वक्सेनादिभिर्भक्तैः शठारिप्रमुखैर्द्विजैः ।
रामानुजेन मुनिना कलौ संस्थापयिष्यते ॥ ७१ ॥

बृहद्ब्रह्मसंहिता-द्वितीयपाद.

और श्रीरामानुजाचार्य निर्णीत विशिष्टाद्वैत का नामोल्लेख यों आया है—

' गुणिनस्तु गुणो यद्वद् गुणादेव गुणी यथा ।
एवं विशिष्टाद्वैतं हि श्रुतिस्मृत्युदितं नृप ॥ ८ ॥ '

बृहद्ब्रह्मसंहिता-रुद्रगीता.

श्रीरामानुजाचार्य के विषय में कल्पक ने जो कुछ लिखा है सो सब ' यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं ' के न्याय से माननीय है, परंतु द्वापरान्त और कलि के आदि में श्री ६ कृष्ण आदि की सत्ता में मनुष्यों का विधर्मी होना तथा उसी समय में वा उस के आसपास भी श्रीरामानुजाचार्य का अवतार लेना तथा श्रीशठकोप आदि का उनसे भी पूर्व विराजमान रहना तथा 'श्रुतिस्मृत्युदित ' इस लेख के अनुसार ' विशिष्टाद्वैत ' शब्द का आनुपूर्विक न मिलना तथा वाल्मीकि–व्यास आदिकों के वचनानुसार विशिष्टाद्वैत प्रतिपाद्य ब्रह्मजीवैक्य के निरूपण को न पाना तथा अन्यान्य शङ्काओं का उठना–विचारशीलों के सामने उक्त प्रमाणों को अप्रामाणिक ठहराता है ।

श्रीरामानुजाचार्य जिनका दूसरा नाम लक्ष्मणाचार्य है, आपने अपने श्रीभाष्य में विशिष्टाद्वैत वादसे अतिरिक्त जो श्रीमध्वाचार्य का द्वैतवाद, श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद आदि हैं, उनका खण्डन किया है परंतु वे भी पारम्परिक–वैष्णवसंप्रदायसे सिद्ध हैं ।

---

१ विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् । अर्थात् अव्याकृत नामरूप विशिष्ट चिदचित्, व्याकृत नामरूपविशिष्ट चिदचित् ।

२ ' कपार्दिमतकर्दमे कपिलकल्पनावागुरां दुरत्ययमतीत्य तद् द्रुहिणतन्त्रयन्त्रोदरम् ।
कुदृष्टिकुहनामुखे निपततः परब्रह्मणः करग्रहविचक्षणो जयति लक्ष्मणोऽयं मुनिः ॥'
इति निगमान्तमहादेशिकाः ।

३ ' कलौ प्रवृत्ते बौद्धादिमतं रामानुजं तथा ।
शाके ध्येकोनपञ्चाशदधिकाब्दसहस्रके १०४९ ॥
निराकर्तुं मुख्यवपुं सन्मतस्थापनाय च ।
एकादशशते शाके ११०० विंशत्यष्टयुगे गते ॥
अवतीर्णं मध्वगुरुं सदा वन्दे महागुणम् ॥ ' इति माध्वाः ।

प्रमाण में उनके भाष्यादि साधन मौजूद हैं और जब एक आचार्य दूसरे के मत का खण्डन करके अपने मन्तव्य को स्थिर करते हैं तब स्पष्ट है कि उनका परस्पर में मतभेद है ऐसी दशा में कौन मत सर्वोत्तम माना जावे? इनसे अतिरिक्त श्रीचैतन्यमहाप्रभु[1] श्रीस्वामिनारायण[2] आदिके मत हैं जो अब सज्जित होरहे हैं। प्रासङ्गिक श्लोक याद आता है—

'एकस्यैव महेश्वरस्य निगमे कृष्णादिरूपश्रुतौ
सिद्धायामपि भेदवादनिपुणाः स्वस्वार्थनिष्पत्तये।
वेदान्तान् परिवर्त्य शास्त्रवचनान्युन्मथ्य नानाशयै-
र्भेदान् वैष्णवमण्डलेऽप्यजनयञ्शैवादिवार्तैव का॥'

किं बहुना, उपास्य (ध्येयाकार) भेद, मन्त्रभेद, तिलकभेद, अङ्कनभेद, मालाभेद, एकादशी आदि व्रत[3]भेद, आचार[4]भेद ने वर्णाश्रमशृङ्खला को शिथिल करादिया, शिथिल तो कलि ने किया पर ये सब भी निमित्त कारण हुए और बहुधा आकार के भेद न होने पर भी शैवापसदों से भी वर्णाश्रमाचार को धक्का ही पहुँचा। इधर दुराग्रही वैष्णवों का

१ आप का अवतार बङ्गाल में हुआ है।

२ आपकी जन्मभूमि अयोध्यामण्डल और विकासभूमि गुर्जरमण्डल है।

३ अरुणोदयवेध, प्राक्कापालिकवेध। एकादशी सर्वमान्य व्रत है पर इसका अत्याचार दो देशों में अधिक देखा जाता है। एक बङ्ग में, जहां अदीक्षित बालविधवा भी एकादशी के घोर नियमों से मृतप्राय करडाली जाती हैं। धन्य हैं **वङ्गपण्डित महाशय**। दूसरे अयोध्याप्रान्त में किसी किसी स्थान पर एकादशी के दिन हाथी घोड़े दाना नहीं पाते।

४ अपने अपने मतानुसार दीक्षा पाये हुए शूद्रों के स्पृष्ट पक्वान्न तक के ग्रहण में परहेज न होगा परंतु अदीक्षित वैदिक ब्राह्मण के स्पर्श किये हुए जल का भी ग्रहण न किया जायगा ......।

ऐसा विष्णुभक्ति में अभिनिवेश न रहा जैसा कि शिवद्रोह करने कराने में अभिनिवेश फैला, उधर दुराग्रही शैवों का भी यही प्रकार बढ़ा, दोनों वर्गों में मनमानी लौकिकी भक्तिही की धमाशानी उठी और सब भक्ति के प्रकार भूल गये इसी लौकिक-भक्ति के आडम्बर से भारत के अज्ञान नरनारी को मोहित कर अपने अपने वर्ग की वृद्धि करने लगे........।

यह कथन उन महात्माओं वा उनके अनुयायियों के लिये है जो वर्णाश्रम-शृङ्खला को घसीटते हुए अत्याचार कर रहे हैं। जो कोई अपने को अतिवर्णी का अत्याश्रमी मानते हैं और वैसाही वर्ताव करते हैं उनके लिये यह कोई कथन वा आक्षेप नहीं है, न हो सकता है। किं बहुना, अधिकारी ही कहे जाते हैं—

'ये ये हि वर्णाश्रमधर्मनिष्ठास्तानेव तानेव विशिष्यशिष्मः।
ये केऽपि वर्णाश्रमबाह्यवृत्तास्तान्नेश्महे वक्तुमहानि पिष्मः॥'

मुक्तक.

भगवान् मनु और मनुस्मृति।

पहले स्मृतियों की गणना होचुकी है उन सब स्मृतियों में मनुस्मृति ही प्रधान मानी जाती है। इसीकी सहानुभूति से अन्यान्यस्मृतियां प्रामाणिक गिनी जाती हैं। इसके बारे में बृहस्पति ने तो यह कहा है कि मनु से विरुद्ध जो कोई स्मृति है उसका प्रमाण ही नहीं है—

'वेदार्थोपनिबन्धत्वात् प्रामाण्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥'

ऐसा क्यों न कहा जाय, जब स्मृतियों की मूलभूत श्रुतियों ही में मनु के उपदेश की प्रशंसा प्राप्त होती है—

'मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः ।'[1]

अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा है वह सब औषध के तुल्य ग्राह्य है उस बारे में कुतर्क करने का अवकाश नहीं है। भारत में भी कहा है कि–

'पुराणं[2] मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥'

यहां पुराण से वेदार्थसंवादी पुराणभाग का ग्रहण इष्ट है और जब सांख्ययोग आदि परिच्छिन्न-दर्शन का ही निरंकुश प्रामाण्य नहीं है तो अपरिच्छिन्न[3] पुराणों का निरंकुश प्रामाण्य होना कैसे संभव है? यह बात वैयासिक ब्रह्मसूत्रों[4] से भी स्पष्ट है किंबहुना–पदार्थसंशय में साधुदृष्टि से अनूचान[5]-विद्वज्जन पूर्वोत्तरमीमांसा[6] के अनुसार प्रमेय परीक्षा कर सकते हैं, यह बात मनुस्मृति से भी स्पष्ट जानी जाती है। परंतु फिरभी 'एकोऽप्यध्यात्मवित्तमः'[7] की आवश्यकता पड़ती है, यह

---

१ 'मनोर्ऋचः सामधेन्यो भवन्ति' इत्यस्य विधेर्वाक्यशेषे श्रूयते ।

२ 'सयथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसइतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि–' श० प० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ६ कं० ११ ।

३ । यद्यपि पुराण परिच्छिन्न है तो भी साधन के दौर्बल्य से अपरिच्छिन्न कहना पड़ा ।

४ परपक्षनिराकरण-रीति के अनुसार ।

५ गुरुमुख से वेदवेदाङ्ग पढ़े हुए ।

६ 'विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसतिह्यनुमानम्' पू० मी० १ अ० ३ पा० ३ सू० 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्' उ० मी० २ अ० १ पा० १ सू० ।

७ याज्ञवल्क्यस्मृति ।

बात औपनिषद् कथाभाग से भी स्पष्ट है। वर्तमान काल में तो हम सब अध्यात्मवित्तम होरहे हैं।

मनुस्मृति के प्रत्येक अध्यायोंके अन्त में 'भृगुप्रोक्तायां संहितायां' ऐसा लेख प्राप्त होताहै उसे देखकर संदेह होताहै कि यह मनुस्मृति साक्षात् मनु की निर्मित न होगी, उसका यह तात्पर्य है कि जैसे वेदव्यास ने भगवान् श्रीकृष्ण-अर्जुन के संवाद को सात सौ श्लोकों में यथार्थ संकलित किया और उसका नाम भगवद्गीता हुआ वह भगवान् की साक्षात् उक्ति (उपदेश) होने के सबब भगवान् श्रीकृष्ण की ही बनाई मानी गई-इसी प्रकार भगवान् मनुसे सारे धर्मों को महर्षि भृगु पढ़कर मनुही की आज्ञा से ऋषियों को पढ़ाया और उसको लोकोपकार के लिये श्लोकबद्ध कर दिया वही स्मृति 'मनुस्मृति' नाम से लोक में विख्यात हुई। यह कथाभाग भी मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के (५९-६०, तथा ११९) इन श्लोकों में लिखा हुआ है। और मनु से साक्षात् अथवा शिष्यपरम्परा द्वारा समय समय पर अन्यान्य ऋषियों को जो धर्म ज्ञात हुए उनका उल्लेख भी मनु के नाम से अन्यस्मृतियों में आया करता है। जैसा पाराशरस्मृति में-

'अग्निरापश्च वेदाश्च सोमसूर्यानिलास्तथा।
एते सर्वेऽपि विप्राणां श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे ॥ ३९ ॥
प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सांनिध्यं मनुरब्रवीत् ॥ ४० ॥'
'मनुना चैवमेकेन सर्वशास्त्राणि जानता।
प्रायश्चित्तं तु तेनोक्तं गोघ्नश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ ४१ ॥'

भगवान् वाल्मीकि ने भी 'शासनाद्-८। ३१६' 'राज-

निर्धूतदण्डास्तु–८ । ३१८' इन मानव श्लोकों को रामायण में उद्धृत किया है–

'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥
राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासत् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम् ॥ ३२ ॥'

रामायण किष्किन्धाकाण्डवालिवध.

कालवश किंचित् पाठभेद होगया है परंतु अर्थ एकही है । देखिये वड़े संतोष की वार्ता है कि–वही यह मनुस्मृति है जो कि वाल्मीक के समय में प्रचलित थी । मूल वाक्यों के ढूंढ़ने में वड़ा क्लेश उठाना पड़ता है तो भी सफलता नहीं प्राप्त होती, कैसी सुविधा होती, यदि धर्मानुरागी प्रेसस्वामी स्मृति-इतिहास-पुराणों की अकारादि अनुक्रमणी भी छपा डालते, उस दशा में थोड़े प्रयास से भी वहुत कुछ सुधार की आशा थी.... .... ।

पहिले मनु के विषय में श्रुति लिखी है उसको देखने से यह शंका उत्पन्न होती है–मनु एक अनित्य पुरुष हैं जिसकी चर्चा श्रुति में आई है इस कारण मनु से पीछे की वनी श्रुति क्यों न हो ? इस शंका का समाधान मीमांसादर्शन के तन्त्र-वार्तिक में जो लिखा है उसका यह सारांश है–जैसे यज्ञ में

---

१ 'वेदाङ्गोपाङ्गशास्त्राणां वर्णादिक्रमसूचना ।
मौलिकैः सह संवादो विद्याशोधनमुच्यते ॥'

द्विवेदी.

अध्वर्यु आदि किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं है किन्तु ऋत्विजों की उपाधि (पदवी) है; इसी प्रकार मनु (स्वायंभुव-वैवस्वत आदि) भी किसी एक व्यक्ति की संज्ञा नहीं है किंतु ब्रह्मा के दिन में एकहत्तर महायुगपर्यन्त प्रजापालन करनेवाले अधिकारी की पदवी है ।

प्रमाणवचन—

'न चैतच्छ्रुतिसामान्यमात्रं नित्येऽपि संभवात् ।
यज्ञेऽध्वर्युरिव ह्यस्ति मनुर्मन्वन्तरे सदा ॥
प्रतिमन्वन्तरं चैवं श्रुतिरन्या विधीयते ।
स्थिताश्च मनवो नित्यं कल्पे कल्पे चतुर्दश ॥
तेन तद्वाक्यचेष्टानां सर्वदैवास्ति संभवः ।
तदुक्तिज्ञापनाद् वेदो नानित्योऽतो भविष्यति ॥
प्रतियज्ञं भवन्त्यन्ये षोडश षोडशर्त्विजः ।
आदिमत्त्वं च वेदस्य न तच्चरितबन्धनात् ॥'

इत्यादि ।

मनुस्मृति में क्षेपक की आशङ्का—

'मनुस्मृति' अत्यन्त प्राचीन स्मृतिशास्त्र है। जिसके श्लोक वाल्मीकीय-रामायण में भी प्राप्त हैं (देखिये भूमिका पृष्ठ १२४)-और अन्यान्य स्मृतिग्रन्थों में भी मिलते हैं (देखिये भू० १२३) और धर्माब्धिसार—स्मृतिचन्द्रिका—हेमाद्रि—पराशरमाधव—स्मृतिरत्नाकर—मिताक्षरा—निर्णयसिन्धु—संस्कार-कौस्तुभ आदि ग्रन्थों में 'मनु' के नाम से जो कतिपय श्लोक लिखे हैं वे मनुस्मृति में नहीं उपलब्ध होते हैं देखिये मण्ड-लीक संगृहीत (मनुस्मृति परिशिष्ट) उसका कारण उक्तप्राय है (देखिये भू० १२३) इस दशा में विप्रकीर्ण मानववाक्य विरोधी होनेपर चिन्तनीय हैं, न कि सहसा उनकी अप्रमा-णिकता सिद्ध होसकती है यह 'मनुस्मृति' (इसकी श्लोक-संख्या विषय संकलन में स्पष्ट है) अत्यन्त प्रामाणिक है, इसमें क्षेपक का गन्धमात्र नहीं है इसके ऊपर अनेक टीकायें हुई हैं जिनमें मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, गोविन्दराज, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र की बनाई टीकायें सुप्रसिद्ध हैं। इस दशा में भी इस 'मनुस्मृति' में वही लोग क्षेपक कह सकते हैं जो वैदिकरहस्य नहीं जानते हैं, अथवा जो कोई

शब्दतः किंवा अर्थतः वेद के कण्टक हैं। यहां एक सुप्रसिद्ध उदाहरण दिखलाया जाता है—

' न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ '

मनु ५ अध्याय ५६ श्लोक.

इसको प्रायः क्षेपक बतलाया करते हैं, पर यह श्लोक उक्त सातों टीकाओं में व्यवस्था के साथ व्याख्यात हुआ है तब कैसे क्षेपक होसकता है ? श्रीमद्भागवत में भी इसकी यों व्यवस्था लिखी है—

'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तत्रविवाहदीक्षा-
सुराग्रहैराशुनिवृत्तिरिष्टा॥ 'इत्यादि.

११ स्कं० ५ अध्याय ११ श्लोक.

इस प्रकार, पूज्यपाद श्री द्विवेदीजी की धर्मसंहिता के आधार पर, यह मानवधर्मशास्त्र की भूमिका लिखी गई है। इसमें वैदिक सनातन धर्मादि का विवेचन निष्पक्षपातभाव से श्रुति-स्मृति के प्रमाणोंद्वारा जिस प्रकार किया गया है, उसका महत्त्व विद्वानों कोही यथार्थरूप से ज्ञात होगा, क्योंकि ' वेत्ति विश्वम्भरा भारं गिरीणां गरिमाश्रयम् ' कालगति से धर्मादि में चाहे जितना विपर्यय और विप्लव हो, परन्तु सत्य का लोप होना सर्वथा असम्भव है, और उसकी मर्यादा सर्वदा अजरामर ही रहेगी। जगत् का प्रवाह तो सदा से ही नियन्त्रित चला आता है।

अन्त में, भगवान् सत्यरूप धर्म का जय जयकार-पूर्वक महाकवि श्रीभवभूति का श्लोक निर्मत्सर-शुद्धान्तःकरण विवेक-शील-महानुभाव विद्वानों को सुनाकर वक्तव्य पूर्ण करता हूं ।

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥' इति ।

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ।

नवलकिशोर विद्यालय
गोमती तट, लक्ष्मणपुरी,
मार्गशीर्ष शुक्ल ५ गुरुवार सं० १९७२
} गिरिजाप्रसाद द्विवेदी ।

मनुस्मृति के विषयों का संकलन।

१। आचारकाण्ड–

आरम्भ=मनु १–४ श्लोक, १ अ०।

स्थूल और सूक्ष्मसृष्टि=आसीत् ५–५७ श्लो०, १ अ०। ६१–८४ श्लो०, १ अ०।८७ श्लो० १ अ०।

शास्त्र का प्रचार=इदं ५८–६० श्लो० १ अ०। ११९ श्लो० १ अ०।

शास्त्रकी प्रशंसा=तस्य १०२–११० श्लो० १ अ०। (आचार माहात्म्य)

शास्त्र के विषय। सूची=जगतः १११–११८ श्लो० १ अ०।

शास्त्र के अधिकारी=निषेक १६ श्लो० २ अ०।

अप्रामाणिक शास्त्र=या ९५–९६ श्लो० १२ अ०।

धर्मपीठिका=विद्वद्भिः १–५ श्लो० २ अ०।

धर्म=वेदो ६–१५ श्लो० २ अ०। (धर्म में प्रमाण) १७०–१७६ श्लो० ४ अ०। २३८–२४३ श्लो० ४ अ०। १५–१७ श्लो० ८ अ०। (वृषलशब्द की निरुक्ति) ८५–८६ श्लो० १ अ०। ९१–९३ श्लो० ६ अ०। (धर्म के दश लक्षण) ६३ श्लो० १० अ०। (साधारण धर्म) ९७ श्लो० १० अ०।

---

१ स्मृतियों में गृह्यकर्म का उद्देश्यमात्र होता है, यदि उनका अनुष्ठान जानना हो तो अपने शाखासूत्र को देखना चाहिये। जैसा कि मनु का सूत्र कृष्ण-यजुर्वेदीय-मैत्रायणी शाखा का मानवगृह्यसूत्र है।

१६४–१६६ श्लो० २ अ० । १६६–२२३ श्लो० २ अ० । १–३ श्लो० ३ अ० । ६५–१२७ श्लो० ४ अ० । ८८ श्लो० ५ अ० । १५६ श्लो० ५ अ० ।

गृहस्थ=यथा ७७–८० श्लो० ३ अ० । ८७–६० श्लो० ६ अ० । ६३–६६ श्लो० ३ अ० । १–२ श्लो० १० अ० । ११५–११६ श्लो० १० अ० । २८–३० श्लो० ११ अ० ।

वर्णधर्म (संस्कार)=वैदिकैः २६–६८ श्लो० २ अ० ।

आह्निक (दिनचर्या)=वैवाहिके ६७–७६ श्लो० ३ अ० । ८१–१२१ श्लो० ३ अ० । ४५–५२ श्लो० ४ अ० । ६२–६४ श्लो० ४ अ० । २०१–२०३ श्लो० ४ अ० । १३२–१३६ श्लो० ५ अ० ।

स्नातक और गृहस्थ के धर्म=धर्मार्थी २२४–२४० श्लो० २ अ० । ४५–५० श्लो० ३ अ० । १८–३२ श्लो० ४ अ० । ३७–४४ श्लो० ४ अ० । ५३–७६ श्लो० ४ अ० । ८२–८३ श्लो० ४ अ० । १२८–१५३ श्लो० ४ अ० । १५६–१६६ श्लो० ४ अ० । १७५–१८५ श्लो० ४ अ० । १६२–२०४ श्लो० ४ अ० । २२४–२३७ श्लो० ४ अ० । २४४–२४६ श्लो० ४ अ० । २५७–२६० श्लो० ४ अ० । ६–१० श्लो० ११ अ० ।

सन्मान=लौकिकं ११७ श्लो० २ अ० । ११६–१३६ श्लो० २ अ० । १४५–१४६ श्लो० २ अ० । १५४ श्लो० ४ अ० ।

आपत्काल=शस्त्रं ३४८–३५१ श्लो० ८ अ० । ३१–३४ श्लो०

११ अ० । (खुशामद से आपद् को दूर करना ब्राह्मण के लिये मना है)

विवाह=चतुर्णां २०-२१ श्लो० ३ अ० । २२-४४ श्लो० ३ अ० । ५१-५४ श्लो० ३ अ० । ४७ श्लो० ६ अ० ।

वर के धर्म=गुरुणा ४-१६ श्लो० ३ अ० ।

कन्या के धर्म=त्रीणि ६०-६२ श्लो० ६ अ० ।

विवाह के नियम=दारा १७१-१७२ श्लो० ३ अ० । १६७-१६६ श्लो० ५ अ० । २०४-२०५ श्लो० ८ अ० । २२४-२२७ श्लो० ८ अ० । (वेदमन्त्र से कन्याही की विवाहविधि है-अकन्या की नहीं) ६६-७३ श्लो० ६ अ० । ८८-८६ श्लो० ६ अ० । ६३-१०० श्लो० ६ अ० । ८०-८३ श्लो० ६ अ० । १७५-१७६ श्लो० ६ अ० । ५ श्लो० ११ अ० ।

पुत्रिकाकरण=अपुत्रो १२७-१२६ श्लो० ६ अ० । (दक्षका दृष्टान्त) १३६-१४० श्लो० ६ अ० ।

स्त्री=पितृभिः ५५-६२ श्लो० ३ अ० । १-२५ श्लो० ६ अ० । (वसिष्ठ, अक्षमाला का और मन्दपाल, शारङ्गी का दृष्टान्त) २६-४६ श्लो० ६ अ० । ४८-५६ श्लो० ६ अ० । (बीज और योनि) ७४-७६ श्लो० ६ अ० । १७७-१७८ श्लो० ११ अ० ।

स्त्री के धर्म=बालया १४६-१५८ श्लो० ५ अ० । १६०-१६६ श्लो० ५ अ० । ८४-८७ श्लो० ६ अ० ।

स्त्री पुरुष के धर्म=अन्यो १०१-१०२ श्लो० ६ अ० ।

स्त्री का नियोग=भ्रातुः ५७-६८ श्लो० ६ अ० । (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में नियोग का निषेध)

पुत्र=पुत्रेण १३७–१३८ श्लो० ९ अ० । १८२–१८३ श्लो० ९ अ० । १५८–१८१ श्लो० ९ अ० ।

जाति और जीवन=ब्राह्मणः ४–६२ श्लो० १० अ० । ६४–७३ श्लो० १० अ० । (बीज और क्षेत्र)

श्राद्ध=पितृयज्ञं १२२–२८६ श्लो० ३ अ० ।

द्विजातियों के भक्ष्याभक्ष्य=श्रुत्वैता १–२५ श्लो० ५ अ० । (अगस्त्य का दृष्टान्त)

मांस का निषेध=एतदुक्तं २६–५६ श्लो० ५ अ० ।

पदार्थों की शुद्धि=तैजसानां ११०–१३१ श्लो० ५ अ० ।

धर्मभिक्षुक=सांतानिकं १–४ श्लो० ११ अ० । ११–१६ श्लो० ११ अ० । १८–२३ श्लो० ११ अ० ।

२ । व्यवहारकाण्ड—

राजा का महत्त्व=राज १–१३ श्लो० ७ अ० । ३०१–३०२ श्लो० ९ अ० ।

राजा के धर्म=तस्या २६–४० श्लो० ७अ० । ४१–४२श्लो० ७ अ० । (राजाओं के दृष्टान्त) ४३–५३ श्लो० ७ अ० । ७७–८६ श्लो० ७ अ० । ९९–११२श्लो० ७ अ० । १४५–१६९ श्लो० ७ अ० । २१२–२२६ श्लो० ७ अ० । १७२–१७५ श्लो० ८ अ० । ३९५ श्लो० ८ अ० । ३०० श्लो० ९ अ० । ३०३–३१२ श्लो० ९ अ० । ३२२–३२५ श्लो० ९ अ० ।

राज्यप्रबन्ध=मौलान् ५४–७६ श्लो० ७ अ० । १४१–१४४ श्लो० ७ अ० । ११३–१२६ श्लो० ७ अ० । २७–४१ श्लो० ८ अ० । ३८६–३८७ श्लो०८अ० । २९४–२९९ श्लो० ९ अ० ।

३ । प्रायश्चित्तकाण्ड—

शुद्धिदिन=शुद्ध्येत् ८३ श्लो० ५ अ०। (वर्तमानकाल में वर्णानुसार शुद्धि की व्यवस्था न रहने से दूसरी जाति में घुसने के लिये बड़ी सुविधा हुई)

शुद्धिविशेष=न ८४-८८ श्लो० ५ अ०। ६१ श्लो० ५अ०।

प्रेतक्रियानिषेध=वृथा ८९-९० श्लो० ५ अ०।

शवनिर्हरणद्वार=दक्षिणेन ९२ श्लो० ५ अ०।

सद्यः शौच=न ९३-९९ श्लो० ५ अ०।

असपिण्ड-प्रेतशुद्धि=एतद्वो १००-१०४ श्लो० ५ अ०।

शुद्धि-हेतु=ज्ञानं १०५ श्लो०५अ०। १०७-१०९ श्लो० ५अ०।

अर्थशौच=सर्वेषा १०६ श्लो० ५ अ०।

नानाविधशौच=१४१-१४५ श्लो० ५ अ०।

प्रायश्चित्त=अकुर्वन् ४४-४७ श्लो० ११ अ०।

महापातकादि=ब्रह्म ५५-७२ श्लो० ११ अ०।

महापातकादिप्रायश्चित्त=ब्रह्महा ७३-१३१ श्लो० ११अ०।

नानाविधहिंसाप्रायश्चित्त=मार्जार१३२-१४६श्लो०११अ०

अभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्त=अज्ञानाद्१४७-१६२श्लो०११अ०

नानाविधस्तेयप्रायश्चित्त=धान्यान्न१६३-१७०श्लो०११अ०

अगम्यागमनप्रायश्चित्त=गुरु १७१-१७६श्लो० ११ अ०। १७९-१८० श्लो० ११ अ०।

संसर्गिप्रायश्चित्त=संवत्सरेण १८१-१८९ श्लो० ११ अ०।

ग्राह्याग्राह्यव्यवस्था=एन १९०-१९१ श्लो० ११ अ०।

नानाविधप्रायश्चित्त=येषां १९२-२०९ श्लो० ११ अ०।

प्रायश्चित्तकल्पना=अनुक्त २१० श्लो० ११ अ०।

देवब्राह्मणस्वहरणप्रायश्चित्त=देवस्वं २६-२७श्लो०११अ०।

गुप्तप्रायश्चित्त=अत २४८-२६६ श्लो० ११ अ०।

प्राजापत्यादिव्रत=यै २११–२२७ श्लो० ११ अ० ।
पश्चात्ताप और तप=ख्यापनेना २२८–२४७ श्लो० ११ अ० ।
(प्रजापति का दृष्टान्त)
पापचिह्न=इह ४८–५३ श्लो० ११ अ० । १–६ श्लो० १२ अ० । ५२–८१ श्लो० १२ अ० ।
वानप्रस्थ=एवं १–३२ श्लो० ६ अ० ।
संन्यास=चतुर्थ ३३–८६ श्लो० ६ अ० । ६४–६७ श्लो० ६ अ० । ८८–१०० श्लो० २ अ० । १०–५१ श्लो० १२ अ० । ८२–६४ श्लो० १२ अ० । ६७–१०४ श्लो० १२ अ० । ११८–१२६ श्लो० १२ अ० ।

मनुस्मृति के श्लोकों की संख्या—

१=११६
२=२४६
३=२८६
४=२६०
५=१६६
६= ६७
७=२२६
८=४२०
६=३३६
१०=१३१
११=२६६
१२=१२६

पूर्णसंख्या=२६८५

श्रीगणेशाय नमः ।

मनुस्मृति ।

पहला अध्याय ।

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥
भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवानाञ्च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥
त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥
स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥

ॐ नमः शिवाय ।

पहला अध्याय ।

महर्षियों ने एकाग्रचित्त बैठे हुए मनु महाराज के पास जाकर और उनका पूजन करके, विधिपूर्वक यह प्रश्न किया—हे भगवन् ! आप सब ब्राह्मण आदि वर्णों के और सङ्कीर्ण जातियों के वर्णाश्रम-धर्म क्रम से कहने में समर्थ हैं, इस लिये हमलोगों को उपदेश करिए । आप सब वैदिक श्रौत-स्मार्त कर्मों के अगाध और अनन्त विषयों के एकही जानने वाले हैं ॥ १-३ ॥ इस प्रकार महर्षियों के विनयपूर्वक प्रश्नों को सुनकर, महात्मा मनु ने, सब का आदर करके कहा-अच्छा सुनो ॥ ४ ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

जगत् की सृष्टि।

यह संसार अपनी उत्पत्ति के पूर्व अन्धकारमय था † अज्ञात था, इसका कोई लक्षण न था *। किसी अनुमान से जानने लायक़ न था। चारों तरफ़ से मानो सोया हुआ था। इस महाप्रलय स्थिति के अनन्तर, सृष्टि के आरम्भ में, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि विश्वको सूक्ष्मरूप से, स्थूलरूप में प्रकट करनेकी इच्छा से अतीन्द्रिय, महासूक्ष्म, नित्य, विश्वव्यापक, अचिन्त्य परमात्मा ने, अपने को जाहिर किया। अर्थात् महत्तत्त्व आदि की उत्पत्ति द्वारा अपनी शक्ति को संसार में प्रकट किया। उसके बाद नानाविध प्रजासृष्टिकी इच्छा से, पूर्व जलसृष्टि करके, उसमें अपना शक्तिरूप बीज स्थापित किया ॥५-८॥ वह बीज ईश्वरेच्छा से, सूर्य के समान चमकीला सुवर्ण कासा गोला ‡ होगया। उसमें संपूर्ण विश्व के पितामह स्वयं ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ ॥ ९ ॥

---

† श्रुति है 'तम आसीत् तमसा गूढमग्र इति।'

* श्रुति है 'तद्धेदन्तर्ह्यव्याकृतमासीत्।' छान्दोग्य श्रुति है 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।'

‡ इसी अण्ड से हिरण्यगर्भ नामसे परमात्मा का प्रादुर्भाव हुआ है। वैदिक श्रुतिभी है:—'हिरण्यगर्भःसमवर्तताग्रे भूतस्य जातःपतिरेक आसीत्। सदाधारपृथिवींद्यामुतेमाम्।'

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ १० ॥
यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥ ११ ॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥ १२ ॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥ १३॥

जल को नार कहते हैं क्योंकि वे नर नामक परमात्मा से पैदा हुए हैं। जल में ही परमात्मा ने ब्रह्मरूप से पहले स्थिति की है *। इसलिये परमात्मा को नारायण कहते हैं। जो सारे जगत् का उपादान कारण है, अप्रकट है, सनातन है, सत्-असत् पदार्थों का प्रकृतिभूत है, उसी से उत्पन्न वह पुरुष, संसार में ब्रह्मा नाम से कहा जाता है। ब्रह्मा ने उस अण्ड में ब्राह्ममान से एक वर्ष रहकर, अपनी इच्छा से उसका दो टुकड़ा किया। ऊपर के भाग से स्वर्लोक, नीचे से भूलोक और दोनों के बीच आकाश बनाकर, आठों दिशा और जल का स्थिर स्थान-समुद्र को बनाया॥१०-१३॥

---

* तैत्तिरीय-आरण्यक में, जल से प्रजापति की उत्पत्ति का वर्णन है।

'आपो वै इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्।
तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत, 'इदं सृजेयम्' इति।
'आपो ह वा इदमग्रे, सलिलमेवास।' शतपथब्राह्मण १०।१।६
'तस्याप एव प्रतिष्ठा। अप्सु हि इमे लोकाः प्रतिष्ठिताः।'
शतपथ-ब्राह्मण, ६।७।१।१७

इस प्रकार कई श्रुति हैं। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम भाग में, सृष्टिवर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥
तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥
यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

अब सृष्टिक्रम कहते हैं:—

ब्रह्मा ने उस परमात्मा (प्रकृति) से मन और मन से अहङ्कार, उससे महत्तत्त्व, सत्त्व, रज, तम तीनों गुण और शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों के ग्राहक पांच ज्ञानेन्द्रिय और अहङ्कार इन छ के सूक्ष्म अवयवों को अपनी अपनी मात्राओं में अर्थात् शब्द, स्पर्शादिकों में मिलाकर सब स्थावर, जङ्गमरूप विश्व की रचना की। शरीर के सूक्ष्म छ अवयव अर्थात् अहङ्कार और पञ्च-महाभूत सब कार्यों के आश्रय होने से उस ब्रह्मा की मूर्ति को शरीर कहते हैं ॥ १४-१७ ॥

तदा विशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥
तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥
आद्याद्यस्य गुणन्त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ २१॥

पञ्चमहाभूत और मन अपने कार्यों और सूक्ष्म अवयवों के द्वारा सब भूतों की उत्पत्ति के लिये अविनाशी ब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं। उन सात प्रकृतियों अर्थात् महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चमहाभूत की सूक्ष्म मात्राओं से पञ्चतन्मात्रा से अविनाशी परमात्मा नाशवान् जगत् को उत्पन्न किया करता है। इन पञ्चमहाभूतों में पहले पहले का गुण दूसरा दूसरा पाता है। जैसा, आकाश का गुण शब्द आगे के वायु में व्याप्त हुआ। वायु का गुण स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप जल में इत्यादि। इनमें जिसमें जितने गुण हैं वह उतने गुणोंवाला है। जैसे आकाश में एक गुण शब्द है। वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं इसलिये आकाश एक गुणवाला और वायु दो गुणवाला कहलाया। यों आगे भी जानना चाहिए। परमात्मा ने वेदानुसार ही सबके नाम और कर्म अलग अलग बांट दिये हैं, जैसा गोजाति का नाम गो, अश्व का अश्व और कर्म जैसा ब्राह्मणों का वेदाध्ययन आदि, क्षत्रियों का प्रजारक्षा आदि जैसा पूर्वकल्प में था * वैसा ही रचा गया है॥ १८-२१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानाञ्च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥ २२॥
अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ २३॥
कालङ्कालविभक्तीश्च नक्षत्राणिग्रहांस्त था।
सरितः सागरान् शैलान् समानि विषमाणि च॥२४॥

फिर परमात्मा ने, यज्ञादि में जिनको भाग दिया जाता है, ऐसे प्राणवाले इन्द्रादि देवता; वनस्पति आदि के स्वामी देवता, साध्य-

* वेद में लिखा है—'धाता यथापूर्वमकल्पयत् ...।'

नामक सूक्ष्म देवगण और यज्ञों को रचा। अग्नि, वायु और सूर्य इन तीनों से क्रम से यज्ञकर्म संपादन के लिये, ऋक्, यजु, साम इस त्रयी विद्या को उत्पन्न किया *। काल और काल का विभाग वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, प्रहर, घटिका, पल, विपल आदि नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, पर्वत और ऊंची, नीची भूमि की सृष्टि हुई ॥ २२-२४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥
कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत् ।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥
अण्व्यो मात्राविनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥
यस्तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

---

* अग्नि, वायु और रवि से वेदत्रयी की उत्पत्ति, छान्दोग्य-उपनिषद् में इसी प्रकार है। जैसा—'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्। अग्निं पृथिव्या, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः। स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्। तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्। अग्नेर्ऋचो, वायोर्यजूंषि, साम आदित्यात्। स एतां त्रयीं विद्यां अभ्यतपत्। तस्या तप्यमानाया रसान् प्रावृहत्। भूरिति ऋग्भ्यो, भुवरिति यजुर्भ्यः, स्वरिति सामभ्यः।'.

तैत्तिरीय ब्राह्मण (२। ३। १०) में, 'प्रजापतिः सोमं राजानमसृजत। तं त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त।' 'प्राजापत्यो वेदः।' इत्यादि लेखों से और शतपथ-ब्राह्मण की श्रुतियों से, वेद की उत्पत्ति प्रजापति से सिद्ध होती है। इसके सिवा कई प्रकार के लेख मिलते हैं। परन्तु मूलभाव में भेद नहीं है।

अग्नि, वायु और रवि से वेदोत्पत्ति होने से ही, ऋग्वेद का पहला मंत्र अग्निस्तुति है। यजु का वायु और साम का सूर्यस्तुति विषय का है।

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २६ ॥

सृष्टि की इच्छा करके ब्रह्मा ने तप, वाणी, रति, काम और क्रोध को उत्पन्न किया। भले और बुरे कर्मों के विचार के लिये धर्म और अधर्म को बनाया। सुख, दुःख, काम, क्रोध आदि द्वन्द्वधर्मों के अधीन संसार के प्राणियों को किया। पञ्चमहाभूतों की सूक्ष्ममात्रा-पञ्चतन्मात्राओं के साथ यह सारी सृष्टि क्रम से पैदा हुई है। सृष्टि के आदि में उस प्रभु ने, जिस स्वाभाविक कर्म में, जिसकी योजना की उसका जब जब जन्म हुआ उसी कर्म को उसने स्वयं किया। हिंस्रकर्म-अहिंस्रकर्म, मृदु-दया, क्रूर-कठोरता, धर्म-ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, अधर्म-झूंठ बोलना आदि जो पूर्वकल्प में जिसका था वही सृष्टि के समय उसमें प्रविष्ट होगया ॥ २५-२६ ॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत् ॥ ३१ ॥

द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार वसन्त आदि ऋतु अपने स्वाभाविक चिह्नों को जैसे आम की मञ्जरी (बौर) धारण करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपने अपने पूर्व कर्मों को प्राप्त होते हैं। परमात्मा ने लोक की वृद्धि के लिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों को पैदा किया। इनमें विराट्रूप परमात्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए। इस संसार के दो भाग करके एक पुरुष और दूसरा स्त्री बनाया।* स्त्रीभाग से विराट्पुरुष पैदा किया। उस विराट्पुरुषरूप प्रजापति ने तप करके जिस पुरुष को उत्पन्न किया वही मैं, सारे विश्व का बनानेवाला हूं—ऐसा आपलोग जानिये। मैंने प्रजासृष्टि की इच्छा से कठिन तप करके पहले दश महर्षियों को उत्पन्न किया। उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, वशिष्ठ, भृगु और नारद ॥ ३०—३५ ॥

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन् भूरितेजसः ।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥
यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥
विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥
किन्नरान्वानरान्मत्स्यान् विविधांश्च विहंगमान् ।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

---

* शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयीसंहिता के पुरुषसूक्त में लिखा है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू यदस्य तद्वैश्यः पद्भ्या ꣳ शूद्रो अजायत।'

तैत्तिरीयब्राह्मण में लिखा है:—'अथो अर्धो वै एष आत्मनो यत्पत्नी। अयज्ञो वै एष योऽपत्नीकः।' ३।३।३।५। शतपथब्राह्मण में, प्रजापति द्वारा सृष्टिप्रक्रिया का विवरण विस्तारपूर्वक है। मनुकी सृष्टिप्रक्रिया उससे मिलती है।

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वञ्च दंशमशकं स्थावरञ्च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

इन दश प्रजापतियों ने दूसरे प्रकाशमान सात मनुओं को, देवता और उनके निवासस्थानों को, ब्रह्मर्षियों को पैदा किया । और यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, सुपर्ण-गरुडादि, और पितरों को * उत्पन्न किया । विद्युत्-बिजली, अशनि-एक तरह की बिजली, मेघ, रोहित-एक विचित्र वर्ण दण्डाकार आकाश का चिह्न, इन्द्रधनुष, उल्का जो आकाश से रेखाकार ज्योति गिरती है, निर्घात-उत्पातशब्द, केतु-पूंछदार तारा, और नाना भांति के ज्योति ध्रुव, अगस्त्य आदि को उत्पन्न किया । किन्नर-अश्वमुख-नरदेह, वानर, मत्स्य, तरह तरह के पक्षिगण, पशु, मृग, मनुष्य, सर्प, ऊपर, नीचे दांतवाले जीव, कृमि, कीट, पतङ्ग, जूका, मक्खी, खटमल और संपूर्ण काटनेवाले छोटे जीव मच्छर आदि, मेरी आज्ञा और अपनी तपस्या से मरीचि आदि महात्माओं ने इस स्थावर, जङ्गम विश्व को कर्मानुसार रचा है ॥ ३६-४१ ॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥
पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

* तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है-प्रजापति ने अपने निश्वास-असुसे असुरों की सृष्टि करके, क्रमसे पितृगण, देवगण आदिकी सृष्टि की है ।

'प्रजापतिरकामयत 'प्रजायेय' इति । स तपोऽभ्यतप्यत । तेनासुना असुरानसृजत । तदनु पितॄनसृजत । तदनु मनुष्यानसृजत । तदनु देवानसृजत ।' तैत्तिरीय ब्राह्मण, २ । ३ । ८ ।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥
स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥ ४५ ॥
उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥

इस जगत् में जिन प्राणियों का जो कर्म कहा है वैसा ही हम कहेंगे और उनके जन्म का क्रम भी वर्णन करेंगे । सृष्टि चार प्रकार की है, उनको क्रम से कहते हैं-पशु, सिंह, ऊपर नीचे दाँतवाले, सब राक्षस, पिशाच और मनुष्य ये सब 'जरायुज' कहलाते हैं। पक्षी, साँप, नाक, मछली, कछुआ और जो ऐसेही भूमि या जल में पैदा होनेवाले जीव हैं वे सब 'अण्डज' हैं । मच्छर, दंश, जूँ, मक्खी, खटमल आदि पसीने की गर्मी से पैदा होनेवाले 'स्वेदज' होते हैं । वृक्ष आदि को 'उद्भिज्ज' कहते हैं । ये दो तरह के हैं, बीज से पैदा होनेवाले और शाखा से पैदा होनेवाले । जो वृक्ष फलोंके पकजाने पर सूख जाते हैं और जो बहुत फल, फूलवाले होते हैं उनको 'ओषधि' कहते हैं । जिन में फल आवें पर फूल नहीं उनको 'वनस्पति' कहते हैं । और जो फल, फूलवाले हैं वे 'वृक्ष' कहे जाते हैं । जिस में जड़ से ही लता का मूलहो, शाखा न हो उसको 'गुच्छ' कहते हैं । गुल्म-ईख वगैरह, तृणजाति-कई भांति के बीज और शाखा से पैदा होनेवाले, प्रतान-जिस में सूतसा निकले और वल्ली-गुर्च आदि सब 'उद्भिज्ज' हैं ॥ ४२-४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ ४९॥
एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि॥ ५०॥
एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥ ५१॥
यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥ ५२॥
तस्मिन् स्वपति तु स्वस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति॥ ५३॥
युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥ ५४॥

ये सब वृक्ष अज्ञानवश अपने पूर्व जन्म के बुरे कर्मों से घिरे हुए हैं। इनके भीतर छिपा हुआ ज्ञानहै और इनको सुख दुःख भी होता है। इस नाशवान् संसार में ब्रह्मासे लेकर स्थावर तक यही उत्पत्ति का नियम कहा गया है। उस अचिन्त्य प्रभावशाली परमात्मा ने यह विश्व और मेरे को उत्पन्न करके सृष्टिकाल को प्रलयकाल में मिलाकर अपने में लीन करलिया। अर्थात् प्राणियों के कर्मवश बार बार सृष्टि और प्रलय किया करता है। जब परमात्मा जागता है अर्थात् सृष्टि की इच्छा करता है उस समय यह सारा जगत् चेष्टायुक्त होजाता है और जब सोताहै याने प्रलय इच्छा करता है, तब विश्व का लय होजाता है। यही परमात्मा का जागना और सोना है। जब वह सोता है-निर्व्यापार रहता है तब कर्मात्मा प्राणी अपने अपने कर्मों से निवृत्त होजाते हैं और मन भी सब इन्द्रियों सहित शान्तभाव को पा जाता है। एकही काल में, जब सारे प्राणी परमात्मा में लय को पाते हैं, तब वह सुख से शयन करता हुआ कहा जाता है॥ ४९-५४॥

तमोयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥
यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च ।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥
एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

उस दशा में यह जीव इन्द्रियों के साथ बहुतकाल तक तम (सुषुप्ति) को आश्रय करके रहता है। और अपना कर्म नहीं करता, किंतु पूर्व देहसे जुदा रहा करताहै। फिर अणुमात्रिक-शरीर बनने की आठ सामग्री हैं-जीव, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु, अविद्या-इन को शास्त्र में 'पुर्यष्टक' कहते हैं * यों पहले अणुमात्रिक अचर और चर के हेतुभूत बीजमें प्रविष्ट होकर पुर्यष्टक में मिलकर शरीर को धारण करता है। इसप्रकार अविनाशी परमात्मा जागरण और शयन से, इस चराचर जगत् को उत्पन्न और नष्ट किया करता है ॥ ५५-५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥५८॥
एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

---

* सनन्दन ने कहा है—

'भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः ।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥'

स्कन्दपुराण में लिखा है—

'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते ।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु ॥'

मनुजी कहते हैं-प्रजापति ने सृष्टिके पूर्व इस धर्मशास्त्र को बना कर मेरे को उपदेश दिया। फिर मैंने मरीचि आदि को बताया। यह समग्र शास्त्र भृगु आप लोगों को सुनावेंगे, जो कि मेरे से संपूर्ण पढ़ा है। उसके बाद मनुकी आज्ञा पाकर महर्षि भृगु ने सब ऋषियों को कहा कि सुनो ॥ ५८-६० ॥

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाःस्वाःस्वा महात्मानो महौजसः॥ ६१ ॥
स्वारोचिषश्चौत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

स्वायम्भुव मनुके वंश में, छः मनु और हैं। उन्होंने अपने अपने काल में प्रजाकी सृष्टि, पालन आदि किया है। उनका नाम-स्वारोचिष, औत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत है॥ ६१-६२ ॥

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥
निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठात्रिंशत्तु ताः कलाः ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥
अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥
पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

अब मन्वन्तर आदि काल का मान कहते हैं-आँख की पलक गिरने का समय निमेष कहलाता है, १८ निमेष की एक काष्ठा नामक काल होताहै। ३० काष्ठा की कला, ३० कलाका मुहूर्त, ३०मुहूर्त का अहोरात्र होता है। मानुष और दैव अहोरात्र-दिन, रात का विभाग सूर्य करता है। उसमें प्राणियों के सोने के लिए रात और कर्म करने के लिए दिन होता है। मनुष्यों के एक मास

का, पितरों का एक अहोरात्र होता है। उसमें कृष्णपक्ष का दिन कर्म करने और शुक्लपक्ष की रात्रि शयन करने के लिए है ॥ ६३-६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥
ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥६९॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥
यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥
दैविकानां युगानान्तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥

मनुष्यों के एक वर्ष में देवताओं का अहोरात्र होता है। उस में उत्तरायण दिन और दक्षिणायन रात है। ब्राह्म अहोरात्र और चारों युगों का प्रमाण इस प्रकार है-मनुष्यों के ३६० वर्ष का १ देव-वर्ष होता है। ऐसे चार हजार वर्षों को कृतयुग कहते हैं और उसकी संध्या (युग का आरम्भकाल) और सन्ध्यांश (युग का अन्तकाल) दोनों चारसौ ४०० वर्ष का है। यों सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलकर ४८०० दैववर्ष का कृतयुग होता है। अर्थात् ४८०० × ३६० = १७२८००० वर्ष उसका मान है। बाकी त्रेता, द्वापर और कलि इन तीनों के सन्ध्या और सन्ध्यांश के साथ जो संख्या होती है, उस में हजार में की और सैकड़े में की एक एक संख्या घटाने से तीनों की संख्या पूरी होती है। इस प्रकार, त्रेतायुग ३६०० = १२९६००० । द्वापर = २४०० = ८६४०००

कलि १२००=४३२०००; मान होते हैं । यह जो पहले चारों युगों की बारह हजार १२००० दैववर्ष संख्या कही है, यह एक दैवयुग का मान है । ऐसे हजार दैवयुगों का ब्रह्मा का १ दिन और उतनी ही रात होती है । अर्थात् दो हजार दैववर्षों का ब्रह्मा का अहोरात्र होता है । १२००० दैववर्ष का १ युग, इसको १००० गुणा करने से १,२०००००० दैववर्षों का ब्राह्मदिन और इतनी ही रात्रि हुई । इसे ३६० गुणाने से ४३२००००००० मानुषवर्षों का ब्राह्मदिन और उतनी ही रात्रि हुई * ॥ ६७-७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥
तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥
मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशाज्जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥
आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥
वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥
ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

एक हजार युग का ब्रह्मा का पुण्यदिन और उतनी ही रात्रि है । उस रात्रि के अन्त में ब्रह्मा सोकर जागता है और अपने मन को सृष्टि में प्रेरित करता है । परमात्मा की इच्छा से प्रेरित मन, सृष्टि को करता है । मनस्तत्त्व से आकाश पैदा होता है जिस का

* ये सब युगों के मान सूर्यसिद्धान्त में भी इसी प्रकार हैं । इसी आधार से ग्रहभगण आदि के मान सिद्धान्तों में लिखे गये हैं । जो आधुनिक मत से प्रायः मिलते हैं ।

गुण शब्द है। आकाश के विकार से, गन्ध को धारण करनेवाला, पवित्र वायु उत्पन्न हुआ है, उसका स्पर्शगुण है। वायु के विकार से, अन्धकार को नाश करनेवाला, प्रकाशमान अग्नि पैदा हुआ है, उसका गुण रूप है। अग्नि से जल, जिसका गुण रस है और जल से पृथिवी, जिसका गुण गन्ध है। यही आदि से सृष्टि का क्रम है * ॥ ७३-७८ ॥

यत्प्राग् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥
मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥
चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रतिवर्तते ॥ ८१ ॥
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

पूर्व जो बारह हजार वर्ष का एक दैवयुग कहा है, ऐसे ७१ युगों का एक मन्वन्तरकाल होता है। मन्वन्तर असंख्य हैं, सृष्टि और संहार भी असंख्य हैं। परमात्मा यह सब बिना श्रम-खेल के

* इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुतिहै—'आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी' इत्यादि।

मुवाफ़िक़ किया करता है। कृतयुग में धर्म पूरा, चार पैर का और सत्यमय होता है क्योंकि उस समय में अधर्म से मनुष्यों का कोई कार्य न बनता था। दूसरे युगों में धर्म क्रमसे चोरी, झूंठ, माया इन से धर्म चौथाई चौथाई घटता है। सत्ययुग में सब रोग रहित होते हैं। सारे मनोरथ पूरे होते हैं। ४०० वर्ष की आयु होती है। आगे त्रेता आदि में चतुर्थांश घटती जाती है। मनुष्यों को, वेदानुसार आयु, कर्मों के फल और देह का प्रभाव, सब युगानुसार फल देते हैं युगों के अनुसार, कृतयुग में दूसरे धर्म, त्रेता में उससे दूसरा, द्वापर में उस से जुदा, कलिमें कुछ दूसरे ही प्रकार का, यों बदला करता है और आपस में विलक्षण होता है ॥ ७६-८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥
सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्तयर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

कृतयुग में तप मुख्य धर्म है, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में एक दान देना मुख्य धर्म है। परमात्मा ने, संसार की रक्षा के लिये ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के काम, अलग अलग

नियत किये । पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, ये छः कर्म ब्राह्मणों के हैं । प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और इन्द्रियों के विषयों में न फँसना, ये क्षत्रियों के कर्म हैं । पशुओं को पालना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना, ये सब काम वैश्य के हैं । परमात्माने शूद्रों का एक ही काम बतलाया है-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की भक्ति से, सेवा करना ॥ ८९-९१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतमं तस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ॥ ९२ ॥
उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

पुरुष नाभि के ऊपर अतिपुनीत माना गया है । उससे भी उस का मुख अतिपवित्र है । परमात्मा के मुखतुल्य होने से, चारों वर्णों में बड़ा होने से, और वेद पढ़ाने से, ब्राह्मण सारे जगत् का प्रभु है ॥ ९२-९३ ॥

तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥
यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किम्भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

ब्रह्मा ने अपने मुख से देव और पितृकार्य संपादनार्थ और लोक की भलाई के लिए, ब्राह्मण को उत्पन्न किया है। जिस के मुखद्वारा देवगण हव्य और पितृगण कव्य (श्राद्धादि में) को ग्रहण करते हैं उससे श्रेष्ठ कौन है ? भूतों (स्थावर, जङ्गम) में प्राणी (कीटादि) श्रेष्ठ हैं। इन में भी बुद्धिजीवी (पशु आदि) इनसे भी मनुष्य श्रेष्ठ है उन में ब्राह्मण अधिक है। और ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कर्म जाननेवाले, उन में कर्म करनेवाले और उन से भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण का शरीर ही धर्म की अविनाशी मूर्ति है। क्योंकि, वह धर्मद्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ६४-६८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ६६ ॥
सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

ब्राह्मण का उत्पन्न होना पृथिवी में सब से उत्तम है। क्योंकि सब जीवों के धर्मरूपी ख़ज़ाने की रक्षार्थ वह समर्थ है। जो कुछ जगत् के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मणों के हैं। ब्रह्ममुख से उत्पत्ति होने से ब्राह्मण, सब ग्रहण करने योग्य है ॥ ६६--१०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥
तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।
स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥
विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यग् नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥
इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः संशितव्रतः।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोपि सोर्हति ॥ १०५ ॥

ब्राह्मण, यदि दूसरे का दिया अन्न भोजन करे, या वस्त्र पहने, या दान देवे, तौभी वह सब ब्राह्मण का अपना ही है। और लोग तो ब्राह्मणों की कृपा से भोजन पाते हैं। ब्राह्मण और क्षत्रियों के कर्म विवेक के लिये स्वायम्भुव मनु ने यह धर्मशास्त्र बनाया। विद्वान् ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र पढ़ना और शिष्यों को पढ़ाना चाहिये। और किसी को उपदेश न करना चाहिये। नियमनिष्ठ ब्राह्मण जो इस शास्त्र का अध्ययन करता है वह मन, वाणी, देह के पापों से लिप्त नहीं होता। धर्मशास्त्रविशारद, अपवित्र पांति को पवित्र कर देता है और अपने वंशके सात पिता, पितामह आदि और पुत्र, पौत्र आदि को पवित्र करदेता है। और सारी पृथिवी को भी वह लेने योग्य है ॥ १०१-१०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥
अस्मिन् धर्मोखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥
आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदायुक्तोनित्यंस्यादात्मवान्द्विजः॥१०८॥

यह शास्त्र, कल्याणदायक, बुद्धिवर्धक, यशदायक, आयुवर्धक और मोक्ष का सहायक है। इस स्मृति में सारे धर्म कर्म कहे हैं। कर्मों के गुण दोष भी कहे हैं। और चारों वर्णों का परंपरा से प्राप्त आचार कथन किया गया है। श्रुति और स्मृति में कहा आचार परमधर्म है, इस लिए इस में ब्राह्मणों को सदा तत्पर रहना चाहिए ॥ १०६-१०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

अपने आचार से हीन ब्राह्मण वेदफल को नहीं पाता । और जो आचारयुक्त है वह फलभागी होता है । इस प्रकार मुनियों ने, आचार से धर्म प्राप्ति देखकर, धर्ममूल आचार को ग्रहण किया है ॥ १०९-११० ॥

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥
दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥
वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।
भक्ष्याभक्ष्यश्च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥११३॥
स्त्रीधर्मयोगतापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ।
राज्ञश्च धर्ममखिलङ्कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

अब इस धर्मशास्त्र में मनु ने, किन किन विषयों को कहे हैं, उस की संख्या बतलाते हैं-जगत् की उत्पत्ति, संस्कारों की विधि, ब्रह्मचारियों के व्रताचरण, गुरुवन्दन, उपासना आदि, स्नानविधि, स्त्रीगमन, विवाहों का लक्षण, महायज्ञ-वैश्वदेवादि, श्राद्धविधि, आजीवनोपाय, गृहस्थ के व्रतनियम, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार, शौचनिर्णय, द्रव्यशुद्धि, स्त्रियों के धर्मोपाय, वानप्रस्थ आदि तपों के धर्म, मोक्ष और संन्यासधर्म, राजाओं के संपूर्ण धर्म, कार्यों का निर्णय-साखी-गवाहियों से प्रश्नविधि, स्त्री पुरुषों के धर्म, हिस्सा-बाँट और जुआरी, चोरोंका शोधन कहा गयाहै॥१११-११५॥

वैश्यशूद्रोपचारं च सङ्कीर्णानां च सम्भवम् ।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥
संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ॥ ११८ ॥

वैश्य और शूद्रों के धर्मानुष्ठान का प्रकार, वर्णसङ्करों की उत्पत्ति, वर्णों का आपद्धर्म और प्रायश्चित्तविधि, उत्तम, मध्यम, अधम इन तीन प्रकार के कर्मों से देहगति का निर्णय, मोक्ष का स्वरूप, और कर्मों के गुण दोष की परीक्षा, देश धर्म, जाति का धर्म, कुल का धर्म जो परंपरा से चला आता है । पाखण्डियों के कर्म, गण-वैश्य आदि के धर्म इस शास्त्र में भगवान् मनु ने कहा है ॥ ११६-११८ ॥

यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
प्रथमोऽध्यायः ॥

जिस प्रकार, मनु से पूर्वकाल में मैंने पूछा, तब यह शास्त्र उन्हों ने उपदेश किया । उसी प्रकार अब आप मेरे से सुनिये ॥ ११९ ॥

पहला अध्याय समाप्त ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १ ॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

दूसरा अध्याय ।

धर्म का लक्षण ।

अब धर्म का सामान्य लक्षण कहते हैं-वेदविशारद, धार्मिक, राग द्वेष से रहित, महात्माओं ने जिस धर्म का पालन किया और हृदय से स्वीकार किया उस को सुनो । पुरुष को कामफल का अभिलाषी होना अच्छा नहीं है और न बिल्कुल इच्छा का त्याग ही श्रेष्ठ है । क्योंकि विना इच्छा, वेदाध्ययन और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं होसकता ॥ १-२ ॥

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ।
व्रता नियमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥
अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥
तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुते ॥ ५ ॥

इस कर्म से यह इष्टफल होगा-यही संकल्प है । इसलिए सब कामों का मूल संकल्प है । यज्ञादि सब संकल्प से ही होते हैं । व्रत, नियम, धर्म सब संकल्प से किये जाते हैं अर्थात् विना संकल्प

कुछ नहीं होसकता । संसार में कोई कर्म विना इच्छा के होते नहीं देखा गया । शास्त्रोक्त कर्मों का भलीभांति अनुष्ठान करने से स्वर्ग-लोक की प्राप्ति और इष्टकाम पूरे होते हैं ॥ ३-५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

संपूर्ण वेद, धर्ममूल हैं-वेदवेत्ताओं की स्मृति और शील-ब्रह्मण्यता, साधु पुरुषों का आचार, और आत्म-सन्तोष ये धर्म में प्रमाण माने जाते हैं ॥ ६ ॥

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

जिस वर्ण का जो धर्म मनु ने कहा है, वह सब वेदोक्त है । वेद संपूर्ण ज्ञान का भण्डार है । विद्वान्, ज्ञानदृष्टिसे, वेदप्रमाण द्वारा धर्मशास्त्र को जांचकर, अपने धर्म में श्रद्धा करें । जो पुरुष, वेद और स्मृतियों में कहे धर्मों का पालन करताहै, वह संसार में कीर्ति पाकर, परलोक में अक्षय सुख पाता है ॥ ७-९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

श्रुति वेद को और स्मृति धर्मशास्त्र को कहते हैं। ये दोनों सब विषयों में निर्विवाद, तर्क-कुतर्क रहित हैं। क्योंकि, इन्हीं से धर्म का प्रकाश हुआ है। जो द्विज, कुतर्कों से इनकी निन्दा करते हैं, वे नास्तिक हैं, वेदनिन्दक हैं। वे शिष्टसमाज से निकाल देने योग्य हैं। वेद, स्मृति, सदाचार, और अपना सन्तोष, ये चार प्रकार के धर्मलक्षण, मुनियों ने कहे हैं॥ १०-१२॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ १३॥
श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥ १४॥
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकीश्रुतिः॥ १५॥
निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्यशास्त्रेधिकारोऽस्मिन्ज्ञेयोनान्यस्यकस्यचित्॥१६॥

जो पुरुष, अर्थ-प्रयोजन, काम-अभिलाष में नहीं फँसे हैं उनको धर्म ज्ञान होता है। धर्म जाननेवालों के लिए, सब से श्रेष्ठ प्रमाण श्रुति है। जहां श्रुति दो प्रकार की हो अर्थात् एक ही विषय को दो तरह से कहें, वहां दोनों वचन धर्म में प्रमाण हैं * यह ऋषियों ने कहा है। श्रुतिभेद की मान्यता दिखलाते हैं-उदितकाल-सूर्योदयकाल में, अनुदित-सूर्योदय से पूर्व में, समयाध्युषित-सूर्य, नक्षत्र-वर्जितकाल में, सर्वथा यज्ञ-होम होता है, यह वैदिकी श्रुति है †। यों ज्ञात होता है एकही श्रुति कालभेद कहती है और उन में

* जाबालिवचन है-'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा॥' जैमिनि ने मीमांसा में 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' 'औदुम्बरी सर्वावेष्टयितव्या' इन दो श्रुति-स्मृति वाक्यों के विरोध में ज्योतिष्टोम के प्रसङ्ग में श्रुति प्रामाण्यही माना है।

† उदिते जुहोति। अनुदिते जुहोति। समयाध्युषिते जुहोति।

अलग अलग यज्ञकर्म किया जाता है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक जिस वर्ण (द्विजाति) के लिए वेदमन्त्रों से कर्म लिखे हैं उसी का इस शास्त्र को पढ़ने सुनने का अधिकार है दूसरों का नहीं है ॥ १३-१६ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

देशविभाग।

सरस्वती और दृषद्वती इन देवनदियों के बीच जो देश है उस को 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं‡ जिस देशमें, परंपरा से, जो आचार चला आता है, वही वर्णों का और सङ्कीर्ण जातियों का 'सदाचार' कहा जाता है ॥ १७-१८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥
हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

‡ महाभारत में लिखाहै—शुतुद्रि और यमुना के मध्यगत 'सक्षप्रस्रवण' नामक पर्वत से 'सरस्वती' नदी की उत्पत्ति है। कुरुक्षेत्र की उत्तर सीमा में, इसका प्रवाह प्रायः वर्षा में देखा जाता है। ऋग्वेद में भी 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि...' इत्यादि वर्णन है। और दृषद्वती नदी, हास्तिनपुर के पश्चिम-उत्तर दिशा में, अम्बाला के पास कहीं नदियों में मिली है। इन दोनों के बीच में प्राचीन आर्य ब्राह्मणों के निवास और उत्पत्ति से 'ब्रह्मावर्त' नाम प्रसिद्ध हुआ।

कुरुक्षेत्र और मत्स्यदेश पञ्चाल और शूरसेनक * ये ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त के समीप हैं। कुरुक्षेत्रादि देशों में उत्पन्न ब्राह्मणों से सब मनुष्य अपने अपने उचित सदाचारों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये हिमवान् पर्वत और विन्ध्याचल के बीच में, सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में, जो देश हैं, उनको 'मध्यदेश' कहते हैं। पूर्वसमुद्रसे पश्चिमसमुद्र तक, और हिमाचलसे विन्ध्याचल के बीच में जो देश हैं, उनको 'आर्यावर्त' कहते हैं † ॥१९-२२॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतःपरः ॥ २३ ॥
एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः॥२४॥

जिस देश में कृष्णसार मृग स्वभाव से विचरता है, वह यज्ञ करने योग्य देश है। इसके सिवा जो देश हैं, वे म्लेच्छ देश हैं-अर्थात् यज्ञ लायक नहीं हैं। इन देशों में, द्विजातियों को यत्नपूर्वक निवास करना चाहिये। और शूद्र, अपनी जीविकावश, चाहे जिस देश में निवास कर सकता है॥ २३-२४॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

---

* मत्स्यदेश, राजा विराटकी राजधानी थी। जहां पाण्डवों ने एक वर्ष अज्ञातवास किया था। पञ्चाल, दो भागों में बटा है, दक्षिण पाञ्चाल और उत्तर पाञ्चाल। यह आज कल का रोहिल खण्ड है। इसी के भीतर, कान्यकुब्ज देश भी है। इस देश का राजा द्रुपद था। शूरसेन देश, श्रीकृष्ण की जन्मभूमि है। इसके साथ, आज कल मथुरा, वृन्दावन, आगरा मिले हैं।

† आर्यों के वर्तन-गमागम से अर्थात् आने जाने से, आर्यावर्त नाम पड़ा है। शः बातें इतिहास में, प्रसिद्ध हैं।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

वर्णधर्म ।

इस प्रकार, धर्म जानने का कारण और जगत् की उत्पत्ति संक्षेप से कही गई है । अब वर्णधर्म कहे जाते हैं । जो वैदिक पुण्यकर्म हैं, उनसे द्विजातियों का गर्भाधानादि शरीरसंस्कार करना चाहिये । जो कि, दोनों लोक में, पवित्र करनेवाला है । गर्भाधान संस्कार, जातकर्म, चूडाकर्म, मौञ्जीबन्धन, इन संस्कारों से, शुक्र और गर्भसम्बन्धि दोष, द्विजातियों के निवृत्त होते हैं । वेदाध्ययन, व्रत, होम, इज्या-ब्रह्मचारिदशा में देव-पितृतर्पण, पुत्रोत्पादन, महा-यज्ञ-पञ्चमहायज्ञ, यज्ञ-ज्योतिष्टोमादि, इन सब कर्मों के करने से, यह शरीर ब्रह्मभाव पानेयोग्य होता है ॥ २५-२८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥
नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

बालक का, नाभिछेद के पूर्व, जातकर्म-संस्कार करे, और अपने गृह्यसूत्रोक्त विधि के अनुसार, सुवर्ण, मधु और घृत का प्राशन (चटाना) करावे । फिर आशौच निवृत्त होजाने पर, दशवें या बारहवें दिन, शुभतिथि-मुहूर्त-नक्षत्र में, बालक का नाम-करण करे ॥ २९-३० ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रैष्यसंयुतम्॥ ३२॥
स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ ३३॥

ब्राह्मण का नाम मङ्गलवाचक शब्द, क्षत्रिय का बलवाचक, वैश्य का धनयुक्त और शूद्र का दासयुक्त नाम होना चाहिये। ब्राह्मणों के नाम में शर्मा, क्षत्रियों के वर्मा, वैश्यों के भूति और शूद्रों के दास लगाना चाहिए। जैसे शिवशर्मा, रामवर्मा आदि। स्त्रियों के नाम सुख से उच्चारण योग्य, क्रूर न हो, वह साफ़, सुन्दर मङ्गलवाची, अन्त में दीर्घाक्षरवाला और आशीर्वाद-शब्द से मिला हो, जैसा सरला, विमला, यशोदा इत्यादि॥ ३१-३३॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ ३४॥
चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥ ३५॥
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ ३६॥

बालक को चौथे महीने घर से बाहर निकाले। छठे महीने में उसको अन्न खिलावे, या जैसी रीति अपने कुल में हो वैसा करे। चूडाकर्म, पहले या तीसरे वर्ष* करे, यह वेद की आज्ञा है। ब्राह्मण बालक का गर्भवर्ष से आठवें वर्ष यज्ञोपवीत करे, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष और वैश्य का बारहवें वर्ष करना चाहिये†॥३४-३६॥

* आश्वलायनगृह्यसूत्र में लिखा है--' तृतीये वर्षे चूडाकरणं यथा कुलधर्मं वा।' प्रत्येक संस्कारों का विवरण, गृह्यसूत्रों में किया गया है। अपने अपने गृह्यसूत्रों के अनुसार, संस्कार करना चाहिए।

† 'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वैकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यम्।'
आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२०।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥
आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

वेदाध्ययन और उसके अर्थज्ञान से बढ़ा तेज ब्रह्मवर्चस है। उसकी इच्छावाले ब्राह्मण का पांचवें वर्ष, बलार्थी क्षत्रिय का छठें वर्ष, धनी होना चाहनेवाले वैश्य का आठवें वर्ष यज्ञोपवीत संस्कार करे। सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की सावित्री नहीं जाती। क्षत्रिय की बाइस वर्ष तक और वैश्य की चौवीस वर्ष तक नहीं जाती*। अर्थात् यह उपनयन समय की परमावधि है। इस काल के बाद, ये तीनों, समय में संस्कार न होने से, सावित्रीपतित 'व्रात्य' नामक होजाते हैं और शिष्टों से निन्दित होते हैं। इन अशुद्ध व्रात्यों के साथ आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण को, विद्या वा विवाह का सम्बन्ध न करना चाहिए ॥ ३७-४० ॥

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥
मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥
मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मान्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

---

* 'आषोडशाद्ब्राह्मणस्यानतीतः काल आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य। अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति।' आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।२०।

कृष्णमृग, रुरुमृग और अज इनके चर्म को क्रम से तीनों वर्ण के ब्रह्मचारी धारण करें और सन, क्षौम (अलसी) और ऊन का वस्त्र धारण करें। मूंज की तिलड़ी और चिकनी मेखला ब्राह्मण की बनावे, क्षत्रिय की मूर्वा नामक बेल के रेसे की गुणसी बनावे, और वैश्य की सन के डोरे की बनाना चाहिए। यदि मूँज न मिले तो कुश, अश्मन्तक, बल्वज तृणों से तीनों वर्णों की मेखला बनावे। यह तीन लर की एक, तीन, वा पाँच गांठ लगाकर धारण करना चाहिए॥ ४१-४३॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ ४४॥
ब्राह्मणो वैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ ४५॥
केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः॥४६॥
ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचो नाग्निदूषिताः॥ ४७॥

ब्राह्मण का यज्ञोपवीत सूत का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का भेड़ की ऊन का, ऊपर को बटा हुआ (दाहिने हाथ से) तीन लर का होना चाहिए। धर्मशास्त्र के अनुसार, ब्राह्मण बेल वा पलाश का दण्ड, क्षत्रिय वट वा खैर की लकड़ी का, वैश्य पीलू वा गूलर का धारण करे। ब्राह्मण का दण्ड ऊंचाई में शिखा तक, क्षत्रिय का मस्तक तक और वैश्य का नाक तक होना चाहिए। ये सब दण्ड सीधे, छेदरहित, देखने में सुन्दर, दूसरे को भय न करनेवाले, बकले के सहित और आग में न जले हुए, होने चाहिए॥ ४४-४७॥

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्ष्यं यथाविधि॥ ४८॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्ष्यमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥
मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

ब्रह्मचारी दण्ड लेकर, सूर्य का आराधन और अग्नि की प्रदक्षिणा करके विधिपूर्वक भिक्षा मांगे । ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षा मांगते समय, 'भवति भिक्षां देहि' क्षत्रिय 'भिक्षां भवति देहि,' वैश्य 'भिक्षां देहि भवति' ऐसा बोले । ब्रह्मचारी को, पहले माता से, माता की बहन से, बहन से और जो ब्रह्मचारी का अपमान न करती हो उस से भिक्षा मांगना चाहिए ॥ ४८-५० ॥

समाहृत्य तु तद्भैक्ष्यं यावदर्थममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥
आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥
उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥
पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं प्रयच्छति ।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

अपने प्रयोजन भर को निष्कपटभाव से भिक्षा लाकर, गुरु को निवेदन करे और पवित्रता से पूर्वदिशा को मुख करके आचमनपूर्वक भोजन करे। आयु के लिए पूर्वमुख, यश के लिए दक्षिण मुख, संपत्ति के लिए पश्चिम मुख, सत्य के लिए उत्तरमुख होकर भोजन करे। द्विजों को नित्य सावधानी से आचमनपूर्वक भोजन

करके फिर आचमन और जल के हाथ से आँख, कान, नाक का स्पर्श करना चाहिए। अन्न को आदर से ग्रहण करे, उसकी निन्दा न करे। उसको देखकर हर्षित, पुलकित होकर सर्वथा प्रशंसा करे। यों आदर से किया हुआ भोजन शरीर और प्राणों को बल देता है नहीं तो दोनों का नाश करता है॥ ५१-५५॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवाध्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥ ५६॥
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ५७॥

उच्छिष्ट-जूँठा अन्न किसी को न दे, भोजन के बीच ठहर ठहर कर भोजन न करे, अधिक भोजन न करे और जूँठे मुंह कहीं न जाय। अतिभोजन से आरोग्य और आयु में बाधा होती है, यह स्वर्ग और धर्म का विरोधी है। लोक में भी अच्छा नहीं माना जाता, इसलिए अतिभोजन न करना चाहिए॥ ५६-५७॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥ ५८॥
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ ५९॥
त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च॥ ६०॥
अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥ ६१॥
हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः॥ ६२॥

ब्राह्मण सदा ब्राह्मतीर्थ से आचमन करे, या प्रजापतितीर्थ

और देवतीर्थ से करे परन्तु पितृतीर्थ से कभी आचमन न करे। अँगूठे के मूल को ब्रह्मतीर्थ कहते हैं। अँगुलियों के मूलभाग को प्रजापतितीर्थ अग्रभाग को देवतीर्थ और अँगूठा-तर्जनी के मध्य भाग को पितृतीर्थ कहते हैं। आचमन के समय तीन बार आचमन करके दो बार मुख धोवे और आँख, कान, नाक, मुख आदि इन्द्रिय, हृदय और शिर का जल से स्पर्श करे। धर्मज्ञ पुरुष, पवित्र होने की इच्छा से, नित्य, एकान्त में पूर्व या उत्तरमुख बैठकर, शीतल और फेन (झाग) रहित जल से, ब्राह्म आदि तीर्थों से आचमन करे। यह आचमन जल हृदय तक पहुँच जाने से ब्राह्मण, कण्ठतक क्षत्रिय, मुख गीला होने से वैश्य और ओठ स्पर्श से शूद्र पवित्र होता है—अर्थात् इसी हिसाब से जल लेकर अपना अपना आचमन करना चाहिए ॥ ५८-६२ ॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीतीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥
मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

बायें कांध पर जनेऊ रखकर, दाहने हाथ को बाहर निकालने से द्विज ' उपवीती ' कहा जाता है। दाहने कांध पर से बायें तरफ़ लटकाने से 'प्राचीन आवीती' और गले में मालासी पहनने से ' निवीती ' कहा जाता है। यदि मेखला, मृगचर्म, दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु पुराने होजायँ या टूट जायँ तो इनको जल में फेंककर और अपने गृह्यसूत्र के मन्त्रों को पढ़कर, दूसरा धारण करना चाहिए ॥ ६३-६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥
अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥
एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥
उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

ब्राह्मण का गर्भ से सोलहवें वर्ष, क्षत्रिय का बीसवें वर्ष, और वैश्य का चौबीसवें वर्ष केशान्त-संस्कार कियाजाता है। स्त्रियों की शरीर-शुद्धि के लिए, सब संस्कार (उपनयन छोड़कर) समय पर क्रम से होते हैं, पर वेदमन्त्रों को न पढ़ना चाहिए। विवाह-संस्कार ही स्त्रियों का उपनयन संस्कार है, पतिसेवाही गुरुकुल वास है, घर का काम-काज ही हवनकर्म है। यह द्विजों के द्विजत्व को करनेवाले उपनयन-संस्कार को कहा है, अब उन के कर्तव्य कर्मों को सुनो ॥ ६५–६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥ ७० ॥
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

शिष्य के यज्ञोपवीत संस्कारके बाद, गुरु पहले शुद्धि, आचार, प्रातःकाल और सायंकाल हवन और सन्ध्या सिखावे। पढ़नेवाले शिष्य को, छोटा वस्त्र धारण और शास्त्रविधि से उत्तरमुख आचमन करके, जितेन्द्रिय होकर, ब्रह्माञ्जलिपूर्वक पढ़ना चाहिए ॥ ७०–७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।

सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।

अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।

स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

वेदाध्ययन के आरम्भ और अन्त में सदा गुरु के चरण छुवे और हाथ जोड़कर पढ़े, इसीको 'ब्रह्माञ्जलि' कहते हैं। अलग अलग हाथसे गुरु के पैर छुवे, दहने से दहना और बायेंसे बायाँ। गुरु निरालस होकर शिष्य को पहले 'हे शिष्य पढ़ो' कहकर वेद पढ़ावे और अन्तमें 'विरामोऽस्तु' (पाठ रुकजाय) कहकर विश्राम करे। वेदाध्ययन के आदि और अन्त में 'ॐ' का उच्चारण सदा करे। यदि आदि में 'ॐ' न कहे तो विद्या में प्रेम नहीं होता और अन्त में न कहे तो पढ़ी विद्या भूल जाती है। पूर्वदिशा को कुशासन का अग्रभाग करके, उस पर वेदाध्यायी बैठकर, तीन प्राणायाम करके, पवित्रता से, स्वाध्याय करने के पूर्व ॐकार का उच्चारण करे ॥ ७२-७५ ॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादंपादमदूदुहत् ।

तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

प्रजापति ने, अकार, उकार, मकार और भूः, भुवः, स्वः, इन तीन व्याहृतियों को ऋक्, यजुः और साम वेद से दुहकर सार

निकाला है* और तीनों वेदों से, गायत्रीऋचा के एक एक पाद को दुहा है ॥ ७६ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥
एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

वेदज्ञ ब्राह्मण, प्रातः और सायंकाल समय, ॐकार, और भूः, भुवः, स्वः, इन व्याहृतियों को पूर्व लगाकर गायत्री जपने से, वेद पढ़ने का फल पाता है। जो द्विज, ग्राम वा नगर के बाहर एकान्त में, ॐकार, तीन व्याहृति और गायत्री इन तीनों का एक हजार जप करता है, वह केंचुल से सांप की भांति, महापापों से छूट जाता है। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य गायत्री न जपता हो और समय पर अपनी अग्निहोत्रादि क्रिया न करता हो तो वह सत्पुरुषों में निन्दा पाता है ॥ ७८–८० ॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

---

* शतपथ ब्राह्मण (११ । ५ । ८) में लिखा है। प्रजापति ने सृष्टि की इच्छा की तो पहले पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश उत्पन्न हुआ। उसके बाद, तीनों लोकों से, क्रम से, अग्नि, वायु और सूर्य ये प्रकाशमान तीन पदार्थ प्रकट हुए। फिर इन तीनों से क्रम से ऋक्, साम और यजुर्वेद को उत्पन्न किया। अनन्तर, तीनों वेदों का बीजस्वरूप, भूः, भुवः, स्वः, का प्रादुर्भाव हुआ। प्रथमाध्याय के (२२) श्लोक की टिप्पणी में, वेदोत्पत्ति विषय देखो।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परंतपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥ ८३॥
क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥ ८४॥

ॐकार, तीनों व्याहृति और तीन चरण की गायत्री इनको वेद का मुख जानना चाहिए। जो पुरुष, निरालस तीन वर्ष तक गायत्री जप करता है, वह अन्त में वायु तुल्य व्यापक होकर, परब्रह्म को पहुँचता है। 'ॐ' यह परब्रह्म का वाचक है, प्राणायाम बड़ा तप है, गायत्री से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है और मौन रहने से सत्य बोलना उत्तम होता है। वेदोक्त होम, यज्ञ, क्रिया सब नाशवान् हैं-या उनका स्वर्गादि फलभी नाशवान् है। केवल ॐकार परब्रह्म-प्रजापतिका रूपही अविनाशी जानना चाहिए॥८१-८४॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ ८५॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ ८६॥
जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ ८७॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥ ८८॥

विधियज्ञ-दर्शपौर्णमास से जपयज्ञ दशगुना श्रेष्ठ है। जिसमें पास में बैठा भी न सुने ऐसा उपांशुजप सौगुना श्रेष्ठ है और जिस में ओठ भी न हिले, ऐसा मानसिक जप हज़ारगुना अच्छा कहा है। विधियज्ञ और चारों पाकयज्ञ-वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन, जपयज्ञ के सोलहवें भाग के समान भी नहीं

होसकते । ब्राह्मण, गायत्रीजप से ही मुक्ति पाताहै, और यज्ञ आदि करे चाहे न करे । वह गायत्रीद्वारा मैत्र (सूर्य) की उपासना करने से 'मैत्र' कहा जाता है । विवेकी पुरुष को, मन को खींचने वाले विषयों से, इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए, जैसे सारथि घोड़ों को रखता है ॥ ८७-८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

पूर्वाचार्यों ने ग्यारह इन्द्रियां कही हैं, उनके नाम ये हैं-कान, आंख, नाक, जीभ, खाल, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, हाथ, पैर और वाणी इन दश इन्द्रियों में पहली पांच "ज्ञानेन्द्रिय" और पिछली "कर्मेन्द्रिय" कहलाती हैं ॥ ८९-९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ९४ ॥
यश्चैतान्प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलान् त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

ग्यारवाँ मन है, वह अपने संकल्प-विकल्परूप गुण से दशों इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करता है । इसी मन को रोकने से इन्-

इन्द्रियां वश में होजाती हैं। इन्द्रियों के विषयोंमें फँसने से, अवश्य दोष होता है, पर उनको वश में रखने से मोक्ष होजाता है। विषय भोग की इच्छा उसके भोगने से कभी शान्त नहीं होती जैसे घृत से अग्नि कभी शान्त नहीं होता, बढ़ता ही है। जो पुरुष सब कामनाओं को भोगता है और जो उन सबको छोड़ता है, इन दोनों में उनका छोड़नाही अच्छा है ॥ ९२–९५ ॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

विषयों में फँसी इन्द्रियों को, जैसा ज्ञान से वश में किया जासकता है, वैसा विषयों के त्याग से नहीं किया जा सकता है। जिस का मन विषयों में लगा होता है, उसको वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तप कभी फल नहीं देते। जिसको कोई चीज़ सुनकर, या छूकर, या देखकर, या खाकर, या सूंघकर हर्ष वा शोक नहीं होता, उसको जितेन्द्रिय जानना चाहिए ॥ ९६–९८ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ९९ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संनियम्य मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

पानी की मशक में छेद होजाने से उसका पानी बाहर निकल जाता है, ऐसेही यदि इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय निकल कर विषय में लग जाव तो मनुष्य की बुद्धि में विकार होजाता है। इस लिए इन्द्रियों को और मन को वश में करके, शरीर को क्लेश न

देकर, अच्छी रीति से, अपने कार्यों का साधन करना चाहिए॥ ९९-१००॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥ १०१॥
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥ १०२॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥ १०३॥
अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥ १०४॥
वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ १०५॥

प्रातःकाल सन्ध्या और गायत्रीजप का समय सूर्यदर्शन तक रहता है और सायंकाल में नक्षत्रदर्शन तक रहताहै। प्रातःसन्ध्या से रात में किया हुआ साधारण दोष और सायंसन्ध्या से दिन में किया हुआ साधारण दोष दूर होजाता है। जो प्रातःसन्ध्या और सायंसन्ध्या नहीं करता उसको शूद्र की भांति सब द्विजाति के कामों से अलग करदेना चाहिए। जलके पास या वन में, एकाग्र होकर, नित्य कर्म, गायत्रीजप और स्वाध्याय को करे। वेद के छ अङ्गों को पढ़ने में, नित्य स्वाध्याय में, ब्रह्मयज्ञ और होममन्त्र पढ़ने में, अनध्याय नहीं माना जाता है॥ १०१-१०५॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ १०६॥
यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥ १०७॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥
आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तःशक्तोऽर्थदःसाधुः स्वोऽध्याप्योदशधर्मतः॥१०९॥
नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥
अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥ १११ ॥

नित्य कर्म में अनध्याय नहीं माना जाता, क्योंकि वह ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है । उसमें ब्रह्माहुति का होम, पुण्यफल है और अनध्याय में वषट्कार-वेदाध्ययन के समाप्ति का शब्द किया जाता है । जो ब्रह्मचारी, एक साल तक नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय करता है उसको स्वाध्याय, दूध, दही, घी और मधु बरसाता है । ब्रह्मचारी, उपनयन के बाद समावर्तन-अर्थात् वेद पढ़कर घर लौटने तक, गुरुकुल में, होम के लिए लकड़ी बटोरे, भिक्षा लावे, भूमि पर सोवे और गुरुसेवा किया करे । आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञानदाता, धर्मपरायण, पवित्र,प्रामाणिक, पढ़ने योग्य, धनदाता, सदाचारी और अपनी जाति-सम्बन्धी इन दशको धर्मार्थ पढ़ाना चाहिए । बिना पूंछे किसीसे न बोले और जो अन्याय से पूंछे उससे भी न बोले, ऐसे मौके पर चतुरको जानकर भी अनजान सा रहना चाहिए । क्योंकि, जो अधर्म से पूंछताहै या जो उत्तर देता है, उन में एक मरजाता है या आपस में विरोध होताहै ॥ १०६–१११ ॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥
विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनमिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

जिसको पढ़ानेसे धर्म, धन या सेवा कुछ भी न मिले, उसे विद्या न पढ़ावे। अच्छा बीज ऊषर में बोना व्यर्थही है। वेदज्ञाता, विद्या के साथही मरजाय वह अच्छा, पर घोर दुःख के समय भी कुपात्र में विद्याबीज कभी न बोवे ॥ ११२-११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥
ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा * मैं तेरी निधि हूं, मेरी रक्षा कर, मत्सरी पुरुष को मेरे को न दे, ऐसा करने से मैं तुम में अधिक बलवान् होकर रहूंगी। जो पवित्र, जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी हो और निधि (खज़ाना) के समान मेरी रक्षा करनेवाला हो, उसको मेरा उपदेश करना। जो कोई पढ़ता हो उससे गुरु के आज्ञा विना यदि दूसरा पढ़लेवे, तो वह विद्याचोर, नरकगामी होता है ॥ ११४-११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥
सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥
शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

---

* इसी अर्थ की श्रुति है—
'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥'

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ १२०॥

जिससे लौकिक विषय, या वैदिक क्रिया या ब्रह्मविद्या को सीखे उसको पहले प्रणाम करना चाहिए। जो केवल गायत्री जानता हो, जितेन्द्रिय हो वह ब्राह्मण मान्य होताहै। और जो तीनों वेदोंका भी ज्ञाता हो पर भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखता हो, सब निषिद्ध चीज़ें बेंचताहो वह माननीय नहीं होता। जिस शय्या और आसन पर, अपने से श्रेष्ठ-बड़ा बैठता हो उस पर कभी न बैठे। स्वयं आसन वा शय्या पर बैठा हो तब कोई पूज्य आवे तो उठकर प्रणाम करना चाहिए। गुरु या किसी श्रेष्ठ के आने पर युवा पुरुष के प्राण संभ्रम से ऊपर चढ़ते हैं, फिर उठकर प्रणाम आदि करने पर वे प्राण स्वस्थ होते हैं। इसलिए अवश्य स्वागत करना चाहिए॥ ११७-१२०॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ १२१॥
अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥ १२२॥
नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च॥ १२३॥
भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः॥ १२४॥
आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥ १२५॥

जो पुरुष बड़ों की सेवा और उनको प्रणाम करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बढ़ते हैं। वृद्ध को प्रणाम करता हुआ विप्र, 'मैं अमुक नाम हूं' ऐसा कहे। जो प्रणम्य

पुरुष आशीर्वाद देने का क़ायदा न जानते हों, उनको प्रणाम समय में 'मैं हूं' इतना ही कहे और स्त्रियों को भी प्रणाम करते हुए यही कहना चाहिए। अभिवादन-प्रणाम करने के समय, अपने नाम के अन्त में 'भोः' कहे जैसा— 'देवदत्तशर्माहमस्मि भोः'। प्रणम्य पुरुष के नाम के स्थान में 'भोः' यह सम्बोधन ऋषियों ने कहा है। अर्थात् प्रणम्य का नाम न कहकर 'भोः' कहना चाहिए। विप्र प्रणाम करे तो आशीर्वाद में 'आयुष्मान् भव सौम्य' ऐसा कहे। और उसके नाम के अन्त में अकार का अगर व्यञ्जनान्त नाम हो तो उसके पहले अक्षर का प्लुत-ऊंचा उच्चारण करे *॥ १२१-१२५॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः॥ १२६॥
ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥ १२७॥

जो ब्राह्मण, प्रणाम-आशीर्वाद की रीति न जानता हो उसको प्रणाम न करना चाहिए। क्योंकि वह शूद्र के समान है। आपस में मिलने पर ब्राह्मण से 'कुशल' क्षत्रिय से 'अनामय' वैश्य से 'क्षेम' और शूद्र से 'आरोग्य' पूछना चाहिए॥ १२६-१२७॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भो भवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित्॥ १२८॥
परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च॥ १२९॥
मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात् प्रत्युत्थाय यवीयसः॥ १३०॥

---

* यह सब प्रणाम, आशीर्वाद की रीति संस्कृतभाषा में करने की लिखी गई है। प्रायः वेदपाठी-ब्रह्मचारी गुरुकुल में इन नियमों का पालन करतेथे।

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया॥ १३१॥
भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः॥ १३२॥

यज्ञादि में दीक्षित ब्राह्मण उमर में छोटा हो तो भी उसका नाम न लेवे, उसको 'भोः' 'भवान्' कहकर पुकारना वा कुछ कहना चाहिए। जो दूसरे की स्त्री हो, या जिससे सम्बन्ध न हो उससे आप, सुभगे, बहन कहकर बोलना। मामा, पिता का भाई, श्वशुर, ऋत्विज और गुरु ये यदि उमर में छोटे हों, तो भी, मिलने पर उठकर अपना नाम ज़ाहिर करना चाहिए। मौसी, मामी, सास और बुआ, ये सब गुरु-स्त्री के समान पूज्य हैं। ज्येष्ठ भाई की सवर्णा स्त्री से रोज प्रणाम आदि करना चाहिए। और ज़ाति, सम्बन्धी स्त्रियों को पितृकुल या मातृकुल में, विदेश से आने पर प्रणाम करना चाहिए॥ १२८-१३२॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी॥ १३३॥
दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु॥ १३४॥

पिता की बहन, माता की बहन और बड़ी बहन माता के समान आदर योग्य हैं, पर माता इन सब से श्रेष्ठ है। एक नगर का निवासी उमर में दश वर्ष का, नाच, गान जाननेवाला उमर में पाँच वर्ष का, वेदज्ञ तीन वर्ष का और सम्बन्धी थोड़े ही दिनका, ये सब समान अवस्था के माने जाते हैं॥ १३३-१३४॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ १३५॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥
पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमींगतः ॥१३७॥

दश वर्ष के ब्राह्मण को, सौ वर्ष का भी क्षत्रिय पिता माने और अपने को पुत्र माने। धन, कुटुम्ब, आयु, कर्म और विद्या ये पाँच मानके स्थान हैं। इनमें, पहले से दूसरा क्रम से अधिक मान्य होता है। तीनों वर्णों में जो इन पाँच बातों में बढ़ा हो वही जगत् में माननीय है और दशवीं अवस्था में (९०.वर्ष में) शूद्र भी मान योग्य होता है॥ १३५-१३७॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८॥
तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥
एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

गाड़ी में बैठा, नब्बे वर्ष से अधिक उमर का वृद्ध, रोगी, शिर पर बोझा लिए, स्त्री, वेदपाठी, ब्रह्मचारी, राजा और विवाह में वर, इनको देखकर मार्ग छोड़ देना चाहिए। ये सब जहां इकट्ठे हों वहां स्नातक ब्राह्मण, जिसका वेदपाठ होगया है, और राजा अधिक मान्य होता है। इन दोनों में भी राजा स्नातक का मान करे। जो अपने शिष्य का उपनयन करके उसे साङ्गवेद पढ़ाता है वह 'आचार्य' कहलाता है। जो ब्राह्मण वेद या उसके अङ्गों को जीविका के लिए पढ़ाता है, वह 'उपाध्याय' कहलाताहै॥१३८-१४१॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥
अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥
य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥
उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

जो गर्भाधान आदि संस्कार विधि से करता है और अन्न से पोषण करता है, वह गुरु कहलाता है । जो ब्राह्मण किसीको वरण लेकर, अग्न्याधेय कर्म, अष्टकादर्श, पौर्णमास आदि पाकयज्ञ और अग्निष्टोम आदि यज्ञ करता है वह उसका 'ऋत्विज' कहलाता है । जो वेद का शुद्ध अध्यापन कराता है वह पिता, माता के समान मान्य होता है, उसके साथ कभी द्रोह न करे । आचार्य उपाध्याय से दशगुना, पिता आचार्य से सौगुना और माता पिता से हज़ारगुना अधिक पूज्य है ॥ १४२–१४५ ॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥
कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥ १४८ ॥
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

पैदा करनेवाला पिता और वेदाध्यापक गुरु में, गुरु श्रेष्ठ है। क्योंकि वह ब्रह्मजन्म का दाता है, उसी से लोक, परलोक में स्थिर सुख मिलता है। माता और पिता कामवश होकर जो बालक पैदा करता है, वह जिस योनि में जाता है, उसी प्रकार उसके हाथ, पैर अङ्ग होजाते हैं। परन्तु वेदविशारद आचार्य, गायत्री उपदेश से जो बालक की जाति उत्पन्न करता है वह जाति सत्य, अजर और अमर है। जो उपाध्याय वेद पढ़ाकर, जिसका थोड़ा वा बहुत उपकार करता है, उसको भी गुरु के समान जानना चाहिए॥ १४६-१४६॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१५०॥
अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ १५१॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥ १५२॥

ब्रह्म-वेद पढ़ाने योग्य जन्म देनेवाला और स्वधर्म की शिक्षा देनेवाला ब्राह्मण यदि बालक हो तो भी वह धर्मानुसार बूढ़ों के पिता समान है। अङ्गिरा मुनि के पुत्र ने थोड़ी उमर में अपने चचा, मामा आदि को वेद पढ़ाया और धर्मबुद्धि से उनको 'हे लड़को' ऐसा पुकारा था। उस पर वे लोग क्रोध से देवताओं से इसका अर्थ पूँछा, तब उन्हों ने कहा कि बालक ने उचित रीति से तुमको पुकारा है॥ १५०-१५२॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ १५३॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ १५४॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६॥

अज्ञानी ही बालक है और मन्त्रदाता ही पिता है। इसलिए अज्ञमूर्ख को बालक और मन्त्रदाता को पिता कहते हैं। न बहुत उमर से, न सफ़ेद बालों से, न धन से, न सम्बन्ध-रिश्तेदारी में बड़ाई होने से ब्राह्मण की बड़ाई है, किन्तु जो वेद-विशारद है वही श्रेष्ठ है, यह ऋषियों ने नियम किया है। ब्राह्मणों का ज्ञान से, क्षत्रियों का पराक्रम से, वैश्यों का धन-धान्य से और शूद्रों का जन्म-उमर से बड़ाई होती है। शिर के बाल पक जाने से कोई वृद्ध नहीं होता, किन्तु जो युवा पुरुष भी वेद-विशारद है उसको भी देवताओं ने वृद्ध कहा है ॥ १५३-१५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७॥
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥१५९॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६०॥

जैसा काठ का हाथी और चमड़ा का मृग, वैसा बिना पढ़ा ब्राह्मण है। ये तीनों नाममात्र को रखते हैं पर किसी काम के नहीं हैं। जैसा स्त्रियों में नपुंसक पुरुष निष्फल, गौ के लिए दूसरी गौ निष्फल, अज्ञानी को दान निष्फल है, वैसा बिना वेद पढ़ा

ब्राह्मण निष्फल है-क्योंकि श्रौत-स्मार्त कर्मों के अयोग्य होता है। किसी के चित्त को दुखाकर धर्मशिक्षा न देनी चाहिए। मधुर और कोमल वाणी बोलनी चाहिए। जिसका वाणी और मन शुद्ध है, दोषों से रक्षित है, उसको वैदिक कर्मों का पूरा फल मिलता है ॥ १५७-१६० ॥

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१६१॥
संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्यैव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥
सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

वस्तुत दुःखी होने पर भी किसी को मर्मभेदी वचन न कहे। जिसमें दूसरे का अनभल हो ऐसी बात न विचार करे और जिससे लोग घबड़ावें, उस अहित करनेवाली बात को न कहे। सन्मान से विष के तरह नित्य डरा करे और अपमान का अमृत के तरह सदा चाह रक्खे। इस लोक में अपमान से जो दुःख नहीं मानता वह सुख से सोता है, सुख से जागता है। सुख से विचरता है और उसका अपमान करनेवाला नष्ट होजाता है ॥ १६१-१६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥
तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१६५॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यःस्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥१६७॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ १६८॥

इस क्रमसे गर्भाधानादि उपनयनान्त संस्कारों से पवित्र द्विज गुरुकुल में वेद प्राप्ति योग्य तप करे। द्विज को तपों से और नाना प्रकार के व्रतों से संपूर्ण वेद और उपनिषदों का ज्ञान संपादन करना चाहिए। तप करने की इच्छा से वेद का सदा अभ्यास करे। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप कहा गया है। जो द्विज पुष्पमाला को भी धारण करके अर्थात् ब्रह्मचारी का नियम न रखकर भी नित्य यथाशक्ति वेदाध्ययन करता है वह नख-शिख से परम तप करता है। जो द्विज वेद को न पढ़कर दूसरे शास्त्रों में श्रम करता है, वह जीताहुआ ही वंश के साथ शूद्रता को प्राप्त होता है॥ १६४–१६८॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥ १६९॥
तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥१७०॥
वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात्॥१७१॥

श्रुति की आज्ञा से द्विज का माता से पहला जन्म, उपनयन से दूसरा जन्म, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञदीक्षा लेने पर तीसरा जन्म होता है। इन तीनों में उपनयनवाले ब्रह्मजन्म में सावित्री-गायत्री माता और आचार्य पिता कहा जाता है। वेद के अध्यापन से आचार्य को पिता कहते हैं। उपनयन के बिना बालक को श्रौत-स्मार्त कर्मों का अधिकार नहीं होता॥ १६९–१७१॥

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते॥ १७२॥
कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्॥ १७३॥
यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि॥ १७४॥
सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥ १७५॥

जिसका यज्ञोपवीत न भया हो उसके समीप, श्राद्धकर्म के मन्त्रों के सिवाय दूसरे वेदमन्त्रों का उच्चारण न करे। क्योंकि उपनयन के पूर्व शूद्र के समान वह माना जाता है। उपनयन के बाद बालक को व्रत धारण और विधि से वेद का अध्ययन करावे। उपनयन में जिसके लिए जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र धारण करने को कहा है वही व्रत में धारण करना चाहिए। गुरुकुल में ब्रह्मचारी को इन्द्रियों का संयम करके अपने तप के वृद्धि के लिए इन नियमों का पालन करना चाहिए॥ १७२-१७५॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ १७६॥
वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ १७७॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥ १७८॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ १७९॥

ब्रह्मचारी के धर्म ।

नित्य स्नान से पवित्र होकर द्विज, देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण, देवपूजन और होम करना चाहिए। मधु-शराब, मांस, सुगन्ध का पदार्थ, पुष्प, रस, स्त्री जो सड़ी चीज़-सिरका वगैरह और प्राणियों की हिंसा इनको छोड़ देना चाहिए। तैल लगाना, आँखों में अंजन, जूता, छतरी, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गान, बाजा, जुआ, बकवाद करना, परनिन्दा, झूठ बोलना, स्त्रियों को देखना और छूना, दूसरे का अनहित, ये सब छोड़ देना चाहिए ॥ १७६–१७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥१८१॥
उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥
वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥
गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

हमेशा अकेला सोवे और वीर्य को न गिरावे। जो इच्छा से वीर्य-पात करता है वह अपने ब्रह्मचर्यव्रत का नाश करता है। अपनी इच्छा के बिना स्वप्न में वीर्यपात होजाय तो स्नान, सूर्यपूजन कर के 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इस ऋचा का तीन बार जप करे। जल का घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी और कुश ये चीज़ें ज़रूरत भर लावे और प्रतिदिन भिक्षा माँगे। वेद और यज्ञ से जो रहित नहीं हैं,

अपने नित्यकर्म में परायण हैं, उनके घरों से ब्रह्मचारी भिक्षा लावे । अपने गुरुकुल में, जाति में और सम्बन्धियों में भिक्षा न माँगे, यदि दूसरे जगह न मिल सके तो समीप के रिश्ते में छोड़-कर दूरवाले में माँगे ॥ १८०–१८४ ॥

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥
दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥
अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

अगर धर्म-कर्मवाले पुरुषों का गाँव में अभाव हो तो सब गाँवों में भिक्षा को जाय । महापातकी लोगों को छोड़ देवे । और अपनी वाणी का सदा संयम रक्खे । दूर से समिधा-होम की लकड़ी लाकर ऊंचेपर धरे और निरालस होकर प्रातःकाल और सायंकाल उससे अग्नि में हवन करे । ब्रह्मचारी नीरोग होने पर यदि सात रात तक भिक्षा न लावे और हवन न करे तो उसको 'अवकीर्णिव्रत' प्रायश्चित्त (११ अध्याय का) करना चाहिए ॥ १८५–१८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥
व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥
ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

ब्रह्मचारी भिक्षा माँगकर नित्य भोजन करे, एकही के घर का

अन्न लाकर न खावे। क्योंकि भिक्षा से जो निर्वाह होता है, वह व्रत के समान माना जाता है। देवयज्ञ में निमन्त्रण हो तो निषिद्ध पदार्थ छोड़कर एक का भी अन्न तृप्तिपूर्वक भोजन करे और श्राद्ध में ऋषियों के समान भोजन करे इस प्रकार व्रत भंग नहीं होता है। लेकिन विद्वानों ने यह कर्म ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए कहा है, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ऐसा कर्म नहीं है॥ १८८-१९०॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥ १९१॥
शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्ष्यमाणो गुरोर्मुखम्॥ १९२॥
नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयुतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥ १९३॥
हीनान्नवस्त्रवेशः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ १९४॥
प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः॥ १९५॥

गुरु रोज़ कहे वा न कहे, पर अध्ययन और आचार्य के हित के लिए सदा यत्न करना चाहिए। शरीर, वाणी, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और मन का संयम करके हाथ जोड़कर गुरुमुख को देखता हुआ रहा करे। ओढ़ने के वस्त्र से दाहना हाथ सदा बाहर रक्खे, और गुरुआज्ञा से सामने बैठे। गुरु के पास में सादा भोजन और सादा वस्त्र सदा पहने और गुरु के पहले जागे और पीछे सोवे। ब्रह्मचारी सोता, बैठा, खाता, खड़ा और मुँह फेरकर खड़ा हुआ गुरु से बात चीत न करे॥ १९१-१९५॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥ १९६॥
पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः॥ १९७॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥ १९८॥
नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥ १९९॥
गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥२००॥
परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥ २०१॥

गुरु आसन पर बैठे हों तो शिष्य आसन से उठकर, गुरु खड़े हों तो पास जाकर, आते हों तो सन्मुख जाकर और जा रहे हों तो उनके पीछे दौड़कर बात करना चाहिए। गुरु पीछे हों तो सन्मुख होकर, दूर हों तो पास जाकर, लेटे हों तो प्रणाम करके, खड़े हों तो समीप होकर आज्ञा को सुनना चाहिए। गुरु के पास में बिछौना वा आसन गुरु से नीचा रखना चाहिए और उनके सामने मनमानी तौर से न बैठे। गुरु के पीछे भी उनका अकेला नाम लेकर न बोले और उनकी चाल, बोल, चेष्टाकी नक़ल न करे। जहाँ गुरुनिन्दा होती हो वहाँ शिष्य अपने दोनों कानों को बंद करलेवे या वहां से अलग चला जाय। गुरुनिन्दा सच्ची या झूंठी करने से, मर कर गधा और कुत्ता होता है। गुरुधन भोगनेवाला कृमि और कुचाल करनेवाला कीट होता है॥ १९६—२०१॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत्॥ २०२॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

शिष्य खुद दूर रहकर, दूसरे के द्वारा गुरुपूजा न करे। पूजा में क्रोध न करे, गुरु अपनी स्त्री के पास हों तब पूजा न करे। अगर आसन या गाड़ी में बैठा हो तो उतर कर गुरु को प्रणाम करे। गुरु के तरफ़, शिष्य के तरफ़ से वायु लगता हो या शिष्य के गुरु के तरफ़ से वायु लगता हो तो शिष्य गुरुसन्मुख में न बैठे। और गुरु न सुन सकें तो कुछ न कहना चाहिए॥ २०२-२०३॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥
गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥
विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान् हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥
श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥
बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

बैल, घोड़ा, ऊंट की सवारी में, मकान की छत, चटाई, शिला, पाटा और नाव पर गुरु के साथ बैठने का निषेध नहीं है। गुरु का गुरु समीप आवे तो गुरु के माफ़िक वर्ताव करे। गुरु की आज्ञा विना अपने माता, पिता आदि को भी प्रणाम न करे। विद्या गुरु पिता आदि, अधर्म से बचानेवाला और हितैषी इन से गुरु समान वर्ताव करे। विद्या, तप से श्रेष्ठ, अपने से बड़ा सदाचारी, गुरुपुत्र और गुरुसम्बन्धी इनसे भी गुरु के समान व्यवहार करे। गुरुपुत्र, अपने से छोटा, या समान अवस्था का

या यज्ञकर्म में शिष्य हो तो भी वेद का अध्यापक होने से गुरु-तुल्य मान्य होता है ॥ २०४—२०८ ॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०६ ॥
गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥
अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

गुरु के समान गुरुपुत्र के तेल मलना, स्नान कराना, पैर दबाना और जूठा खाना इतना काम न करना चाहिए। गुरु की स्त्री सजातीय हो तो गुरुसमान पूज्य है, नहीं तो उसको उठकर प्रणाम करले—यही सेवा है। तेल मलना, स्नान कराना, शरीर दाबना, फूलों से बाल गूथना, ये काम गुरुस्त्री के न करना चाहिए ॥ २०६—२११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥
स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥
कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

पूरे बीस साल का जवान और भला बुरा जाननेवाला शिष्य जवान गुरुस्त्री के पैर छूकर प्रणाम न करे, दूर से सदा करे। यह स्त्रियों का स्वभाव होता है कि पुरुषों को दोष लगा देना, इस लिए बुद्धिमान् स्त्रियों से सदा सावधान रहते हैं। संसार में पुरुष परिडत हो या मूर्ख, उसको काम, क्रोध के वश कुमार्ग में लेजाने को स्त्रियां बड़ी समर्थ होती हैं। माता, बहन वा लड़की के साथ भी एकान्त में न बैठे, क्योंकि इन्द्रियां ऐसी प्रबल हैं कि विद्वान् के मनको भी खींच लेती हैं। यदि इच्छा हो तो युवा शिष्य युवती गुरुपत्नी को 'मैं अमुक हूं' कहकर दूर से प्रणाम करलेवे ॥ २१२—२१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥
यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥
मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्यो नाभ्युदयात्क्वचित् ॥ २१६ ॥

विदेश से आने पर पैर छूकर और रोज़ दूर से, गुरुस्त्री को प्रणाम करना चाहिए। यही शिष्यों का आचार है। जैसे पुरुष कुदाल-फावड़े से भूमि खोदता हुआ जल पाता है वैसे सेवा से गुरुविद्या को पाता है। ब्रह्मचारी, मुण्डित या शिखावाला, या जटाधारी हो उसको गाँव के भीतर सूर्योदय और सूर्यास्त न होना चाहिए। अर्थात् दोनों काल में गाँव के बाहर सन्ध्या-गायत्री की उपासना में रहना चाहिए ॥ २१७—२१६ ॥

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥
सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

यदि ब्रह्मचारी, इच्छा से सोता रहे और सूर्योदय होजाय या नगर में ही विना जाने सूर्यास्त होजाय, तो एक दिन उपवास और गायत्रीजप करे। यदि सोते हुए को सूर्योदय और सूर्यास्त होजाय और उसका प्रायश्चित्त न करे तो उसको महापातक लगता है। रोज़ दोनों सन्ध्या में एकाग्रमन होकर पवित्र स्थान में गायत्रीजप करे। यदि किसी धर्म का स्त्री या शूद्र आचरण करता हो और उसमें मन लगे तो उसीका पालन करे। या जिस में अपना चित्त प्रसन्न हो वही करे ॥ २२०—२२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥२२५॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥ २२६ ॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

कोई अर्थ और धर्म को, कोई काम, अर्थ को, कोई अर्थ को, कोई धर्म को ही अच्छा मानते हैं। पर धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का आचरण करने से भला होता है-यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है। आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति, पिता प्रजापति की मूर्ति, माता पृथिवी की मूर्ति और बड़ा भाई अपनी ही मूर्ति है। इनसे दुःखी होने पर भी इनका अपमान न करे और ब्राह्मण को तो कभी न

करना चाहिए। मनुष्यों की उत्पत्ति और पालन आदि में, माता, पिता जो दुःख सहते हैं उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा से भी नहीं हो सकता ॥ २२४—२२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद्गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥
यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

इसलिए सदा माता, पिता और आचार्य का प्रिय कार्य करे। इन तीनों के सन्तुष्ट होने से सब तप पूरे हो जाते हैं। इन तीनों की सेवा परम तप कहा जाता है। इनकी आज्ञा लेकर दूसरे धर्मों का आचरण करना चाहिए। ये ही तीनों लोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग हैं। तीनों आश्रम, तीनों वेद और तीनों अग्नि हैं। पिता गार्हपत्यअग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि का

स्वरूप हैं, ये तीनों अग्नि संसार में बड़े हैं। इन तीनों की भक्ति-सेवा से तीनों लोक गृहस्थ जीतता है। और स्वर्ग में देवताओं की भांति सुख पाता है। मातृभक्ति से यह लोक, पितृभक्ति से मध्यलोक और गुरुभक्ति से ब्रह्मलोक को पाता है। जिसने इन तीनों का आदर किया उसने सब धर्मों का पालन किया—और जिसने अनादर किया उसके सब धर्म-कर्म निष्फल हैं। जब तक पिता, माता और गुरु जीवित रहें तब तक इनकी सेवा में विशेष लगा रहे॥ २२८—२३५॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत्।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः॥ २३६॥
त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥ २३७॥
श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ २३८॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥ २३९॥
स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥२४०॥

इसके सिवा जो कर्म करे वह इनको निवेदन करदेवे। इन तीनों की सेवा से, पुरुष के कर्तव्य पूरे पड़जाते हैं। यह मुख्य धर्म है और गौणधर्म माना जाता है। श्रद्धामय पुरुष उत्तम विद्याओं को हीनजाति से भी सीखे और चाण्डाल से भी लोकमर्यादा सीखे और हीनकुल से भी सुशील स्त्री का विवाह करे। विष से भी अमृत और बालक से भी हित वचन ग्रहण करले। शत्रु से भी सदाचार और अपवित्र में से भी सुवर्ण निकाल लेवे। स्त्री, रत्न विद्या, धर्म, शौच, अच्छे वचन और भांति भांति की शिल्पकला आदि सब से सीख लेवे॥ २३६—२४०॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥
नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥२४२॥
यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोचनात् ॥ २४३ ॥

आपत्तिकाल में क्षत्रिय, वैश्य से भी अध्ययन का विधान है। पर ऐसे गुरु की सेवा अध्ययनकाल तक ही करनी चाहिए। जो गुरु ब्राह्मण न हो या साङ्गवेद का ज्ञाता न हो तो मोक्षार्थी ब्रह्मचारी जीवनभर गुरुकुलवास न करे। यदि नैष्ठिक-ब्रह्मचारी जीवन भर गुरुकुलवास चाहे तो देहान्त तक सावधानी से गुरुसेवा में लगा रहे ॥ २४१—२४३ ॥

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥
न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञतः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥
क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

जो ब्राह्मण देहान्त तक गुरु की शुश्रूषा करता है वह मोक्ष को पाता है। धर्मज्ञ ब्रह्मचारी, अध्ययन के पहले दक्षिणा आदि से गुरु का कुछ भी उपकार न करे। किन्तु समावर्तन के बाद, गुरु की आज्ञा से शक्ति के अनुसार गुरुदक्षिणा देनी चाहिए। खेत, सोना, गौ, घोड़ा, छतरी, जूता, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र अर्पण करके गुरुको प्रसन्न करे ॥ २४४—२४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥
एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥
एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
द्वितीयोऽध्यायः ॥

गुरु के मरजाने पर, विद्वान् गुरुपुत्र, गुरुस्त्री और गुरु के सहोदर भाई आदि हों तो उनको गुरुसमान मानना चाहिये। और ये मौजूद न हों तो, गुरुस्थान में उनके अग्नि की सेवा करे और उपासना से निज देह को ब्रह्मलय के लायक़ किया करे। इस प्रकार जो ब्राह्मण, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह परमात्मा में लय को पाकर फिर इस लोक में जन्म नहीं पाता॥ २४७-२४९ ॥

दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥
तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

तीसरा अध्याय ।

गुरुकुल में तीनों वेद छत्तीस वर्ष या, अठारह वर्ष या, नव वर्ष तक ब्रह्मचारी पढ़े या, जितने काल में होसके, उतने काल तक ही पढ़े और ब्रह्मचर्य का पालन करे । क्रम से तीन, दो, वा एकही वेद पढ़कर, ब्रह्मचर्य की रक्षा करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। उस वेदज्ञ ब्रह्मचारी को आसन पर बैठाकर, पिता वा आचार्य पुष्पमाला पहनाकर मधुपर्कविधि से पूजा करे। फिर गुरु की

आज्ञा से, स्नान, समावर्तन करने के बाद, अपने वर्ण की शुभ-लक्षणवाली कन्या से विवाह करे। जो माता की सपिण्ड-सात पीढ़ी में न हो और पिता के गोत्र में न हो, ऐसी कन्या द्विजों के लिये विवाह योग्य होती है। यदि गौ, बकरी, भेड़, धन और धान्य से खूब धनी भी हो तौभी विवाहसम्बन्ध जातकर्मसंस्कार-रहित, कन्यामात्र पैदा करनेवाला, वेदपाठरहित, शरीर में बहुत बाल-वाला, बवासीरवाला, क्षयरोगी, मन्दाग्नि, मृगी, श्वेतकुष्ठ, और गलितकुष्ठ इन दश कुलों में न करना चाहिये ॥ १-७ ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥
यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

विवाह-नियम।

जिसके देह में लाल बाल हों, अधिक अङ्गवाली, रोगी, विना बालवाली, अधिक बालवाली, ज्यादा बोलनेवाली और पीली आँखोंवाली कन्या से विवाह न करे। नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पर्वत, पक्षी, साँप और शूद्र नामवाली और भयदायक नामवाली के साथ विवाह न करे। सुन्दर अङ्गवाली, सुन्दर नामवाली, हंस और हाथी के समान चालवाली, पतले रोम, बाल और दांत-वाली, कोमल शरीरवाली कन्या के साथ विवाह करना चाहिये। जिसका भाई न हो, जिसके पिता का पता मालुम न हो, ऐसी कन्या के साथ 'पुत्रिकाधर्म' से डरकर विवाह न करना चाहिये ॥ ८-११ ॥

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥
न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥
हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को अपने वर्ण की कन्या से विवाह श्रेष्ठ है । पर कामवश होकर जो विवाह होता है वह अधम विवाह है । शूद्र पुरुष शूद्र कन्या के साथ, वैश्य-वैश्य और शूद्र कन्या के साथ, क्षत्रिय-क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ, ब्राह्मण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ विवाह कर सकता है-यह अधम विवाह है । ब्राह्मण और क्षत्रिय को, आपत्तिकाल में भी शूद्र कन्या से विवाह न करना चाहिये । जो द्विजाति मोह-वश हीनजाति की कन्या से विवाह करता है वह अपने कुल और परिवार कोही शूद्र करदेता है ॥ १२-१५ ॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥
दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

शूद्र कन्या के साथ विवाह करनेवाला ब्राह्मण पतित होजाता है । यह अत्रि और उतथ्य के पुत्र गौतमऋषि का मत है । शौनक

ऋषि के मत से क्षत्रिय, शूद्रकन्या में सन्तान पैदा करने से पतित होता है। और भृगुऋषि के मत से, शूद्रकन्या से विवाह करनेवाले वैश्य के पौत्र होजाने पर वह पतित होता है। ब्राह्मण, शूद्र स्त्री के संयोग से पतित होता है और उससे सन्तान पैदा करने से ब्राह्मणत्व से हीन होजाता है। शूद्रास्त्री की प्रधानता में देव, पितर श्राद्ध में अन्न का ग्रहण नहीं करते। और वह पुरुष स्वर्गगामी नहीं होता ॥ १६-१८ ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥
चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान् समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥
यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

शूद्रा का अधर चुम्बन से और उसकी सांस लगने से, उस पुरुष की और उसके सन्तान की पापशुद्धि का कोई उपाय नहीं है। चारों वर्णों का लोक और परलोक में हित अहित करनेवाला, आठ प्रकार का विवाह होता है-ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। जिस वर्णका जो विवाह धर्मानुकूल है और जो गुण, दोष जिसमें है और उनसे पैदा सन्तानों में जो हैं, उनको कहता हूं ॥ १९-२२ ॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यान्न राक्षसान् ॥ २३ ॥
चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥
पृथक् पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

ब्राह्मण को क्रम से पहले के छः विवाह धर्म हैं अन्त के चार क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को धर्म हैं पर राक्षस विवाह किसी के लिए अच्छा नहीं है। ब्राह्मण के लिए पहले चार विवाह श्रेष्ठ हैं। क्षत्रिय के लिए एक राक्षस, वैश्य और शूद्र के लिए आसुर विवाह श्रेष्ठ माना गया है। पांच विवाहों में तीन-प्रजापत्य, गान्धर्व और राक्षस, धर्म कहा है। और दो-पैशाच और आसुर अधर्म हैं। इस लिए इन दोनों को न करना चाहिए। पहले कहे विवाह अलग अलग या मिले हुए गान्धर्व और राक्षस क्षत्रियों के धर्म-सम्बन्धी हैं ॥ २३-२६ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

वेदज्ञ और सुशील वर को बुलाकर उसका पूजन सत्कार करके कन्यादान को ब्राह्म विवाह कहते हैं। बड़े यज्ञ में ऋत्विक् ब्राह्मण को, वस्त्र-आभूषण से सुशोभित कन्या का दान 'दैव विवाह' कहाजाता है। एक एक वा दो दो गौ, बैल यज्ञ के लिए, वर से लेकर, जो कन्यादान होताहै उसको आर्षविवाह कहते हैं ॥२७-२९॥

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥३०॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥
इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ ३२ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

'तुम दोनों साथ धर्माचरण करो' ऐसा कहकर वर कन्या का पूजन करके जो कन्यादान होता है उसको 'प्राजापत्य विवाह' कहते हैं। वर के माता पिता और कन्या को यथाशक्ति धन देकर जो इच्छापूर्वक कन्यादान है उसको 'आसुर विवाह' कहते हैं। कन्या और वर की इच्छा से जो संयोग होता है उसको गान्धर्व विवाह कहते हैं, यह कामवश भोगमात्र के लिए है, धर्मार्थ नहीं है। मारकर, दुःख देकर, रोती हुई कन्या को ज़बरदस्ती हरलेजाना, 'राक्षस विवाह' कहलाता है। सोती, नशे में और बेसुध कन्या के साथ एकान्त में संभोग करना 'पैशाच विवाह' होता है। यह महाअधम और पापपूर्ण विवाह है ॥ ३०-३४ ॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥
यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सम्यक् कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

वर के हाथ में जल देकर कन्यादान ब्राह्मणों के लिए उत्तम पक्ष है। दूसरे वर्णों में इच्छानुसार विनाजल, वचनमात्र से ही विवाह होजाता है। भृगु ने ब्राह्मणों से कहा—इन सब विवाहों में जिसका जो गुण मनु ने कहा है वह आप लोग सुनिए ॥ ३५-३६ ॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितृन् ॥ ३७ ॥
दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट्षट् कायोढजः सुतः ॥३८॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

ब्राह्म विवाह से पैदा हुआ पुत्र सुकर्म करे तो अपने पिता-पितामह आदि दश पूर्वपुरुषों को और पुत्र-पौत्र आदि दश आगे के वंशजों को और इक्कीसवें अपनी आत्मा को पाप से मुक्त करता है। दैव विवाह का पुत्र सात पीढ़ी पहली और सात आगे की, आर्ष विवाह का तीन पीढ़ी पहली और तीन आगे की, और प्राजापत्य का छः पीढ़ी पहली और छः आगे की-और अपने को तारता है। क्रम से ब्राह्म आदि चार विवाहों से जो सन्तान होती है वह तेजस्वी और शिष्ट पुरुषों में मान्य होती है ॥ ३७-३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥
पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥

ब्राह्म आदि विवाहों से पैदा हुए पुत्र, सुरूप, सत्त्वगुणी, धनवान्, यशस्वी, भोगी, धार्मिक होते हैं और सौ वर्ष जीते हैं। और दूषित विवाहों से पैदा हुए, कुकर्मी, झूठे और धर्मनिन्दक होते हैं। अच्छे

विवाहों से अच्छी और बुरे से बुरी सन्तान पैदा होती हैं । इसलिए निन्दित विवाहों को न करना चाहिए । विवाह-संस्कार अपने वर्ण-जाति की कन्या के साथ करना उत्तम है और दूसरे वर्ण की कन्या के साथ विवाहविधि इसप्रकार जाननी चाहिए ॥ ४०-४३ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥
ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडशः स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः ॥ ४७ ॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय कन्या का विवाह हो तो वर का हाथ न पकड़ कर उसके हाथ का बाण पकड़े । वैश्य की कन्या प्रतोद-पशु हांकने का दण्डा, को और शूद्र कन्या पहने वस्त्र का किनारा पकड़ लेवे । ऋतुकाल में अपनी स्त्री से संभोग करे और अमावास्या आदि पांच पर्व दिनों को छोड़ देवे । स्त्रियों की स्वाभाविक ऋतुरात्रि सोलह हैं । उन में शुरू के चार दिन निन्दित हैं । उन सोलह रात्रियों में शुरू की चार रात्रि, ग्यारहवीं और तेरहवीं भोग के लिए निन्दित हैं बाकी दशरात्रि अच्छी हैं । युग्म-सम-छठी, आठवीं—दशवीं आदि रात्रि में भोग करने से पुत्र और अयुग्म-पांचवीं, सातवीं-नवीं रात्रि में कन्या उत्पन्न होती है । इसलिए पुत्र की इच्छा से युग्म रात्रि में भोग करना चाहिए ॥ ४४-४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुत्र और स्त्री के अधिक में कन्या होती है। और दोनों के समान होने पर नपुंसक सन्तान या जोड़ा पैदा होता है। वीर्य क्षीण होने से सन्तान नहीं होती। पहले की दूषित आठ रात्रियों को छोड़कर, बाकी रात्रि में, जिस आश्रम का पुरुष स्त्रीभोग करता है, वह ब्रह्मचारी के समान माना जाता है ॥ ४९-५० ॥

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥
आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥
यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

विद्वान् पिता, कन्यादान में, कुछ भी उसके बदले में मूल्य न लेवे, यदि लोभ से कुछ ले लेता है तो वह सन्तान बेचनेवाला है। कन्या का धन वाहन, वस्त्र आदि जो पिता, भाई आदि अपने भोग में लाते हैं वे नरक में पड़ते हैं। आर्ष-विवाह में जो एक एक वा दो दो गौ बैल वर से लिया जाता है—कोई आचार्य कहते हैं—वह मूल्य है, पर यह मिथ्या है। क्योंकि विक्रय का मूल्य कभी अधिक कभी कम होता है पर वह नियत है, इसलिये मूल्य नहीं है। जिस

कन्या का, वर का दिया हुआ धन पिता आदि न लें, कन्या कोही दे देवें, वह भी विक्रय नहीं है। क्योंकि वह कन्याका पूजन-सत्कार मात्र है ॥ ५१-५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

स्त्रियों का आदर।

पिता, भाई, पति और देवर को स्त्रियों का सत्कार और आभूषण आदि से उनको भूषित करना चाहिए। इससे बड़ा शुभ फल होता है। जिस कुल में स्त्रियों का सत्कार किया जाता है उस कुल पर देवता प्रसन्न रहते हैं। जहां नहीं वहां सब धर्म, कर्म निष्फल होते हैं। जिस कुल में स्त्रियां शोक में रहती हैं, वह कुल शीघ्रही बिगड़ जाता है और जहां प्रसन्न रहती हैं, वह सदा बढ़ता जाता है ॥ ५५-५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥
सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

जिस कुल में स्त्रियों का सत्कार नहीं है वह उनके शाप से नष्ट होजाता है जैसे मारण करने से होजाता है। इस कारण सत्कार के मौक़े पर और उत्सवों पर सदा गहना, वस्त्र और भोजन से स्त्रियों को सन्तुष्ट करना चाहिए। जिस कुल में स्त्री अपने पति से और पति स्त्री से सन्तुष्ट रहते हैं, उस कुल में अवश्य कल्याण होता है। यदि स्त्री शोभित न हो तो पति को प्रसन्न नहीं कर सकती और विना खुशी, सन्तान नहीं हो सकती॥ ५८–६१॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥ ६२॥
कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥ ६३॥
शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया॥ ६४॥

स्त्री भूषित हों तो सारे कुल की शोभा है, नहीं तो परिवार की शोभा नहीं होती। दूषित विवाहों से, कर्म के लोप से, वेद के न पढ़ने से और ब्राह्मणों का अपमान करने से उत्तम कुल भी अधम हो जाता है। शिल्प-भांति भांति की कारीगरी करने से, लेन देन करने से, सिर्फ़ शूद्रा स्त्री में सन्तान पैदा करने से, गौ, घोड़ा, सवारी आदि के ख़रीद-विक्री करने से, खेती और राजा की चाकरी करने से उत्तम कुल बिगड़ जाता है॥ ६२–६४॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः॥ ६५॥
मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥ ६६॥
वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही॥ ६७॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

पञ्चयज्ञ, हवन आदि ।

अनधिकारी को यज्ञ कराने से, श्रौत-स्मार्त कर्मों में अश्रद्धा से और वेद न पढ़ने से उत्तम कुल भी शीघ्र नष्ट होजाते हैं। जो कुल निर्धन भी वेदाध्ययन रूप सम्पत्तिवाले हैं, वे बड़े कुलों में गिने जाते हैं और यशभागी होते हैं। जिस अग्नि की साक्षी में विवाह किया जाता है उसको वैवाहिक कहते हैं। उसमें सायं प्रातः होम, वैश्वदेव, शान्ति-पौष्टिक कर्म, नित्य पाक आदि वैदिक कर्म गृहस्थ को करना चाहिए। गृहस्थों के यहां हिंसा के पाँच स्थान होते हैं- चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली, और जल का घड़ा इनको काम में लाने से पाप लगता है ॥ ६५-६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनः ॥ ६९ ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

इन दोषों को मिटाने के लिए महर्षियों ने गृहस्थ के लिए पांच महायज्ञ नित्य करने को रचा है। उनके नाम ये हैं-ब्रह्मयज्ञ-पढ़ाना, पितृयज्ञ-पितरों का तर्पण, देवयज्ञ-होम, भूतयज्ञ-प्राणियों को बलि देना, मनुष्ययज्ञ-अतिथि सत्कार करना। इन पाँच महायज्ञों को जो गृहस्थ, शक्ति भर न छोड़े वह हिंसा दोष का भागी नहीं होता ॥ ६९-७१ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्मं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते ॥ ७३ ॥
जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्मं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

जो पुरुष, देवता, अतिथि, सेवक, माता-पिता आदि, और आत्मा इन पाँचों को अन्न नहीं देता वह जीता भी मरा सा है। कोई ऋषि पाँच महायज्ञों को अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित नाम से भी कहते हैं। अहुत-जप, हुत-होम, प्रहुत-भूत बलि, ब्राह्महुत-ब्राह्मणकी पूजा, प्राशित-नित्य श्राद्ध को कहते हैं। द्विज, वेदाध्ययन और अग्निहोत्र में सदा लगा रहे। जो देवकर्म में लगा रहता है, वह इस जगत का पोषण करता है ॥ ७२--७५ ॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

क्योंकि—अग्नि में आहुति देने से सूर्य को मिलती है, सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा का पालन होता है। जैसे सब प्राणी प्राणवायु के सहारे जीते हैं वैसेही सब आश्रम गृहस्थ के सहारे रहते हैं। तीनों आश्रमों को विद्या और अन्न दान से गृहस्थही धारण करता है इसलिए सब आश्रमवालों से गृहस्थाश्रमवाला बड़ा है ॥ ७६--७८ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयः तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥
स्वाध्याये नार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥
एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्किंचिद्वैश्वदेवं प्रतिद्विजम् ॥ ८३ ॥

इस लोक में और परलोक में सुख चाहनेवालों को गृहस्थाश्रम का धारण सावधानी से करना चाहिए। क्योंकि ऋषि, पितर, देवता, प्राणी, और अतिथि सब गृहस्थों से आशा रखते हैं। वेदाध्ययन से ऋषियों का, होम से देवताओंका, श्राद्ध से पितरों का, अन्न से मनुष्यों का, और बलि से भूत-जीवों का सत्कार करे। गृहस्थ को, पितरों की प्रसन्नता के लिए जल, तिल, यव आदि अन्नों से या दूध, कंद, फलों से नित्य श्राद्ध करना चाहिए। पञ्चमहायज्ञों में, पितृयज्ञ के लिए एक ब्राह्मण को भी भोजन देना काफ़ी है, लेकिन वैश्वदेव में सामर्थ्य न हो तो न भोजन दे, पर एक ब्राह्मण को न खिलाना चाहिए ॥ ७९-८३ ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

विश्वेदेव के निमित्त गृह्याग्निमें द्विजोंको नित्य होमकरना चाहिए, वह आहुति पहले अग्नि और सोम को फिर दोनों को एक बार में, फिर विश्वेदेवको उसके बाद धन्वन्तरिको देनी चाहिए* ॥८४-८५॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥
एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥८७॥
मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥
उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

कुहू—अमावास्या, अनुमति—पूर्णिमा और प्रजापति को आहुति दे। द्यावा और पृथिवी को साथ में दे और अन्त में स्विष्टकृत को आहुति देना चाहिये। इस प्रकार, अच्छी विधि से होम करके सब दिशाओं में प्रदक्षिणा करे। इन्द्र, यम, वरुण, चन्द्र और इनके अनुचरों को बलि देय। घर के द्वार में मरुत को बलि देय, जल, मूसल-ओखली और वनस्पति को बलि देय। वास्तु पुरुष के शिर पर अर्थात् घर के ईशान कोण में—श्रियै नमः कह कर बलि देय। वास्तु के चरण में—भद्रकाल्यै नमः, मध्य में—घर के बीच में—ब्रह्मवास्तोष्पतीभ्यां नमः कहकर बलि देय ॥ ८६—८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तं चारिभ्य एव च ॥ ९० ॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।

* इस प्रकार आहुति करने में बोलना—अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा।

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥
शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥

विश्वेदेव के निमित्त आकाश में बलि देवे । दिन देवता और रात्रि देवता को बलि देवे । घर के सब से ऊंचे भाग में 'सर्वात्मभूतये नमः' कहकर बलि देवे और बलिशेष को 'पितृभ्यो नमः' कहकर दक्षिण दिशा में पितरों को बलि देना चाहिए । कुत्ता, पतित, चाण्डाल, कोढ़ी, पापी, रोगी, कौआ, कीड़ों को धीरे से ज़मीन में ही बलि देना चाहिए ॥ ९०-९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना ॥ ९३ ॥
कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥
यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः ।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥
भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥
नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥
विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

इस प्रकार जो गृहस्थ ब्राह्मण बलि देकर प्राणियों का सत्कार करता है, वह तेजस्वी परमधाम को प्राप्त होता है । बलिकर्म के बाद अतिथिसत्कार करे फिर संन्यासी और ब्रह्मचारी को भिक्षा दान करना चाहिए । गुरु को गोदान करने से जो पुण्य फल

मिलता है, वही संन्यासी और ब्रह्मचारी को भिक्षा देने से मिलता है। वेदविशारद ब्राह्मण का आदर करके भिक्षा वा एक जलपात्र देवे। वेदपाठरहित, मूर्ख ब्राह्मण को अज्ञान से जो भोजन दान दियाजाता है वह सब निष्फल होजाता है। विद्या और तपसे शुद्ध ब्राह्मणों के मुख रूप अग्नि में जो हवन-भोजन कराता है, वह महा-दुःख और पापों से उबारता है ॥ ९३-९८ ॥

संप्राताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

अतिथि-सत्कार ।

गृहस्थ को आये हुए अतिथि का आसन, जल और अन्नसे यथाशक्ति सत्कार करना चाहिए ॥ ९९ ॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १०० ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥
एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥
नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

जो उञ्छवृत्ति 'खेतों से अन्न बीनकर निर्वाह' करता हो और पञ्चाग्नि में हवन करता हो वह भी यदि अतिथि का सत्कार न करे तो अतिथि उसके सब पुण्य को ले लेता है। अन्न न हो तोभी तृणासन, भूमि, जल और मीठी बात ये सत्पुरुषों के यहां सदा रहते हैं। जो ब्राह्मण एक रात्रि गृहस्थ के यहां निवास करता है उसको अतिथि कहते हैं। वह नित्य नहीं रहता इसी लिए अतिथि कहाजाता है। एक गांव में रहनेवाला, हँसी, मज़ाक करके साथ

रखनेवाला स्त्री और अग्निहोत्री ब्राह्मण को अतिथि न मानना चाहिए ॥ १००-१०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥
अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥
न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

जो मूर्ख दूसरे के यहां खाने के लोभ से अतिथि बनता है, वह मरकर अन्न देनेवाले का पशु होता है। जो गृहस्थ के घर सूर्यास्त के बाद अतिथि आवे समय में या असमय में, तोभी उसको भूखा न रक्खे। जो अतिथि को न खिलाया हो वह पदार्थ खुद भी न खावे। अतिथि का सत्कार यश, आयु और स्वर्ग देनेवाला है ॥ १०४-१०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥
वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥
न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥
यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

आसन, स्थान, शय्या, सेवा और अरदली में आना इन सबका उत्तम अतिथि उत्तम, मध्यम को मध्यम और साधारण से उसके लायक़ बर्त्ताव करना चाहिए । वैश्वदेव के बाद जो कोई अतिथि आपड़े तो उसको भी भोजन बनाकर खिलावे, पाक में से बलि न देवे । विप्र को भोजनार्थ अपना कुल, गोत्र न बतलाना चाहिए । यदि बतलावे तो वह वान्ताशी 'उगलन खानेवाला' कहा जाता है । ब्राह्मण के घर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अपना मित्र, जातीय पुरुष और गुरु ये सब अतिथि नहीं माने जाते । अगर क्षत्रिय अतिथि बनकर आवे तो ब्राह्मणभोजन के बाद उसको भी खूब खिला देवे ॥ १०७-१११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥
इतरानपि सख्यादीन् संप्रीत्या गृहमागतान् ।
संस्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥
सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीस्तथा ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण के घर वैश्य, शूद्र भी अतिथि रूप से आजाय तो उनको भी नौकरों के साथ खिला देना चाहिए । और भी मित्र-सम्बन्धी आदि प्रेम से अपने घर आवें तो स्त्री के साथ उनको भी अच्छा भोजन देना चाहिए । नवीन विवाहवाली, कन्या, रोगी और गर्भवती इनको अतिथि के पहले ही बिना विचार किए भोजन करा देना चाहिए ॥ ११२-११४ ॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥
भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशिनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

इस प्रकार सबको भोजन दिये विना जो पहले आपही खा लेता है। मरने पर उसके मांस को कुत्ते और गीध खाते हैं। ब्राह्मण, अतिथि, सम्बन्धी आदि को खिलाकर पीछे बचा अन्न आप और स्त्री खावे। देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घर के पूज्य देवताओं का पूजन करके शेष अन्न गृहस्थ को खाना चाहिए। जो अपनेही लिए भोजन तैयार करता है वह केवल पाप को ही खाता है, क्योंकि उत्तम पुरुषों को पञ्च महायज्ञ से बचे अन्न काही भोजन फलदायक होता है ॥ ११५-११८ ॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरून् प्रियश्वशुरमातुलान् ।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥
राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।
मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥
सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

राजा, ऋत्विक्, स्नातक, गुरु, मित्र, जामाता, प्रिय पुरुष और श्वशुर, मामा, एक साल के बीतने पर घर आवें तो मधुपर्क से पूजन करना चाहिए। राजा और वेदज्ञ ब्राह्मण साल के भीतर भी यदि यज्ञ के मौक़े पर आजायें तो मधुपर्क से पूजन करना चाहिए। अगर यज्ञमें न आवें तो न पूजन करे। स्त्री को शाम को पकाये अन्न में से विना मन्त्र पढ़े ही बलि देना चाहिए। इस बलि को वैश्वदेव कहते हैं। यह सायंकाल और प्रातःकाल करना चाहिए ॥ ११९-१२१ ॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥१२२॥
पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ॥ १२३ ॥
तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः ।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥
द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः ।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

श्राद्ध-प्रकरण ।

अग्निहोत्री द्विज अमावास्या को पितृयज्ञ पूरी करके प्रतिमास पिण्डान्वाहार्यक श्राद्ध को करे। पितरों का हर मास में जो श्राद्ध होता है उसको अन्वाहार्यक श्राद्ध कहते हैं। वह उत्तम मांस से करना चाहिए। उसमें जो ब्राह्मण ग्राह्य हैं और जो त्याज्य हैं जितने भोजन कराने चाहिएं और जो अन्न चाहिए उसका विस्तार इस प्रकार है—

देवकर्म में दो ब्राह्मण और पितृकर्म में तीन ब्राह्मण या दोनों में एक एक ही भोजन कराना चाहिए। धनी पुरुष भी अधिक ब्राह्मणों के भोजन में न लगे। विस्तार करने से ब्राह्मणों का सत्कार, देश, काल, पवित्रता और श्रेष्ठ ब्राह्मण इन पाँचों को नष्ट करता है। इसलिए ज्यादा फैलाव कभी न करना चाहिए॥१२२-१२६॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥
श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि ॥ १२९ ॥

अमावास्या के प्रेतकर्म को पितृकर्म कहते हैं। उसको जो करता है वह नित्य लौकिक फल को पाता है। वेदपाठी, सदाचारी, ब्राह्मण को ही देव और पितृकर्म का अन्न आदि देना चाहिए, ऐसा दान महाफल को देता है। देवकर्म और पितृकर्म में एक एक भी विद्वान् ब्राह्मण को भोजन देने से बड़ा फल मिलता है। पर बहुत से मूर्खों को भी खिलाने से वह फल नहीं मिलता ॥ १२७-१२९ ॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥
सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥
ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥ १३२ ॥
यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥

वंशपरम्परा से ही वेदज्ञ ब्राह्मण को जान रक्खे क्योंकि वह ब्राह्मण हव्य, कव्य देने का पात्र है। उसको देने से अतिथि के समान फल होता है। जिस श्राद्ध में वेद न जाननेवाले दस लाख ब्राह्मण भोजन करते हों, उसका फल एकही वेदविशारद ब्राह्मण को भोजन कराने से होता है। हव्य और कव्य ज्ञानवृद्ध ब्राह्मण को देना चाहिए, मूर्ख को नहीं। क्योंकि रुधिर से सनेहुए हाथ रुधिर से ही शुद्ध नहीं होते। वेदहीन ब्राह्मण देव और पितृकर्म में जितने हव्य-कव्य के ग्रास खाता है, उतने ही जलते हुए शूल, ऋष्टि और लोहगोला यजमान को निगलने पड़ते हैं ॥ १३०-१३३ ॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे।

तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥
ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥
अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥१३६॥
ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

कोई ब्राह्मण आत्मज्ञानी, कोई तप में तत्पर, कोई तप और स्वाध्याय में तत्पर और कोई कर्मनिष्ठ ही होते हैं । इनमें ज्ञानी को श्राद्ध में ग्रहण करे, और देवकर्म में इन चारों को ग्रहण करना चाहिए । जिसका पिता वेदज्ञ न हो, पर पुत्र वेदपारंगत हो अथवा पुत्र वेदवेत्ता न हो, पिता वेदपारंगत हो इन दोनों में जिसका पिता वेदपारगामी हो वह श्रेष्ठ है और दूसरा भी मान्य होता है ॥ १३४–१३७ ॥

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम् ॥ १३८॥
यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥
यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

श्राद्ध में मित्र को भोजन न करावे, मित्रों का संग्रह धन से करना चाहिए । जो अपना शत्रु वा मित्र न हो उसी ब्राह्मण को भोजन देना चाहिए । जो श्राद्ध और यज्ञ कर्म में केवल मित्रों को ही भोजन देता है, उसका फल परलोक में नहीं मिलता । जो अज्ञानी पुरुष श्राद्ध के द्वारा मैत्री बांधता है उसको स्वर्ग नहीं होता ॥ १३८–१४० ॥

संभोजिनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥
यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥
दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

जो श्राद्धकर्म में मित्रमण्डली को खिलाता है, वह 'पैशाची दक्षिणा' कहलाती है। यह दक्षिणा—जैसे भोजन आदि अंधी गौ एक ही घर में रहती है, उसी भांति इसी लोक में ही रहती है। परलोक में उपकार नहीं करती। जिस प्रकार ऊषर में बीज बोकर, बोनेवाला फल नहीं पाता, वैसे ही-मूर्ख-वेदहीन ब्राह्मण को हवि देने से फल नहीं मिलता। विद्वान् ब्राह्मण को विधि से भोजन कराकर दक्षिणा देने से देने और लेनेवाले दोनों लोक में फलभागी होते हैं ॥ १४१-१४३ ॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥
यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥
एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥
एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥
मातामहं मातुलं च स्वस्त्रीयं श्वशुरं गुरुम्।

दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्॥१४८॥
न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥
ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

यदि योग्य ब्राह्मण न मिलें तो श्राद्ध में मित्र कोही खिलादे। पर शत्रु विद्वान् को भी न भोजन करावे—वह निष्फल होता है। वेदपारगामी ऋग्वेदी ब्राह्मण को, यजुर्वेदी को, समाप्ति तक सामवेद जाननेवाले को, श्राद्ध में अच्छीभांति भोजन कराना चाहिए। इन में से कोई भी ब्राह्मण जिसके श्राद्ध में आदर से भोजन पाता है, उसके सात पीढ़ी तक के पितर तृप्त होते हैं। यह हव्य और कव्य की प्रथम विधि है और सत्पुरुषों से आचरित गौण विधि इस प्रकार है-यदि ऊपर कहे ब्राह्मण न मिलें तो नाना, मामा, भानजा, ससुर, गुरु, जामाता, मौसेरा भाई, ऋत्विज और यज्ञ करानेवालों को भोजन देना। देवकर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करे और पितृकर्म में यत्न से परीक्षा करनी चाहिए। जो चोर पतित वा नपुंसक हों, नास्तिकभाव से जीविका करता हो उन ब्राह्मणों को मनुजी ने देवकर्म और पितृकर्म में अयोग्य कहा है॥ १४४-१५० ॥

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत्॥१५१॥
चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२॥
प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च॥ १५४॥
कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे॥ १५५॥
भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ॥ १५६॥
अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा।
ब्राह्मैर्यौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः॥ १५७॥

अपढ़, जटाधारी, दुर्बल, जुआरी, बहुत यजमानों को एक साथ बैठाकर यज्ञ करानेवाला, द्रव्य लेकर पूजा करानेवाला, इन को श्राद्ध में न खिलावे। वैद्य, पुजारी, मांस बेचनेवाला और वाणिज्य से जीविका करनेवाला इनको हव्य-कव्य में न भोजन देवे। ग्राम और राजा का हलकारा, खराब नखवाला, काले दाँतवाला, गुरु-विरोधी, अग्निहोत्रत्यागी, ब्याजखोर, क्षयरोगी, चरवाह, बड़े भाई के विवाह बिना पूर्व ही विवाहित, पञ्चमहायज्ञ न करनेवाला, ब्राह्मणद्वेषी, छोटे भाई के विवाह होने पर अविवाहित बड़ा भाई, धर्मार्थ इकट्ठा किये धन से जीवन करनेवाला, नांच, गान से जीविका करनेवाला, ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट, शूद्रा से विवाहित, पुनर्विवाह का लड़का, काना, जिस के घर स्त्री का उपपति-जार रहता हो, वेतन लेकर पढ़ानेवाला, वेतन देकर पढ़ा हुआ। शूद्र का गुरु, कटुभाषी, कुण्ड-पति के जीते जार से पैदा, गोलक-पति के मरने पर जार से पैदा, बिना कारण माता, पिता और गुरु को त्यागने वाला, पतितों को पढ़ानेवाला, पढ़नेवाला और पतितों से कन्या सम्बन्ध करनेवाला इन सब को श्राद्ध में कभी भोजन न कराना चाहिए॥ १५१-१५७॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।

समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥
पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥
धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रे दिधिषूपतिः ।
मित्रध्रुक् द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥
भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥१६१॥

घर में आग लगानेवाला, ज़हर देनेवाला, जार से पैदा हुए का अन्न खानेवाला, सोमलता बेचनेवाला, समुद्र पार जानेवाला, राजा की स्तुति करनेवाला, तेल का व्यापारी, झूंठी गवाही देनेवाला, पिता से लड़नेवाला, धूर्त, शराबख़ोर, कोढ़ी आदि पापरोगी, निन्दित, पाखण्डी, दूध, दही बेचनेवाला, धनुष् और बाण बनानेवाला, जो बड़ी बहिन के क्वारी रहते छोटी का पति बन गया हो, मित्रद्रोही, जुवा से जीविका करनेवाला, अपने पुत्र से विद्या पढ़नेवाला, मृगीरोगी, गण्डमालारोगी, श्वेतकुष्ठ, चुग़लख़ोर, पागल, अन्धा, वेदनिन्दक इतने प्रकार के ब्राह्मण श्राद्ध में वर्जित हैं ॥ १५८-१६१ ॥

हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥
स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥
श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

हाथी, बैल, घोड़ा और ऊँटों का सिखानेवाला, नक्षत्र से

जीविका करनेवाला जोशी, पक्षी पालनेवाला, युद्धशिक्षा देने वाला, नहर आदि तोड़नेवाला, उसको बंद करनेवाला, घर बनानेवाला, दूत, मज़दूरी लेकर वृक्ष लगानेवाला, खेल के लिए कुत्ता पालनेवाला, बाज पक्षी से जीविका करनेवाला, कन्या को दूषित करनेवाला, हिंसक, शूद्र आचरण करनेवाला, और भूत, पिशाच पुजानेवाला ये सब कर्म करनेवाले ब्राह्मण श्राद्ध में भोजन न पावें ॥ १६२-१६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥ १६५ ॥
औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥
एतान् विगर्हिताचारानपांक्तेयान् द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

आचाररहित, नपुंसक, रोज़ भीख मांगनेवाला, खेती से जीने वाला, पीलपांव रोगवाला, सत्पुरुषों से निन्दित, भेड़ा और भैंस से जीनेवाला, जो दूसरे की होचुकी हो उसके साथ विवाह करनेवाला और प्रेत का धन लेनेवाला इनको श्राद्ध में वर्जित करना चाहिए । इन सब दूषित आचारवाले और पंक्तिबाह्य अधम ब्राह्मणों को देव और पितृकार्य में विद्वान् पुरुष त्याग देवे ॥ १६५-१६७ ॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥
अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः ।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥
अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा ।

अपांक्तेर्यैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥
दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

वेद न पढ़नेवाला ब्राह्मण फूस के आग की तरह निर्जीव हो जाता है। ऐसे को हव्य और कव्य न देना चाहिए। क्योंकि, राख में होम नहीं किया जाता है। पंक्तिबाह्य ब्राह्मणों को हव्य, कव्य देने से, जो दाता को फल होता है, वह सब कहता हूं । वेदव्रतरहित ब्राह्मण और परिवेत्ता आदि और पंक्तिबाह्य ब्राह्मणों को जो देव, पितृकार्य में भोजन कराया जाता है वह राक्षसभोजन है । जो छोटा भाई बड़े भाई के रहते, उसके पहले विवाह और अग्निहोत्र करता है उसको परिवेत्ता कहते हैं। और बड़े भाई को परिवित्ति कहते हैं ॥१६८-१७१॥

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥
भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥
परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥१७४ ॥
तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५॥

परिवित्ति, परिवेत्ता और ये जिस कन्या से विवाह करते हैं वह पांचवां कन्या देनेवाला और विवाह करनेवाला सब नरक को जाते हैं। भाई की मृत्यु होनेपर उसकी स्त्री से कामवश जो नियोग करता है उसको 'दिधिषूपति' कहते हैं। दूसरे की स्त्री से उत्पन्न दो पुत्रों की कुण्ड और गोलक संज्ञा है । पति के जीते, जार से

पैदा हुआ कुण्ड और मरने पर पैदा हुआ गोलक कहलाता है। ये दोनों परस्त्री से पैदा होकर, लोक और परलोक में हव्य, कव्य देनेवाले का नाश करते हैं ॥ १७२-१७५ ॥

अपांक्त्यो यावतः पांक्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥
वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु ।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥
यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

पंक्तिबाह्य पुरुष श्राद्ध में जितने योग्य ब्राह्मणों को भोजन करते देखता है उनका फल परलोक में उस मूर्ख भोजन देनेवाले को नहीं मिलता। अन्धा देखकर नब्बे श्रोत्रिय ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है, काना साठ ब्राह्मणों का, सफ़ेद कोढ़ का सौका, पापरोगी एक हज़ार का फल नष्ट कर देता है। शूद्रों को यज्ञ करानेवाला जितने ब्राह्मणों को अपने अङ्गों से छूता है अर्थात् श्राद्ध में जितने ब्राह्मणों की पाँत में बैठता है, उतनों के पूर्तसम्बन्धी श्राद्ध का फल दाता को नहीं मिलता है ॥ १७६-१७८ ॥

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥
सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥
यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् ।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥
इतरेषु त्वपांक्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ।

मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२॥

वेदज्ञ भी जो शूद्र याजक का दान लोभ से लेता है, वह पानी में कच्चे बरतन की भांति शीघ्र ही नष्ट होजाता है। सोमलता बेंचने वाले को जो हव्य, कव्य देवे वह विष्ठा होती है। वैद्य को देने से पीब-रक्त, देवलक-पुजारी को देने से नाश, ब्याजखोर को देने से निष्फल होजाता है। श्राद्ध में जो वाणिज्य करनेवाले को दिया जाता है वह दोनों लोक में निष्फल होता है। पुनर्विवाह के लड़के को देने से राख में होम की भांति व्यर्थ होता है और जो दूषित मनुष्य हैं उनको देने से दाता के जन्मान्तर में भोजन के लिए-मेद, रुधिर, मांस, मज्जा और हड्डी होजाता है ॥ १७९-१८२॥

अपांक्त्योपहता पंक्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पंक्तिपावनान्॥ १८३॥
अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः॥ १८४॥
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्।
ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५॥

दूषित पंक्ति जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पवित्र होती है वे इस प्रकार के होने चाहिएं-जो चारों वेदों के जाननेवाले और उसके अङ्गों के जाननेवाले, श्रोत्रिय और परम्परा से वेदाध्यायी हैं वेही पंक्ति पावन होते हैं। त्रिणाचिकेतनामक यजुर्वेद के भाग को पढ़ने वाला ब्राह्मण, पञ्चाग्निहोत्री, त्रिसुपर्ण नामक ऋग्वेद के भाग को पढ़नेवाला, शिक्षा आदि छः अङ्गों का ज्ञाता, ब्राह्मविवाह से पैदा पुत्र और साम गान करनेवाला ये छः पंक्तिपावन जानना चाहिए॥ १८३-१८५॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः ॥ १८६॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान् यथोदितान्॥१८७॥
निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत्॥१८८॥
निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथा सीतानुपासते ॥ १८९ ॥

वेदार्थ का ज्ञाता, उसका अध्यापक, ब्रह्मचारी, हज़ार गोदान करनेवाला और सौ वर्षका ये पंक्तिपावन होते हैं। श्राद्ध के पहले दिन वा उसी दिन उक्त गुणवाले ब्राह्मणों को आदर से तीन वा कम को निमन्त्रण देवे। श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण उस दिन नियम से रहे और वेदाध्ययन न करे। और यही नियम श्राद्ध करानेवाले को भी पालन करना चाहिए। पितर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के पास आते हैं और वायु के समान पीछे चलते और बैठते हैं॥ १८६-१८९॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः।
कथंचिदप्यतिक्रामन् पापः शूकरतां व्रजेत्॥ १९०॥
आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते।
दातुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥ १९१॥
अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः॥ १९२॥

हव्य और कव्य में नेवता पाकर किसी कारण भोजन न करने से उस ब्राह्मण को दूसरे जन्म में शूकर होना पड़ता है। निमन्त्रण पाकर कामुक स्त्री से जो भोग करता है, वह दाता के पाप का भागी होता है। क्रोधरहित, पवित्र-रागद्वेषरहित, सदा ब्रह्मचारी, युद्धत्यागी, महाभाग-दया, शील आदि युक्त, देवता रूप पितर हैं। इसलिए भोजन करनेवालों को आचार, विचार से

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥
मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥१९४॥
विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥
दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

इन सब पितरों की जिससे उत्पत्ति हुई है और जो पितर जिन नियमों से जिसके पूज्य हैं वह सुनो । हिरण्यगर्भ के पुत्र मनु के जो मरीचि आदि पुत्र हैं, उनके पुत्र सोमपा आदि पितृगण हैं। विराट् के पुत्र सोमसद्नामक साध्यों के पितर हैं और मरीचि के पुत्र अग्निष्वात्त देवताओं के पितर कहे जाते हैं । दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, पक्षी और किन्नरों के बर्हिषद्नामक पितर हैं ॥ १९३–१९६ ॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥१९७॥
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वशिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८॥
अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥१९९॥
य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्त्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

सोमपा ब्राह्मणों के, हविर्भुज क्षत्रियों के, आज्यपा वैश्यों के और सुकालिन्नामक शूद्रों के पितर हैं । सोमपा भृगु के पुत्र,

हविष्मन्त अङ्गिरा के पुत्र, आज्यपा पुलस्त्य के पुत्र और सुकालिन् वशिष्ठ के पुत्र हैं। अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त और सौम्य ये ब्राह्मणों के पितर हैं। ये पितरों के मुख्य गण कहे गये हैं, इनके अनन्त जो पुत्र-पौत्र हैं उनको भी पितर जानना चाहिए॥ १९७-२०० ॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥
राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥
देवकार्याद्द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥
तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत्।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

मरीचि आदि ऋषियों से पितर हुए हैं, पितरों से देवता और मनुष्य हुए हैं। देवताओं से क्रम से स्थावर, जङ्गम रूप जगत् उत्पन्न हुआ है। इन सब पितरों को चांदी के पात्र से वा चांदी लगे पात्र से जलदान करने से अक्षय तृप्ति होती है। देवकार्य से पितृकार्य द्विजों के लिए विशेष गिना जाता है। पितृश्राद्ध प्रधान कर्म है और देवकर्म उसका अङ्ग गिना जाता है। देवकर्म पूर्व करने से पितृकर्म की पुष्टि होती है। पितृकर्म का रक्षक देवकर्म पूर्व करे, क्योंकि रक्षारहित श्राद्ध का राक्षस नाश कर देते हैं॥ २०१-२०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत्।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥
शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत्।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा॥ २०७॥
आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक् पृथक्।
उपस्पृष्टोदकान् सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत्॥ २०८॥

इस कारण श्राद्ध में आरम्भ और समाप्ति देवतापूर्वक करे, पित्रादिपूर्वक न करे। उसको करनेवाला वंशसहित नष्ट होजाता है। एकान्त और पवित्र देश में गोवर से भूमि लीपकर उसमें दक्षिण को झुकी वेदी बनावे। खुला स्थान, पवित्र देश, नदीतीर या निर्जन देश में श्राद्ध करने से पितर प्रसन्न होते हैं। उस स्थान में अलग अलग बिछे हुए कुशासनों पर निमन्त्रित ब्राह्मणों को बैठाना चाहिए॥ २०५–२०८॥

उपवेश्य तु तान् विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान्।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वकम्॥ २०९॥
येषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह॥ २१०॥
अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत् पितॄन्॥ २११॥
अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते॥ २१२॥

उन सदाचारी ब्राह्मणों को आसनों पर बैठाकर सुगन्ध, चन्दन, पुष्प, धूप आदि से पहले विश्वेदेव फिर पितरों का पूजन करे। उसके बाद कुश और तिल मिला अर्घ्यजल दान करे और सब की आज्ञा लेकर श्राद्ध करनेवाला ब्राह्मणों के साथ अग्नि में हवन करे। पहले हवन से अग्नि, सोम और यम को तृप्त करे फिर अन्न आदि हवि से पितरों को तृप्त करना चाहिए। यदि अग्नि न हो तो

ब्राह्मण के हाथ में ही तीन आहुति देवे, ब्राह्मण अग्निरूप हैं ऋषियों का मत है ॥ २०६–२१२ ॥

अक्रोधनान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान्॥२१३॥
अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्परिक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥
त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

क्रोधरहित, प्रसन्नचित्त, वृद्ध और लोक की वृद्धि में तत्पर, श्रेष्ठ ब्राह्मण श्राद्ध के पात्र होते हैं । अपसव्य होकर पितरों के निमित्त अग्नि में दो आहुति देकर अपसव्य ही पूर्व दिशा से दक्षिण को पिण्ड छोड़ने की भूमि पर जल छोड़े । हवन की बाक़ी सामग्री का तीन पिण्ड बनाकर दक्षिणमुख दाहने हाथ से कुशों के ऊपर पिण्ड छोड़ना चाहिए ॥ २१३–२१५ ॥

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥
आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।
षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात् पितॄनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७॥
उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः॥२१८॥
पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः ।
तानेव विप्रानासीनान् विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

पिण्डों के रखने के बाद वृद्ध प्रपितामह से लेकर ऊपर के तीन लेपभागी पुरुषों की तृप्ति के लिए उन कुशों के पास ही हाथ धोवे । फिर उत्तराभिमुख आचमन और तीन प्राणायाम धीरे से

करके छ ऋतुओं को और पितरों को नमस्कार करे। फिर पिण्ड-दान के पात्र में शेष जल बचा हो उसको पिण्डों के पास धीरे धीरे छोड़े और जिस क्रमसे पिण्डों को रक्खा था उसी क्रम से उठाकर सूंघे। पिण्डों में से थोड़ा थोड़ा भाग लेकर प्रथम ब्राह्मणों को विधि से खिलावे अर्थात् जिस पिता के निमित्त जो पिण्ड छोड़ा हो उस पिण्ड का भाग उसी पितर के स्थान में बैठे हुए ब्राह्मण को खिलाना चाहिए॥ २१६–२१६॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत्॥ २२०॥
पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः।
पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्॥ २२१॥
पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्॥ २२२॥

यदि पिता जीता हो तो श्राद्ध करनेवाला मरे हुए पितामह आदि तीन पुरुषों का श्राद्ध करे या पितृ ब्राह्मण के स्थान में अपने पिता कोही भोजन करादे। जिसका पिता मरगया हो और पितामह जीता हो, वह पिता का नाम बोलकर प्रपितामह का नाम बोले अर्थात् पिता और प्रपितामह दोनों का श्राद्ध करे। या जीवित पितामह उस श्राद्ध का भोजन करे, यह मनुजी की आज्ञा है। अथवा श्राद्धकर्ता पितामह की आज्ञा से आपही प्रपितामह और वृद्धप्रपितामह का श्राद्ध करे॥ २२०–२२२॥

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्॥ २२३॥
पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम्।
विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायञ्छनकैरुपनिक्षिपेत्॥ २२४॥
उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते।

तद्धि प्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥
गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु।
विन्यसेत् प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥
भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥
उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान् प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के हाथ में कुश और तिलोदक देकर पिण्ड का अग्रभाग पिता आदि तीन ब्राह्मणों को 'पित्रे स्वधास्तु' कहकर देवे। फिर अन्न का पात्र दोनों हाथ से उठाकर ब्राह्मणों के पास लाकर धीरे से रख देवे। यदि दोनों हाथों से अन्न न लाया जाय तो दुष्ट राक्षस उसको हर लेते हैं—रस चूस लेते हैं। श्राद्धकर्ता सावधानी से शाक, दाल आदि सब व्यञ्जन और दूध, दही, घी और मधु वग़ैरह पदार्थों को लाकर भूमि पर रक्खे। भक्ष्य, भोज्य, भांति भांति के कंद, फल, मांस * और सुगन्धित जल लाकर सब पदार्थों के गुणों की प्रशंसा करके ब्राह्मणों को परोसे ॥ २२३-२२८ ॥

नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत्।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

श्राद्ध के दिन कभी आँसू न गिराना चाहिए। कोप न करे, झूँठ न बोले, पैर से अन्न को न छुवे और अन्न को उछालकर भी न परोसना चाहिए ॥ २२९ ॥

---

* मांसपिण्ड की विधि वा निषेध एकदेशीमत है। शास्त्र की व्यवस्था सर्वदेशी है। प्रवृत्ति के अधीन होकर संसार में सब बातों को करनेवाले मौजूद हैं। इसलिए ऋषियों ने सब लिख दिया है। शास्त्र का रहस्य गहन है।

अस्रं गमयति प्रेतान् कोपोऽरीननृतं शुनः।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥
यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितॄणामेतदीप्सितम् ॥२३१॥
स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च॥ २३२॥
हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

आँसू गिराने से श्राद्धफल प्रेतों को होता है। कोप करने से शत्रुओं को, झूठ बोलने से कुत्तों को, पैर से ठोकर देने से राक्षसों को और उछालने से पापियों को फल पहुँचता है। जो जो पदार्थ ब्राह्मणों को प्रिय लगे उसको अच्छीतरह परोसे और ईश्वर सम्बन्धी कथाएं कहे, क्योंकि वह पितरों को प्रिय होती हैं। ब्राह्मणों को वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण आदि सुनावे। खूब प्रसन्न करे, धीरे धीरे भोजन करावे और वारंवार पदार्थों के गुण वर्णन करके भोजन में उन लोगों को प्रवृत्त करे ॥ २३०-२३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।
कुतपं चासनं दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥
त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥
अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

दौहित्र—कन्या का पुत्र, ब्रह्मचर्य व्रत में भी हो, तोभी उसको यत्न करके श्राद्ध में खिलावे। उसको बैठने के लिए कुतप—हिमालय के समीप का बना कम्बल देवे और श्राद्धभूमि में तिलछीट

देवे । श्राद्ध में दौहित्र, कुतप और तिल ये तीन पवित्र होते हैं। पवित्रता, क्रोध न करना और, धीरज इन तीन बातों की प्रशंसा है। सब अन्न को खूब गरम रक्खे और उसको ब्राह्मण मौन होकर भोजन करें। यदि देनेवाला भोजन के गुण पूंछे तो भी ब्राह्मणों को न कहना चाहिए। अर्थात् भोजन के समय व्यर्थ बकवाद न करना चाहिए ॥ २३४-२३६ ॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७ ॥
यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥
चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३९ ॥
होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥
घ्राणेन शूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

जबतक अन्न गरम रहता है और जबतक मौन होकर ब्राह्मण भोजन करते हैं और भोजन के गुण नहीं बयान किए जाते तबतक ही पितर अन्नका ग्रहण करते हैं। जो शिर में वस्त्र बांधकर दक्षिणमुख होकर और जूता पहनकर खाता है, ऐसे भोजन का फल राक्षसों को पहुँचता है। चाण्डाल, शूकर, मुरगा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री, और नपुंसक ये लोग भोजन करते हुए ब्राह्मणों को न देखने पावें। हवन में, दान में, ब्राह्मणभोजन में, देवकर्म में या पितृकर्म में यदि चाण्डाल आदि की नज़र पड़े तो वह कर्म निष्फल होजाता है। शूकर सूंघने से, मुरगा पंख की हवा से, कुत्ता देखने से और शूद्र स्पर्श से श्राद्ध के अन्न को दूषित करदेताहै ॥ २३७-२४१॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत् पुनः ॥ २४२ ॥
ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

श्राद्धकर्ता का सेवक भी यदि लूला, काना, या कम ज्यादा अङ्गवाला हो तो उसे भी ब्राह्मणभोजन के समय हटा देना चाहिए। उस समय यदि कोई ब्राह्मण वा भिक्षुक भोजन के लिए आजाय तो ब्राह्मणों की आज्ञा से उसका भी भरशक आदर करना चाहिए ॥ २४२-२४३ ॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं संनीयाप्लाव्य वारिणा।
समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरेद्भुवि ॥ २४४ ॥
असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥
उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

भोजन से बचा हुआ सब प्रकार का अन्न इकट्ठा करके जल से गीला करे और ब्राह्मणों के आगे रक्खे और थोड़ासा कुशों पर छींट देवे। यह कुशों पर विखेरा और जूँठा बचा अन्न विना संस्कार मृत बालक, त्यागी और कुलस्त्रियों का माना जाता है। श्राद्ध में भूमि पर पड़ा जूँठा अन्न सीधे सरल स्वभाव दासों का भाग है ॥ २४४-२४६ ॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥
सह पिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥
श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

द्विजातियों का जबतक सपिण्डीकरण न हो, तबतक उसका श्राद्ध वैश्वदेवरहित करे और उसमें एक ब्राह्मण को भोजन और एक पिण्ड देना चाहिए। मृत पुरुष का सपिण्डीकरण होजाने पर अमावास्या की श्राद्धविधि के अनुसार ही पुत्रों को पिण्डदान करना चाहिए। भोजन के बाद बचा जूँठा अन्न जो शूद्र को देता है, वह मूर्ख नीचे शिर होकर कालसूत्र नरक को जाता है। जो श्राद्ध में भोजन करके उस दिन रात में स्त्रीसंग करता है, उसके पितर एक मासतक उसी स्त्री की विष्ठा में सोते हैं ॥ २४७–२५० ॥

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः।
आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥
स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम्।
स्वधाकारः पराह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥
ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

तृप्त हुए ब्राह्मणों से 'स्वदितम्' आपने खूब भोजन किया? ऐसा पूंछे, फिर आचमन कराकर 'अभितो रम्यताम्' इच्छानुसार पधारिए, यों कहकर विदा करे। उसके बाद ब्राह्मण 'स्वधास्तु' ऐसा कहें, क्योंकि सब पितृकर्मों में यह कहना परम आशीर्वाद मानाजाता है। भोजन किए ब्राह्मणों से जो अन्न बचा हो उसको निवेदन करे और उन लोगों की आज्ञानुसार उसकी व्यवस्था करे ॥ २५१–२५३ ॥

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।
संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥
अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥
दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥
मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

माता पिताके एकोद्दिष्ट और पार्वणश्राद्ध में 'स्वदितम्' गोष्ठीश्राद्ध में 'सुश्रुतम्' वृद्धिश्राद्ध में 'सम्पन्नम्' और देवकर्म में 'रुचितम्' ऐसा कहकर ब्राह्मणों से उनकी तृप्ति को पूछ लेवे। अपराह्ण काल, कुश, गोबर से लिपी भूमि, तिल, निःसंकोच भोजन देना, भोजन का स्वाद और पंक्तिपावन ब्राह्मण श्राद्ध कर्म में उत्तम गिना जाता है। कुश, वेदमंत्र, पूर्वाह्ण काल, हवि का अन्न और पूर्वोक्त भूमि आदि की पवित्रता, ये सब देवकर्म की सम्पत्ति हैं। मुनियों का अन्न-नीवार आदि, दूध, सोमलता का रस, कच्चा मांस, सेंधानमक, ये सब पदार्थ स्वभाव से ही हवि कहलाते हैं ॥ २५४-२५७ ॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन् ॥ २५८ ॥
दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः संततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥
एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को विदा करके, सावधानी से स्नान करे और दक्षिण दिशा को खड़ा होकर, पितरों से इन वरों को मांगेः—हमारे कुल में दाता हों, वेदाभ्यास और सन्तान की वृद्धि हो, वैदिक कर्म से श्रद्धा दूर न हो और सुपात्रों को देने के लिए हमें बहुतसा धन मिले—इस प्रकार, श्राद्ध कर्म पूरा होने पर वह पिण्ड गौ, ब्राह्मण या बकरा को खिलादे, अथवा अग्नि या जल में डाल देवे ॥ २५८–२६० ॥

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥
पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥
आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥
प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥

कोई आचार्य ब्राह्मण भोजन के पहलेही पिण्डनिर्वपण कराते हैं, कोई पिण्ड पक्षियों को खिलाते हैं, कोई जल वा अग्नि में छोड़ देते हैं। पतिव्रता स्त्री पुत्र की इच्छा से उन पिण्डों में से पितामह के मध्यम पिण्ड को खा लेय। वह स्त्री आयुष्मान्, यशस्वी, बुद्धिमान्, धनवान्, सन्तानवान्, सत्यगुणी और धार्मिक पुत्र को पैदा करती है। फिर दोनों हाथ धोकर, बचा हुआ अन्न अपने जाति वालों को और दूसरे सम्बन्धियों को भी खिलावे ॥ २६१–२६४ ॥

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥
हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत् पितरो नृणाम् ॥२६७॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥
षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

ब्राह्मणों को विदा करके उस स्थान से जूंठ उठाकर, फिर वैश्वदेव और भूतबलि आदि करे-यह धर्मव्यवस्था है। पितरों को विधि से हवि देने से जो चिरकालतक अक्षय तृप्ति होती है वह इस प्रकार है-तिल, धान्य, यव, उड़द, जव, मूल और फल विधिपूर्वक पितरों को देने से, एक मास तक तृप्ति होती है। मछली और मांस से दो मास, हरिण के मांस से तीन मास, मेंढा के मांस से चार और भक्ष्य पक्षियों के मांस से पांच मास तक तृप्ति होती है। बकरा के मांस से छ मास, चित्रमृग के मांस से सात मास, मृग से आठ मास और रुरु मृग से नव मास तक तृप्ति होती है। शूकर और महिष के मांस से दश मास, खरगोश और कछुआ से ग्यारह मास तक तृप्ति होती है। गौके दूध वा उसकी खीर से साल भर और लम्बे कान और नाकवाले बूढ़े बकरे के मांस से बारह वर्ष तक तृप्ति होती है ॥ २६५-२७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥२७२॥

यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च॥ २७३॥
अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥ २७४॥
यद्यद्ददाति विधिवत् सम्यक्श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥ २७५॥

कालाशाक, महाशल्क-मछली का भेद, गैंडा, लाल बकरा, शहद और सब प्रकार के मुनिअन्नों से, अनन्त वर्षों तक पितर तृप्त रहते हैं। वर्षाऋतु, मघानक्षत्र और त्रयोदशी तिथिको कोई भी पदार्थ मधु मिलाकर पितरों के निमित्त देने से, उनको अक्षय तृप्ति होती है। पितर आशा करते हैं-हमारे कुल में कोई ऐसा हो जो त्रयोदशी को या हाथी की छाया पूर्व दिशा में पड़े ऐसे समय, घी, मधु से मिले हुए पायस-खीर से, हमको तृप्त करे। भक्ति और श्रद्धा से विधिपूर्वक जो कुछ पितरों को दिया जाता है, उसका अनन्त फल उनको परलोक में पहुँचता है॥ २७२-२७५॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः॥ २७६॥
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान् कामान् समश्नुते।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम्॥ २७७॥
यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते॥ २७८॥

चतुर्दशी को छोड़कर, कृष्णपक्ष की दशमी से अमावास्या तक की तिथि पितृकार्य के लिए जैसी पवित्र है वैसी दूसरी नहीं है। समतिथि और समनक्षत्रों में (जैसा द्वितीया, चतुर्थी, भरणी,

रोहिणी) श्राद्ध करने से, सब कामना पूरी होती हैं । और विषम तिथि, नक्षत्रों में (प्रतिपदा, तृतीया, अश्विनी, कृत्तिका आदि) श्राद्ध करने से, बहुत सन्तान होती है । जैसे, शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष श्राद्ध में श्रेष्ठ माना जाता है, वैसेही पूर्वाह्न से अपराह्न-दोपहर बाद, काल उत्तम गिना जाता है ॥ २७६-२७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७६ ॥
रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥
अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

हाथ में कुश लेकर, शास्त्रविधि से मृत्यु तक श्राद्ध किया करे । रात्रि में श्राद्ध न करे, क्योंकि वह राक्षसी समय है । और सूर्योदय, सूर्यास्त समय और सूर्योदय के कुछ काल बाद भी श्राद्ध न करना चाहिए । इस विधि के अनुसार, गृहस्थ यदि प्रतिमास श्राद्ध न करसके तो वर्ष में, हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षाऋतु में श्राद्ध और नित्य पञ्चमहायज्ञ करे ॥ २७६-२८१ ॥

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥
यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन् स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥
वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति॥ २८६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
तृतीयोऽध्यायः॥

पितृकर्म लौकिक अग्नि में न करना चाहिए। अग्निहोत्री अमावास्या के सिवाय दूसरी तिथियों में श्राद्ध न करे तोभी कोई हानि नहीं है। द्विज से न कुछ बन पड़े तो जल से पितृतर्पण करा करे तोभी पितृयज्ञ का फल मिलता है। वेद में पिता को वसु, पितामह को रुद्र और प्रपितामह को आदित्य कहते हैं। समर्थ पुरुष, नित्य विघस या अमृत का भोजन किया करे। श्राद्ध में ब्राह्मणभोजन से बचा अन्न विघस और वैश्वदेव आदि यज्ञशेष अमृत कहलाता है। यह पञ्चमहायज्ञ की सब विधि तुमसे कही है, अब द्विजों में मुख्य ब्राह्मण की वृत्ति का विषय सुनो॥ २८२-२८६॥

तीसरा अध्याय समाप्त।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय ।

गृहस्थाश्रम-धर्म ।

द्विज अपने जीवन का चतुर्थांश गुरुकुल में, विद्याभ्यास में बितावे और दूसरे चतुर्थांश में विवाह करके गृहस्थाश्रम में रहे। आपत्तिकाल में किसीको कुछ दुःख देकर भी और समय में किसी को कष्ट न देकर जो निर्वाह के लिए जीविका बनपड़े उसको करना चाहिए। अपने और परिवार के पालन के लिए कोई खराब काम न करना चाहिए। शरीर को दुःख न देकर धन उपार्जन करना चाहिए॥ १-३ ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

ब्राह्मण को ऋत से, अमृत से, मृत से और प्रमृत से या सत्य और अनृत से जीविका करनी चाहिए। लेकिन श्ववृत्ति-नौकरी-गुलामी से निर्वाह न करना चाहिए। उञ्छ और शिल को ऋत, विना मांगे मिलाहुआ अमृत, मांगी हुई भिक्षा मृत और खेती को प्रमृत कहते हैं। सत्यानृत-सच-झूठ वाणिज्य-व्यापार को कहते हैं, उससे भी जीविका चलाना श्रेष्ठ है। श्ववृत्ति-अर्थात् कुत्ता की वृत्ति-सेवा को कहते हैं, इसलिए उसको छोड़ देना चाहिए ॥ ४-६ ॥

कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥
चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान् परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८ ॥
षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

ब्राह्मण इतना अन्न संग्रह करे जिसमें कोठी भरजाय, या छोटी कोठरी भरजाने भरका अन्न संग्रह करे, या तीन दिन के गुज़र लायक़ अथवा एकही दिन के प्रयोजन भरको इकट्ठा रक्खे। इन चारों प्रकार के संग्रह को करनेवालों में अगला अगला ब्राह्मण श्रेष्ठ माना जाता है और वह धर्म से स्वर्गफल को जीतनेवाला होता है। इन चार प्रकार के गृहस्थों में ऋत आदि छः प्रकार की वृत्ति से निर्वाह करना बड़े गृहस्थ के लिए है। जो साधारण कुटुम्ब रखते हैं, वे यज्ञ कराना, वेदपढ़ाना और दान लेना इन तीन प्रकार की जीविकाओं से निर्वाह करें। प्रतिग्रह-दान लेना जो नहीं चाहते, उनको याजन और अध्यापन इन दो वृत्तियों से और चौथा केवल वेद पढ़ाकर एकही वृत्ति से निर्वाह करना चाहिए ॥ ७-९ ॥

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीः पार्वायणान्तीयाः केवला निर्वपेत् सदा ॥ १० ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥११॥
सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥
अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥

जो ब्राह्मण उञ्छवृत्ति से जीविका चलाता हो उसको सदा अग्निहोत्र में तत्पर रहना चाहिए। और अमा, पूर्णा की इष्टि आदि सहज यज्ञ करना चाहिए। जीविका के लिए दुनियादारी में ज्यादा न फँसना चाहिए अर्थात् झूंठी बड़ाई खुशामद वगैरह न करे, किन्तु शुद्ध, निष्कपट बर्ताव रक्खे और बनियों की नौकरी न करके पवित्र ब्राह्मण के सम्बन्ध में जीविका करनी चाहिए। सुख चाहने वालों को चाहिए कि सन्तोषवृत्तिको रखकर जो मिले उसीमें निर्वाह करे अधिक माया में न फँसे–सन्तोष सुखका मूल और असन्तोष दुःखका मूलहै। इसलिए ऊपर कही किसी एक जीविका के सहारे सुख से काल बितावे और आगे कहे हुए व्रतों का पालन किया करे ॥ १०–१३ ॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १४ ॥
नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥
इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

ब्राह्मण को अपने वेदोक्त कर्मका आचरण नित्य निरालस होकर करना चाहिए। उसको भरशक करने से परमगति को पुरुष प्राप्त

होता है। ब्राह्मण को गाना, बजाना और शास्त्र के खिलाफ़ कर्म करके दुःख के समय में भी धन पानेका उद्यम न करना चाहिए। इन्द्रियों के विषय शब्द-स्पर्श आदि में कामना से न लगना चाहिए वरन् इन सब बातों से मनको रोकना चाहिए॥ १४-१६॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथा तथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ १७॥
वयसःकर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह॥ १८॥
बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ १९॥

जिन कामों को करने से अपने स्वाध्याय में बाधा पड़े उन सब को छोड़ देना उचित है। किसी क़दर स्वाध्याय में लगा रहने से ही ब्राह्मण की कृतार्थता है। गृहस्थ ब्राह्मण को अपनी आयु, कर्म, धन-विद्या और कुल के अनुसार वेष-पहनाव, वाणी और बुद्धि से काम लेता हुआ इस संसार में बर्ताव करना चाहिए। बुद्धि को शीघ्र ही बढ़ानेवाले आगम और विविध भांतिके शास्त्रों का अध्ययन नित्य करना चाहिए। उनके देखने से हित अनहित बातों का पूरा ज्ञान होता है॥ १७-१९॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ २०॥
ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ २१॥
एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति॥ २२॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम्॥ २३॥
ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा॥ २४॥

पुरुष जैसे जैसे शास्त्रको देखता जाता है वैसे वैसे उसको ज्ञान होता है और उसकी प्रीति बढ़तीहै। स्नातक ब्राह्मण को; वेदाध्ययन, होम, भूतबलि, अतिथिसत्कार और श्राद्ध जहांतक होसके छोड़ना न चाहिए। बहुत से यज्ञविषय के ज्ञाता पुरुष इन पाँच महायज्ञों को न करके इन्द्रियों को ही अग्निरूप मानकर उसीमें विषयों का होम करते हैं अर्थात् इन्द्रियों के बाहरी विषयों को अपने वश में करने का उपाय किया करते हैं। कितने ही ज्ञानी पुरुष वाणी का प्राण में और प्राण में वाणी का लय करते हैं। दूसरे लोग ज्ञानयज्ञ से ही सब यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं क्योंकि ज्ञानही सब यज्ञों का मूल है॥ २०--२४॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥ २५॥
सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः॥ २६॥

प्रातःकाल और सायंकाल में अग्निहोत्र, अमावास्या को दर्श नामक यज्ञ और पूर्णिमा को पौर्णमासयज्ञ जरूर करना चाहिए। पहला अन्न हो चुके और नया अन्न पैदा हो तब शरद् ऋतु में नवीन अन्न से इष्टि करे और प्रत्येक ऋतु के अन्त में चातुर्मास यज्ञ करे, उत्तरायण-दक्षिणायन के आरम्भ में पशुयाग और वर्ष पूरा होने पर वसन्तऋतु में सोमयाग को करना चाहिए॥२५-२६॥

तानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ २७॥

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः॥ २८॥
आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥ २९॥
पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ ३०॥
वेदविद्याव्रतस्नातान् श्रोत्रियान् गृहमेधिनः।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत्॥ ३१॥

नवीन अन्न से इष्टि करके नया अन्न और पशुयाग करके मांस खाने से दीर्घायु होती है। यदि नवीन अन्न और मांस से यज्ञ किये विना कोई नया अन्न और मांस खाता है उसकी प्रजा को ही अग्निदेव खाने की इच्छा करते हैं। गृहस्थ के यहां आसन, भोजन, शय्या, जल, फल और फूल से यथाशक्ति अतिथि का सत्कार ज़रूर होना चाहिए इसके विना वह न रहने पावे। वेद के खिलाफ़ आचरण करनेवाले पाखण्डी, आश्रम के विरुद्ध वृत्ति से जीविका करनेवाले, दम्भ से, वैडालव्रत-बिल्ली के भांति मौन साधनेवाले शठ, कुतर्की और बगलाभक्त इन सब कपटियों का ज़बान से भी सत्कार गृहस्थ को न करना चाहिए॥ २७-३१॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्योऽनुपरोधतः॥ ३२॥
राजतो धनमन्विच्छेत् संसीदन् स्नातकः क्षुधा।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः॥ ३३॥

विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक इन तीन प्रकार के श्रोत्रिय गृहस्थों का देव-पितृकर्म में सत्कार करना चाहिए। जो ऐसे न हों उनको पूछना न चाहिए। गृहस्थ को

चाहिए, अपने हाथ से भोजन न बनानेवाले ब्रह्मचारी-संन्यासी को पक्वान्न आदि देवे और जहांतक होसके जड़-चेतन सब प्राणियों को अन्न, जल से आदर करे। स्नातक गृहस्थ यदि भोजन के लिए दुःखी हो तो वह क्षत्रिय राजा, यजमान और शिष्य से धन लेने की इच्छा करे, परन्तु पतित-अधर्मियों से कभी न लेय, यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है ॥ ३२-३३ ॥

न सीदेत् स्नातको विप्रः क्षुधाशक्तः कथंचन।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महिते रतः ॥ ३५ ॥
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

स्नातक ब्राह्मण को किसी प्रकार भी क्षुधा से पीड़ित न रहना चाहिए। यदि धन न हो तो पुराने और मैले कपड़ों को भी न पहने। केश, नख और दाढ़ी को कटवाया करे, सफ़ेद वस्त्र पहने और पवित्र होकर रहा करे। अपने स्वाध्याय में लगा रहे और अपनी शरीररक्षा के लिए उपाय किया करे। बांस की लकड़ी, जलपूर्ण कमण्डलु, यज्ञोपवीत, वेदपुस्तक और सोने के सुन्दर कुण्डल को धारण करे ॥ ३४-३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ३७ ॥
न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥
मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

उदय और अस्त होतेहुए सूर्य को जानकर कभी न देखना चाहिए। और ग्रहणसमय में, जल में और दोपहर में भी न देखना चाहिए। बछड़ा बांधने की रस्सी को लांघना न चाहिए, वर्षा होते समय रास्ते में दौड़ना और जल में अपना मुख देखना न चाहिए। यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है। मिट्टी का टीला, गौ, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराह और वट, पीपल वग़ैरह वृक्ष, मार्ग में जातेहुए देख पड़ें तो उनको दाहिनी तरफ़ करके जाना चाहिए। कामातुर पुरुष को भी रजस्वला स्त्री के साथ भोग न करना चाहिए और न एक शय्या पर सोना ही चाहिए ॥ ३७-४०॥

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥
तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥
नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥४३॥
नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम्।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

जो पुरुष रजस्वला स्त्री के साथ भोग करता है उसकी बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु नष्ट होती है। जो उससे बचा रहता है, उसकी बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु बढ़ते हैं। स्त्री और पुरुष साथ बैठकर भोजन न करें। स्त्री को भोजन करती, छींकती, जंभाई लेती और मनमानी बैठी हुई कभी न देखना चाहिए। अंजन लगाती, तैल मलती, नंगी और बालक पैदा होता हो तो उस समय भी न देखे ॥ ४१-४४ ॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥
न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नपि च स्थितः।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

गृहस्थ को एक वस्त्र से भोजन, नंगा होकर स्नान, मार्ग में, राख के ढेर पर और गोशाला में पेशाब न करना चाहिए। हल से जोती जमीन में, जल में, चिता में, पर्वत में, पुराने देव-मन्दिर में और बामी पर पेशाब कभी न करना चाहिए। जीवजन्तु वाले गढ़ों में, चलतेहुए, खड़ा होकर, नदी के किनारे पर और पहाड़ की चोटी पर पेशाब न करना चाहिए ॥ ४५-४७ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥
तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा ॥ ५० ॥
छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः।
यथा सुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल और गौ को सामने देखकर कभी मल-मूत्र का त्याग न करना चाहिए। शरीर और शिर को वस्त्र से ढँककर, मौन होकर, लकड़ी, ढेला, वृक्ष का गिरा पत्ता या तिनका से भूमि को ढककर मल-मूत्र त्याग करने को बैठना

चाहिए। दिन में उत्तर दिशा और रात में दक्षिण दिशा को मुख करके मल-मूत्र करना चाहिए। दिन हो या रात हो, छाया में, अंधेरा में या जहां प्राण का भय हो, तब जिस दिशा में इच्छा हो उसी तरफ़ मुख कर सकता है॥ ४८-५१॥

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं वा प्रतिसोमोदकद्विजान्।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः॥ ५२॥
नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत्॥ ५३॥
अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत्॥ ५४॥

जो गृहस्थ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण, गौ और वायु के संमुख होकर मल-मूत्र करता है, उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है। अग्नि को मुख से फूँकना और नंगी स्त्री को देखना अनुचित है। अग्नि में कोई अपवित्र चीज़ डालना और पैर के तलवा को उसमें सेंकना न चाहिए। खाट के नीचे आग रखना, उसको उलांघ कर जाना और पैर के नीचे दबाना न चाहिए। जिसमें प्राणबाधा का भय हो ऐसा परिश्रम न करना चाहिए॥ ५२-५४॥

नाश्नीयात्सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत्।
न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत् स्रजम्॥ ५५॥
नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥ ५६॥
नैकः स्वपेच्छून्यगेहे शयानं न प्रबोधयेत्।
नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः॥ ५७॥

सायंकाल और प्रातःकाल भोजन, एक गाँव से दूसरे गाँव को जाना और सोना न चाहिए। ज़मीन नख से लिखना और गले

में से खुदही अपनी माला निकालना न चाहिए। मूत्र, मल, थूक, जिस वस्तु में अपवित्र कुछ लगा हो और ज़हर इन सब को जल में न डालना चाहिए। सूने घर में अकेला सोना, अपने से बड़े को उपदेश देना, रजस्वला स्त्री से वातचीत करना और बिना निमन्त्रण यज्ञ में जाना यह सब अनुचित है ॥ ५५-५७ ॥

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥
नावारयेद् गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥
नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥
न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते।
न पाखण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

अग्निस्थान, गोशाला, ब्राह्मण के पास, स्वाध्याय के समय और भोजन के समय दाहना हाथ बाहर करलेना चाहिए। बच्चे को दूध पिलाती गौ को देखकर उसको हटाना नहीं और न किसी से कहना। और आकाश में इन्द्रधनुष् देखकर किसीको दिखाना न चाहिए। जहां अधर्मी रहते हों ऐसे ग्राम में और जहां रोग फैला हो, उसमें न रहना। अकेला दूरदेश की यात्रा न करे और पर्वत के ऊपर बहुत दिनतक निवास न करना चाहिए शूद्रके राज्य में बसना न चाहिए और अधर्मी, पाखण्डी तथा चाण्डाल सेवित ग्राम आदि में न रहना चाहिए ॥ ५८-६१ ॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्।
नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥
न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।

नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥
न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

जिस वस्तु से चिकनापन निकला हो उसको न खाना और बहुत घबड़ाहट से भोजन न करना। बहुत सुबह और साम को भी भोजन न करना, और जिसने सुबह भोजन कर लिया हो वह साम को भोजन न करे। मुख, हाथ, पाँव से व्यर्थ चेष्टा न करना। अँजुली से पानी पीना, गोद में अन्न रखकर खाना और बिना मतलब दूसरे की बातों को जानने की आदत रखना, नाचना, गाना, बजाना, किसी चीज़ को ठोंकना, ज्यादा हँसना, खुशी से ज्यादा चिल्लाना—यह सब काम न करना चाहिए॥ ६२–६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥
उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥
नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न बालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥
विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन् भृशम् ॥ ६८ ॥

कांस के बर्तन में पैर धोना, फूटे पात्र व जिसमें संदेह हो, उस में भोजन न करना। दूसरे के पहनेहुए जूता, कपड़ा, जनेऊ, गहना, फूल की माला और कमण्डलु को धारण न करना। जो बैल सीधा हो, भूखा न हो, सींग, आँख, खुर ठीक हो, पूंछ वगैरह कटजाने से खराब न दीखता हो। ऐसे बैल की सवारी में बैठना चाहिए। जो सधगये हों, तेज हों, सुन्दर हों, उनकी सवारी में बैठना और ज्यादा हाँकना व मारना न चाहिए॥६५–६८॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम्।
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥
न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्न छिन्द्यात्करजैस्तृणम्।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥
लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥
न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत्।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

प्रातःकाल का धूप, चिताका धूम, और फटा आसन इनको बचाना चाहिए। नख और बालों को उखाड़ना और दातों से नख का काटना अच्छा नहीं है। मिट्टीके टुकरों को हाथ से न तोड़े, नख से तिनुका न तोड़े और जिसका नतीजा ख़राब हो ऐसा काम न करे। जो मनुष्य ढेला तोड़ता है, तृण तोड़ता है, नख चबाता है, चुगली खाता है और भीतर-बाहर से मलिन रहता है वह शीघ्र नष्ट होजाता है। निन्दाकी कोई कथा न करे, वस्त्र के ऊपर फूल माला न पहने और गौ की पीठपर बैठकर कहीं न जावे ॥६९-७२॥

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वा वृतम्।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥
नाक्षैः क्रीडेत् कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत्।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥
सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ७५ ॥

जो गाँव का रास्ता हो उसको छोड़कर, किसी ख़राब गली से उसमें न घुसना और जो घर बन्द हो उसमें सीढ़ी आदि लगाकर

भीतर न जाना। रात में वृक्षों की जड़ से दूर रहना। जुआ कभी न खेलना। अपना जूता खुदही हाथ में लेकर न चलना। सोते हुए न खाना, हाथ में रखकर दूसरे हाथसे न खाना और बैठने के आसन पर रखकर भी न खाना चाहिए। सूर्य अस्त होजाने के बाद जिसमें तिल मिला हो वह चीज़ न खाना नंगा होकर न सोना और जूंठे मुँह कहीं इधर उधर न जाना चाहिए॥ ७३-७५॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥ ७६॥
अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत्॥ ७७॥
अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ ७८॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः॥ ७९॥

गीला पाँव से अर्थात् पैर धोकर भोजन करना। पर गीले पैरों से सोना न चाहिए। जो हाथ पैर धोकर पवित्रता से भोजन करताहै वह दीर्घ आयुष्य पाता है। बेजानेहुए किला वगैरह में कभी न जाना। मल-मूत्र को न देखना और दोनों भुजाओं से नदी तैर कर पार न जाना चाहिए। बाल, राख, हड्डी, टूटा ठीकरा, बिनौल और भूसी के ऊपर न बैठना चाहिए। इनपर जो नहीं बैठता उसकी उमर बढ़ती है। पतित, चाण्डाल, मूर्ख, अभिमानी, चमार आदि हीन जाति और नट वगैरह के साथ उठना-बैठना कभी न चाहिए॥ ७६-७९॥

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥ ८०॥

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति॥ ८१॥
न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः॥ ८२॥

शूद्र को वेद आदि शास्त्र न पढ़ाना, जूँठा अन्न, हविष्य न देना। उसको धर्मका उपदेश न देना। उसको चान्द्रायण आदि व्रतों का उपदेश वेदमन्त्रों से न बतलाना। जो पुरुष, शूद्र को धर्म, व्रत आदि का उपदेश देता है, वह उस शूद्र के साथ, असंवृत नामक नरक में पड़ता है। दोनों हाथों से अपना शिर न खुजलाना, जूँठे मुख शिर को न छूना और शिर भिगोए विना स्नान न करना अर्थात् नित्य शिर से स्नान करना चाहिए॥ ८०-८२॥

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत्।
शिरःस्नातस्य तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत्॥ ८३॥
न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम्॥ ८४॥
दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः॥ ८५॥
दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः॥ ८६॥

किसी के शिर के बाल खींचना या उसपर मारना अनुचित है। जिस हाथ से शिरपर तेल छोड़े उस हाथ से दूसरे अङ्ग का स्पर्श न करे। जो राजा, क्षत्रिय के वीर्य से न पैदा हुआ हो उसका दान न लेना चाहिए। कसाई, तेली, कलवार, और वेश्याओं के जरिये जो जीविका चलाते हैं इन सबसे दान न लेना चाहिए।

दश कसाई के बराबर एक तेली, दश तेली के समान एक कलवार, दश कलवारों के बराबर एक वेश्याजीवी, और दश वेश्याजीवियों के बराबर एक राजा होताहै। दशहज़ार कसाई खाना चलानेवाले एक कसाई के समान राजा कहा गया है। इसलिए उसका दान बड़ा भयानक है॥ ८३-८६॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम्॥ ८७॥
तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च॥ ८८॥
संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम्।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम्॥ ८९॥
लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम्।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च॥ ९०॥

जो ब्राह्मण लोभी और शास्त्र के विरुद्ध कर्म करनेवाले राजा से दान लेताहै वह क्रम से, नीचे लिखे इक्कीस नरकों में पड़ता है। तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्र, महानरक, संजीवन, महावीची, तपन, संप्रतापन, संहात, सकाकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्तिक, लोहशङ्कु, ऋजीष, पंथा, शाल्मली, वैतरणी नदी, असिपत्रवन और लोहदारक॥ ८७-९०॥

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः॥ ९१॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥ ९२॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३॥
ऋषयो दीर्घसन्ध्यात्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

इस प्रकार जो सब विषय जानते हैं वे वेदज्ञ-विद्वान्-ब्राह्मण परलोक में सुख पाने की इच्छा से राजा का दान नहीं लेते हैं। ब्राह्ममुहूर्त-दो घड़ी सवेरे उठकर अपना धर्म और अर्थ का और उसके लिए आवश्यक शरीर श्रम का विचार करना। वेदचिन्तन और परमात्मा का स्मरण करना। प्रातःकाल उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर स्नान और सन्ध्या करके गायत्रीजप करना। और सायंकाल को भी नक्षत्र दर्शन तक सन्ध्या-गायत्री का अनुष्ठान करना। ऋषियों ने चिरकाल तक सन्ध्या, गायत्री की उपासना से दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेज को पाया था॥ ९१-९४॥

श्रावण्यां प्रोष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥९५॥
पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत् पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

श्रावणकी पूर्णा या भाद्रकी पूर्णा को विधि से उपाकर्म करके, ब्राह्मण साढ़े चार महीने तक नियम से वेदाध्ययन करे। फिर पौषकी पूर्णाको या माघकी प्रतिपदाको नगर के बाहर जाकर, पूर्वाह्न में वेद का उत्सर्ग करना। उसके बाद दो दिन और बिचली रात,

या एक दिन रातही अनध्याय रखना चाहिए। फिर, नियम से शुक्लपक्ष में वेदों का अध्ययन और कृष्णपक्ष में वेद के अङ्गों का अध्ययन करना चाहिए॥ ९५-९८॥

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्॥ ९९॥
यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि॥ १००॥
इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम्॥ १०१॥
कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते॥ १०२॥
विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्॥ १०३॥

अनध्याय और वेदपाठ-नियम।

वेदपाठ साफ़ करना। शूद्र के पास में न करना। पिछली रात में वेदाध्ययन से थककर, फिर न सोना चाहिए। इस प्रकार नित्य मन्त्र भाग का अध्ययन करना, या होसके तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागका अध्ययन करना। वेदाध्ययन और शिष्योंको अध्यापन करानेवालों को अनध्यायों में वेदपाठ न करना चाहिए। रात में वायु की सनसनाहट कान में सुन पड़े और दिन में धूल की वर्षा हो तब वर्षाकाल में अनध्याय करना। बिजली की चमक, मेघ की गरज और जलवर्षा, बड़ा उल्कापात यह जबतक हो तबतक अनध्याय रखना। यह मनुजी की आज्ञा है॥ ९९-१०३॥

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने॥ १०४॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥

वर्षाकाल में प्रातःकाल और सायंकाल होमार्थ अग्नि प्रज्वलित करते समय, बिजली, वर्षा और मेघगर्जना होने पर, या वर्षा के सिवा असमय बादल होजाने पर, अनध्याय करना चाहिए। आकाश में कड़ाका, भूकम्प और सूर्य, चन्द्र का ग्रहण होने पर, उतने काल के लिए अनध्याय जानना। और वर्षाऋतु में इन बातों के होनेपर भी 'आकालिक अनध्याय' जानना चाहिए ॥ १०४-१०५ ॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषरात्रौ यथा दिवा ॥१०६॥
नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥
अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥
उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने।
उच्छिष्टःश्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥१०९॥
प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्।
त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

होम के लिए अग्नि जल जाने पर प्रातःकाल बिजली चमके और मेघ गर्जे तब सायंकाल तक और सायंकाल को हो तब आकाश में नक्षत्र देखने तक अनध्याय करना। और यह सब उपद्रव एकबारगी हो तो दिन-रात का अनध्याय होता है। जो विशेष धर्म का अनुष्ठान किया चाहते हैं उनको गांव, नगर और अपवित्र स्थान में रोज़ही अनध्याय करना चाहिए अर्थात्, ऐसे स्थान में धर्मकृत्य ठीक नहीं बन पड़ता। गांव में मुरदा पड़ा हो, शूद्र के

समीप, कोई रोता हो उसके पास, और जहां बहुत मनुष्यों की भीड़ हो, ऐसे स्थानों में अनध्याय करना । जल के बीच, आधी रात को, मल-मूत्र करते, जूंठे मुख से और श्राद्ध में भोजन करके, मन से भी वेद मन्त्रों का स्मरण न करना । एकोद्दिष्ट श्राद्ध का नेवता मानकर, राजमृत्यु होने पर और सूर्य-चन्द्र के ग्रहण होने पर तीन दिन वेदाध्ययन न करना चाहिए ॥ १०६-११० ॥

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥
शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा शौचावसक्थिकाम् ।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥
नीहारे वाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः ।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

जबतक एकोद्दिष्ट श्राद्ध का चन्दन और लेप का गन्ध शरीर में रहे तबतक विद्वान् ब्राह्मण को अनध्याय करना चाहिए । सोता, पांव पसारकर, दोनों घुटनों को बांधकर, मांस खाकर और जन्म-मरण के सूतक का अन्न खाकर, अनध्याय करना । कोहिरा पड़े, वाण शब्द हो, प्रातःकाल और सायंकाल की सन्धिमें, अमावास्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमीको अनध्याय माननाचाहिए॥१११-११३॥

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टमीपौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥
पांशुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पंक्तौ च न पठेद्द्विजः ॥ ११५ ॥
नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायःपाण्यास्योहिद्विजःस्मृतः ॥११७॥

अमावास्या को वेदाध्ययन करने से गुरु का और चतुर्दशी को शिष्य का नाश होता है । अष्टमी को पढ़ने से वेद भूल जाता है । इस लिए इन सब अनध्यायों में वेदपाठ मना है । धूल की वर्षा, दिशाओं का दाह, शृगाल, कुत्ता, गधा और ऊंटों के रोने पर और ये सब पांत बांधकर बैठे हों, उस समय अनध्याय करना । श्मशान के पास, गांव के हद् पर, गौओं के चरने के स्थान में, मैथुन-समय के वस्त्र पहनकर और श्राद्ध में भोजन करके वेदपाठ न करना चाहिए । कोई पदार्थ जीवधारी हो या जड़ हो, कुछभी श्राद्ध में वस्तु देकर अनध्याय करना चाहिए । क्योंकि शास्त्र में ब्राह्मण का हाथ ही मुखरूप है, इस लिए लेना ही भोजन माना जाता है ॥ ११४-११७ ॥

चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥
नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२० ॥

चोरों के उपद्रववाले गांव में आग लगजाने पर और आकाश किंवा पृथिवी में आश्चर्य घटना होने पर, उस काल तक अनध्याय मानना । उपाकर्म और वेद के उत्सर्ग में तीन रात अनध्याय मानना । अष्टका * और ऋतु के अन्त में एक दिन रात अनध्याय करना । घोड़े पर, वृक्ष पर, हाथी पर, नाव पर, गधे पर, ऊंट पर, ऊसर भूमि में और सवारी में बैठकर वेद न पढ़ना चाहिए ॥ ११८-१२० ॥

---

* मार्गशीर्ष की पूर्णा के बाद कृष्णपक्ष की चार अष्टमी को 'अष्टका श्राद्ध' होताहै ।

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे ।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके ॥ १२१ ॥
अतिथिंचाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥
सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥
ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदःस्मृतःपित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः॥१२४॥
एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमशः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥

जहां किसी बातकी बहस होती हो, झगड़ा हो, सेनामें, लड़ाई में, भोजन करते, अजीर्ण होने पर, वमन करके और सूतक में वेद न पढ़ना चाहिए। अतिथि की आज्ञा विना लिए, ज़ोर से हवा चलती हो, शरीर से खून गिरता हो और शस्त्र से घायल हो जाने पर वेदाध्ययन न करना चाहिए। सामवेद का पाठ होता हो, तब ऋग्वेद और यजुर्वेद का पाठ न करना। वेदको समाप्त करके और आरण्यक का पाठ करके, एक दिन रात वेदान्तर को न पढ़ना। ऋग्वेद का देव देवता है अर्थात् उसमें देव स्तुतियां हैं। यजुर्वेद मानुष है, अर्थात् उसमें मनुष्यों का कर्मकाण्ड कहा है। सामवेद पितृदैवत है अर्थात् पितरों का माहात्म्य उसका मुख्य विषय है। इस लिए सामवेद की ध्वनि ऋक् और यजु की अपेक्षा अशुचि, अपवित्रसी है। इन सब बातों को जाननेवाले विद्वानों को नित्य तीनों वेद के सारभूत ॐकार, तीन व्याहृति 'भूः भुवः स्वः' और गायत्री का क्रम से उच्चारण करके वेदाध्ययन करना चाहिए॥ १२१-१२५ ॥

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।

अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥
द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥१२७॥

पशु, गौ आदि, मेंडक, कुत्ता, सांप, नौला और चूहा ये पढ़ते समय गुरु-शिष्यके बीच में होकर निकल जायँ तो एक दिन-रात का अनध्याय करना। पढ़नेका स्थान या आप अपवित्र हो, इन दो अनध्यायों को ज़रूर मानना चाहिए ॥ १२६-१२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥ १२८॥
न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥१२९॥
देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा।
नाक्रामेत् कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च॥१३०॥
मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम्॥ १३१ ॥

विधि और निषेध।

स्नातक द्विज अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी के दिन ऋतु हो तो भी स्त्री-सहवास न करे। भोजन करने के बाद रोगी शरीर में और आधी रात को स्नान न करना। बहुत कपड़े पहन कर और विना जाने तालाव आदि में स्नान न करना। देव-मूर्त्ति, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कपिला गौ और यज्ञ में दीक्षित पुरुष की छाया को कभी न उलांघना। दोपहर, आधीरात, श्राद्ध में मांस आदिक भोजन करके, प्रातःसंध्या और सायंसंध्या के समय, चौराहा में अधिक समय न रहना चाहिए॥१२८-१३१॥

उद्वर्त्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥
वैरिणं नोपसेवेत साहाय्यं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥
नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

उवटन, स्नान से वचा जल, विष्ठा, मूत्र, रुधिर, खखार, थूक और वमन इनको जानकर छूना न चाहिए। शत्रु, शत्रुका मददगार, अधर्मी, चोर और परस्त्री इनका साथ न करना। इस संसार में मनुष्यके आयु का नाश करनेवाला जैसा परस्त्री सहवास है वैसा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है ॥ १३२-१३४ ॥

क्षत्रियञ्चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥
एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योःश्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्॥१३७॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

जो पुरुष अपना भला चाहे उसको क्षत्रिय, सांप और वेदज्ञ ब्राह्मण यदि दुर्बल हों तो भी इनका अपमान न करना चाहिए। ये तीनों अपमानित होकर पुरुष का नाश कर देते हैं, इस लिये बुद्धिमान् को इनका अपमान कभी न करना चाहिए। पूर्वजों की सम्पत्ति नहीं है, या कोई उपार्जन की रीति सफल नहीं हुई- इन

सब बातों के होते भी पुरुष को अपना अपमान—अर्थात् मैं अभागी हूं, किसी लायक नहीं हूं इत्यादि कहकर अपमान न करना चाहिए। वरन् सदा उद्योग करते रहना और लक्ष्मी को दुर्लभ न मानना चाहिये। सत्य वचन बोलना और प्रिय मीठा बोलना चाहिए। जो प्रिय न लगे ऐसा सत्य भी न कहना चाहिए और प्रिय लगनेवाली झूठी बात भी न कहनी। यह सनातन धर्म है॥ १३५-१३८॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥ १३९ ॥
नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यन्दिने स्थिते ।
नाज्ञातेन समं गच्छेत् नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥
हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

जहां अभद्र हो वहां भी भद्रशब्द से ही बोलना। सब से मिल कर 'अच्छे हो' 'कुशल है, इत्यादि बोलना चाहिए। व्यर्थ झगड़ा बखेड़ा किसी से न करना चाहिए। न बहुत सबेरे और न बहुत शाम को और न दोपहर कोही अकेला कहीं जाना। और अनजान के साथ, अकेला और शूद्रों के साथ कहीं न जाना चाहिए। काना, लूला, लंगुला वगैरह विद्याहीन, अपने से अधिक उमरवाला, कुरूप, निर्धन और हीनजातिवाले को कभी कुवाच्य काना, मूर्ख, कमीना आदि न कहना चाहिए॥ १३९-१४१॥

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ।
नचापिपश्येदशुचिः सुस्थोज्योतिर्गणान्दिवि॥१४२॥
स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥१४३॥

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥
मङ्गलाचारयुक्तः स्यात् प्रयतात्मा जितेन्द्रियः।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥
मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

ब्राह्मण को जूंठे मुख से या, अपवित्र दशा में गौ, ब्राह्मण और अग्नि को न छूना चाहिए। और शरीर निरोग होने पर, अपवित्र दशामें, आकाश में सूर्य, चन्द्र आदि न देखना चाहिए। अपवित्र दशा में गौ, ब्राह्मण और अग्नि का स्पर्श हो जाने पर जल से नेत्र आदि इन्द्रियों का स्पर्श करे और गीली हथेली से नाभि को छुवे। तंदुरुस्त आदमी को बिना मतलब, अपनी इन्द्रियों को न छूना चाहिए। और पोशीदा जगह के रोम भी न छुवे। सदा मङ्गल वस्तुओं का सेवन, मनको अपने वश में रखना, गायत्री आदि का जप और हवन सदा करना चाहिए। मङ्गलाचार करनेवाला, जप-हवन करनेवाला, जितेन्द्रिय मनुष्य इस लोक और परलोक में सुख पाता है ॥ १४२-१४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८॥

द्विज को सावधान होकर रोज वेदपाठ करना चाहिए। यह मुख्य धर्म है। और सब गौण धर्म हैं। वेदाभ्यास, पवित्रता, जप और प्राणियों से प्रीति करने से, मनुष्य को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है ॥ १४७-१४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तंसुखमश्नुते ॥ १४९ ॥
सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः ।
पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥
दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥
मन्त्रप्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूजनम् ॥ १५२ ॥
देवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

पूर्व जन्म की जाति को स्मरण करता हुआ वेदका स्वाध्याय किया करता है और वेदाभ्यास से अक्षय सुख पाता है। द्विज को पर्व दिनों में और नित्यभी शान्ति होम आदि करना चाहिए। अष्टका और अन्वष्टका* में श्राद्ध द्वारा पितरों का पूजन करना चाहिए। हवन स्थान से दूर पर मल मूत्र का त्याग, पैर धोना, जूंठा अन्न और वीर्य का त्याग, करना चाहिए। शौच, दातन, स्नान, अंजन, लेपन और देवता का पूजन यह सब प्रातः काल में ही करना चाहिए। पर्व दिनों में देवमूर्ति, श्रेष्ठ ब्राह्मण, राजा, पिता और गुरुजनों का दर्शन अवश्य करना चाहिए ॥ १४९–१५३ ॥

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥

---

* हेमन्त और शिशिर ऋतु में; कृष्णपक्ष की सप्तमी और नवमी तिथि को 'अन्वष्टका' कहते हैं।

गुरु आदि वृद्ध-मान्य पुरुष घर आवें तो उनको प्रणाम करना। बैठने को आसन देना, हाथ जोड़कर पास बैठना और जाने लगें तो कुछ दूर पहुंचाने को जाना चाहिए। गृहस्थ को आलस्य छोड़कर, श्रुति और स्मृति में कहे हुए कर्म वेद पाठ, व्रत आदि और नित्य कर्म और धर्म का मूलभूत सदाचार को सदा करना चाहिए ॥ १५४-१५५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

सदाचार के पालन से दीर्घ आयु, मनचाही सन्तान और अक्षय धन मिलता है। और आचार से ही कुलक्षणों का विनाश होता है। दुराचारी पुरुष की निन्दा संसार में होती है। वह सदा दुःख पाता है, रोगी रहता है और कम उमर पाता है। जो पुरुष दूसरे शुभ लक्षणों से रहित भी हो, पर सदाचार में लगा रहता हो, शास्त्र में भक्ति रखता हो, ईर्षारहित हो तो उसकी उमर सौ वर्ष की होती है ॥ १५६-१५८ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥
यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।
न हन्याद्ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥१६२॥
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥१६३॥

संसार में जो जो काम दूसरे के अधीन हों उनको यत्न से छोड़ देना चाहिए। और जो जो काम अपने से होनेवाले हों उनको यत्न से करना चाहिए। जो पराधीन विषय हैं उन सबों में दुःख और जो स्वाधीन हैं उनमें सुख होता है। यही सुख दुःख का संक्षेप में लक्षण है। जिस कर्म के करने से पुरुष की आत्मा सुख संतोष पावे उसी कर्म को यत्न से करना चाहिए और जिसको करने से मन को दुःख पहुँचे वह काम छोड़ देना चाहिए। यज्ञोपवीत देनेवाला आचार्य, वेद व्याख्या करनेवाला, पिता, माता, गुरु, गौ और सब भांति के तपस्वियों के चित्त दुखानेवाला कोई काम न करना चाहिए। स्वर्ग, ईश्वर आदि को न माननेवाली नास्तिक बुद्धि, वेद निंदा, देवताओं की निंदा, द्वेष, दंभ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता को छोड़ देना चाहिए॥ १५९–१६३॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ॥१६४॥
ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते॥ १६५॥
ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम्।
एकविंशतमाजातीः पापयोनिषु जायते॥ १६६॥
अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः॥ १६७॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ १६८ ॥

क्रोध में आकर किसीको मारने को लकड़ी न उठाना । पुत्र और शिष्य के सिवा दूसरे को लकड़ी से न मारना । परन्तु शिक्षा के लिए पुत्र और शिष्य दोनों को मारना उचित है । गृहस्थ यदि ब्राह्मण को मारने की इच्छा से लकड़ी उठावे तो सौ वर्ष तामिस्र नरक में लुढ़कता है । यदि ब्राह्मण को क्रोधवश तिनुके से भी जानकर मारे तो इक्कीस जन्म तक पाप योनि में जन्म लेना पड़ता है । जो पुरुष, ब्राह्मण लड़ता न हो तो भी उसके शरीर से रुधिर निकालता है वह अपनी भूल से मरने के बाद बड़ा दुःख पाता है । ब्राह्मण के शरीर का रुधिर, भूमि में जितने रजकणों को सान लेता है उतने वर्ष तक उस मनुष्य को परलोक में रुधिर निकालने वाले जीव काट काट कर दुःख देते हैं ॥ १६४-१६८ ॥

न कदाचिद् द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥ १६९ ॥
अधार्मिको नरो योहि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतस्य यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

इस लिए बुद्धिमान पुरुष को कभी ब्राह्मण के सामने लकड़ी न उठाना चाहिए । उसको तिनुके से भी न मारना । उसके शरीर में रुधिर न निकालना चाहिए । अधर्मी-पापी पुरुष, झूँठी गवाही देकर धन लेनेवाला, और नित्य हिंसा में लगा हुआ इस लोक में सुख नहीं पाते वे सदा दुःखी रहते हैं ॥ १६९-१७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापाना माशु पश्यन् विपर्ययम् ॥१७१॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेवतु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

अधर्मी-पापी पुरुष की दशा बदलती अर्थात् उन्नति आदि होते देखकर पुरुष को धर्माचरण करने में दुःखभी होता हो तोभी उस को न छोड़ना चाहिए। धर्म में ही मन लगा रखना चाहिए। जैसे भूमि में बीज बोने पर वह तत्काल फल नहीं दे सकता वैसेही अधर्म का फलभी तुरंत नहीं मिलता। किन्तु धीरे धीरे वह करनेवाले का जड़ से नाश करदेता है। अधर्म का फल करनेवाले को न हुआ तो उसके पुत्र को होगा, पुत्र को नहीं तो पौत्र को अवश्य होगा। किन्तु बिना फल भोग किए छुटकारा नहीं होता। अधर्मी पहले धन आदि से बढ़ता है। सुख भोगता है, अपने शत्रुओं को जीत लेता है, लेकिन अन्त में जड़ मूल से नष्ट होजाता है ॥१७१-१७४॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद्वाकचपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥

सत्य, धर्म और सदाचार में सदा लगा रहना चाहिए। जबान, हाथ और पेट को नियम में रखकर, पुत्र स्त्री आदि को शिक्षा देनी चाहिए। जो धर्म से रहित हो ऐसे अर्थ-काम को छोड़देना,

परिणाम में दुःख देनेवाला धर्म भी न करना । और जिस धर्म के आचरण से लोक में निन्दा हो वह धर्म भी न करना । पुरुष को हाथ, पैर और आंखों की चञ्चलता न करनी चाहिए । झूठी, सच्ची लोकनिन्दा आदि से वाणी की चंचलता न रखनी चाहिए और दूसरे का अनभल कभी न सोचना चाहिये ॥ १७५--१७७ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥
एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान् गृही ॥ १८१ ॥

जिस उत्तम मार्ग से अपने बाप, दादा चलते आये हों उस मार्ग से चलना चाहिए । इस प्रकार के आचरण से पुरुष अधर्म से नष्ट नहीं होता । ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, बालक, बूढ़ा, रोगी, वैद्य, जाति के पुरुष, नातेदार, कुटुम्बी, माता, पिता, दौरानी, जेठानी, ननँद, भावज आदि भाई, पुत्र, स्त्री बेटी और नौकरों के साथ झगड़ा न करना चाहिए । गृहस्थ इनके साथ झगड़ा बखेड़ा न करे तो सब पापों से छूट जाता है और इनको वश में करके सब लोकों में जय पाता है ॥ १७८--१८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥
यामयोऽप्सरसांलोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्यपांलोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठःसमः पित्रा भार्या पुत्रःस्वका तनुः॥ १८४॥

आचार्य ब्रह्मलोक का स्वामी है । पिता प्रजापति, अतिथि इन्द्रलोक, ऋत्विक् देवलोक का प्रभु है । पुत्रवधू आदि अप्सरालोक की अधीश्वरी हैं । कुटुम्बी वैश्वदेवलोक, नातेदार वरुणलोक और पिता माता भूलोक के ईश्वर हैं । बालक, वृद्ध, दुर्बल और रोगी आकाश के ईश्वर हैं । बड़ा भाई पिता के समान है । स्त्री और पुत्र अपना शरीर जानना चाहिए ॥ १८२-१८४ ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

अपनी छाया दासजन हैं और पुत्री कृपापात्र है । इस कारण इन सब लोगों से अपना अपमान होने पर भी उसको सहन कर लेना किन्तु झगड़ा न करना चाहिए ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥
न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥
हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम् ।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥
हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् ।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः॥१८९॥
अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान् बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान् हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१९१॥

दान-निर्णय।

ब्राह्मण अपनी तपस्या से दान लेने की शक्ति रखता हो तोभी उसमें प्रीति न रक्खे । प्रतिग्रह-दान लेने से ब्रह्मतेज शीघ्र ही नष्ट होजाता है। विना धर्मानुसार विधि जाने, द्रव्यदान, दुःखी होने पर भी न लेना चाहिए। जिस वस्तु का दान लेना हो, उसके देवता, मंत्र, जप आदि न जानकर जो ब्राह्मण सोना, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तेल और घी आदि का दान लेता है वह काठ की भांति जलकर खाक होजाता है। मूर्ख ब्राह्मण दान में सोना और अन्न लेय तो आयु का नाश होता है। भूमि और गौ शरीर को सुखाती है। घोड़ा नेत्र, वस्त्र त्वचा, घृत तेज और तिल प्रजा को नष्ट करता है। जो मूर्ख ब्राह्मण दान लेने की इच्छा रखता है, वह पत्थर की नाव बैठनेवालों के साथ जैसे जल में डूब जाती है, वैसे ही दाता के साथ नरक में डूब जाता है। इसलिये दानविधि न जानकर, मूर्ख ब्राह्मणोंको हर एक से दान लेने में डरना चाहिये। जैसे कीचड़ में गौ फँसकर दुःखी होती है वैसेही थोड़ा भी दान लेकर मूर्ख ब्राह्मण महादुःख को पाता है॥ १८६-१९१॥

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥
यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

जो ब्राह्मण विलाव का सा मौनसाधता है, बगला भगत है, वेद नहीं जानता उसको जलपान को भी न पूछना। इन तीन भांति के ब्राह्मणों को दिया धन चाहे वह धर्म से ही पैदा किया हो, पर पर-

लोक में दोनों का अशुभकारक होता है। जैसे पत्थर की नाव से तैरता हुआ पुरुष जल में डूब जाता है, वैसेही मूर्खदाता और लेने वाला नरक में डूबते हैं॥ १६२–१६४॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः॥१६५॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्या विनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः॥ १६६॥
ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा॥ १६७॥

जो संसार को छलने के लिये धर्माचरण करते हैं, लोगों को धोखा देते हैं, दूसरे की बुराई में लगे रहते हैं, लोभी हैं और दूसरे के गुणों को न सहकर लड़ा करते हैं, ऐसे पुरुषों को 'वैडाल व्रतिक' कहते हैं। जो सदा नीची दृष्टिरखतेहैं, शान्तभाव से रहते हैं, मन में मतलब गांठा करते हैं, जड़ हैं और झूंठा विनय दिखाते हैं, ऐसे पुरुषों को बकभक्त–बगलाभगत कहतेहैं, जो वैडालव्रतिक, बकभक्त आदि हैं वे सब अपने पापवश 'अन्धतामिस्र' नरक में पड़ते हैं॥ १६५–१६७॥

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम्॥ १६८॥

कोई पाप करके, उसका प्रायश्चित्त करते हुए यह न कहै कि यह प्रायश्चित्त नहीं, किन्तु धर्मार्थ करते हैं। ऐसा कहकर लोक को छलना न चाहिए॥ १६८॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।
छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति॥ १६९॥
अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।

स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥
परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥
यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

ऐसे कपटी ब्राह्मणों की लोक परलोक दोनों में विद्वान् ब्राह्मण निन्दा करते हैं और उनके कपटव्रतों का फल राक्षसों को पहुँचता है। जो पुरुष जिस वर्ण वा आश्रम से सम्बन्ध नहीं रखता, पर उसके चिह्नों को जीविका के लिये धारण करता है, वह उन वर्णाश्रमवालों के पाप को ग्रहण करता है और अन्त में पक्षियोनि को प्राप्त होता है। किसीके तालाब, पौशाला आदि में कभी स्नान न करना। स्नान करने से, उसके मालिक के चतुर्थांश पाप का वह भागी होता है। सवारी, शय्या, आसन, कुआं, बगीचा और घर विना दिये जो दूसरे का भोगता है वह उसके स्वामी का चौथाई पाप का भागी होता है ॥ १९९-२०२ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥
यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥२०४॥
नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥

नदी, देवताओं के लिये बने जलाशय, सरोवर, सोता झरना आदि में नित्य स्नान करना चाहिए। विद्वान् गृहस्थ नित्य नियम का ही पालन न करे, बल्कि यमोंका भी पालन करे। क्योंकि यमों को न करके केवल नियमोंके ही पालन से वह पतित होजाता

है*जो वेदवेत्ता न हो, या बहुतों को साथही यज्ञ कराता हो और जिसमें नपुंसक वा स्त्री होम करनेवाले हों, ऐसे यज्ञों में ब्राह्मण को भोजन कभी न करना चाहिए ॥ २०३-२०५ ॥

अश्रीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥
मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
केशकीटावपन्नञ्च पदा स्पृष्टञ्च कामतः ॥ २०७ ॥
भ्रूणघ्नावेक्षितञ्चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥
गवा चान्नमुपघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः ।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषा च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥

कुधान्य-निर्णय ।

जिस यज्ञ में ऐसे लोग हवन करते हैं वह साधुओं को श्रीहीन करनेवाला है, देवताओं के विरुद्ध है। इस लिए उसको छोड़ देना चाहिए। मतवाला, क्रोधी और रोगी का अन्न कभी न खाना बाल, कीड़ा पड़ा हो, पैर से छुआ हो उस अन्नको भी न खाना। भ्रूणहत्या करनेवाले का देखा हुआ, रजस्वला का छुआ, पक्षी का खाया, कुत्ता का छुआ भी न खाना। गौ का सूंघा हुआ, 'जो चाहे खाजाय' ऐसा पुकार कर कहा हुआ, बहुतों की मदद से भण्डारे का अन्न, वेश्या का अन्न, यह सब निन्दित अन्न हैं ॥ २०६--२०९ ॥

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

---

* अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सहनशीलता, अक्रूरता, मधुर वचन को यम कहते हैं। स्नान, मौन, उपवास, वेदाध्ययन, शौच, अक्रोध, अप्रमाद आदि नियम हैं। इन दोनों का पालन करने से फल होता है केवल एकही से नहीं। इस लिये सबको दोनों नियमों का पालन आवश्यक है।

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥
चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥ २१२ ॥

चोर, गवैया, बढ़ई, ब्याजख़ोर, अग्नीसोमीय यज्ञ न करके यज्ञ में दीक्षित, कृपण और क़ैदी का अन्न न खाना। महापातकी, नपुंसक, व्यभिचारिणी स्त्री, कपटब्रह्मचारी का अन्न, खट्टा, बासी और शूद्र का जूँठा अन्न न खाना। वैद्य का, शिकारी का, क्रूर का, जूठन खाने वाले का, क्रूर कर्म करनेवाले का, दश दिन तक सूतक का और पर्याचान्त * इन सब अन्नों को न खाना चाहिए ॥ २१०-२१२ ॥

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः।
द्विषदन्नं नगर्य्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥
पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥
कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥
श्ववतां शौण्डिकानाञ्च चैलनिर्णेजकस्य च।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

अपमान से दिया अन्न, वृथामांस, पति-पुत्र हीन स्त्री का, शत्रु के नगर का, पतित मनुष्य का और जिसके ऊपर छींक भई हो वह अन्न न खाना। चुगल, झूंठा, यज्ञ फल बेंचनेवालों का अन्न, नट, दर्ज़ी और कृतघ्न का अन्न त्याग देना। लोहार, भील, बहुरू-

---

* एक पंक्ति में भोजन करते हों तभी दूसरी पंक्ति में यदि कोई भोजन विश्राम करके आचमन करले तो उसको 'पर्याचान्त' कहते हैं। ऐसा होजाने पर भोजन बंद कर देना चाहिए।

पिया, सोनार, धरकाट और अस्त्र बेंचनेवाले का अन्न न खाना। कुत्तावाला, मद्यवाला, धोबी, रंगरेज़, निर्दयी और जिस के यहां उपपति हो, इन सबका अन्न न लेना चाहिए॥ २१३--२१६॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च॥ २१७॥
राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मविकर्तिनः॥ २१८॥
कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति॥ २१९॥
पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्॥२२०॥

जो स्त्री के जार को स्वीकृत किये हों, जो स्त्री के अधीन हों, दश दिन तक मरण शौच का और जो सन्तोष न दे, इन अन्नों को न खाना चाहिए। राजा का अन्न तेज, शूद्र का ब्रह्मतेज, सोनार का आयु, मोची का यश, रसोईदार का प्रजा, धोबी का बल हर लेता है। और समूह का अन्न, वेश्या का अन्न परलोक को विगाड़ता है। वैद्य का अन्न पीब के समान, व्यभिचारिणी का इन्द्रिय के समान, व्याजखोर का विष्ठा के समान और हथियार बेंचनेवाले का मैल के समान होता है। इन सब कुधान्यों को जहां तक बन पड़े बचाना चाहिए॥ २१७-२२०॥

य एतेन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः॥ २२१॥
भुक्त्वातोन्यतमस्यान्नममत्याक्षपणं त्र्यहम्।
मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च॥ २२२॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्द्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥
तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥

इसप्रकार जो अन्न कहे गये हैं और ऐसेही दूसरे प्रकार के अन्न को त्वचा, हड्डी और रोम की भांति विद्वानोंने कहा है। इन सब अन्नों को अज्ञान से खा लेवे तो तीन दिन व्रत करे और जानकर खाया हो तो भी कृच्छ्र व्रत करे। विद्वान् ब्राह्मण श्रद्धाहीन शूद्र के घर पक्वान्न न खाय, यदि अन्न न हो तो एक दिन के लिए कच्चा सीधा उससे ले लेना चाहिए। वेद पढ़कर भी कृपण हो, दाता भी व्याजखोर हो, इन दोनोंके अन्न को देवताओं ने एक भांति कहा है। पर ब्रह्माजी ने देवताओं के पास जाकर कहा कि—विषम को सम न करना, व्याजखोर होने परभी दाता का अन्न श्रद्धासे पवित्र होता है। और वेद पढ़कर भी कृपण का श्रद्धारहित अन्न अपवित्र होता है ॥ २२१-२२५ ॥

श्रद्धयेष्टं च पूतं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्त्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥
यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

द्विज को श्रद्धा से यज्ञ, कूप, धर्मशाला आदि बनवाना चाहिए। सुमार्ग से मिले धन से यह काम करने से बड़ा फल होता है।

गृहस्थ को यज्ञ आदि कर्मों में सुपात्र को दान देना चाहिए। गृहस्थ के यहां कोई मांगने आवे तो उसको शान्तभाव से जो हो सके देना चाहिए। क्योंकि कभी कोई ऐसा पात्र मिल जाता है, जो दाता को सब पापों से तार देता है ॥ २२६-२२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥
वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

विविध-विषय ।

जल पिलानेवाला तृप्ति, अन्नदाता अक्षय सुख, तिलदाता अभीष्ट संतान और दीपक का दान करनेवाला उत्तम नेत्र पाता है। भूमिदाता भूमि, सुवर्णदाता उमर, गृहदाता उत्तम गृह, चांदी दाता उत्तम रूप को पाता है। वस्त्रदाता चन्द्रलोक पाता है, घोड़ा देनेवाला अश्विनीकुमार का लोक, वृषभदाता पूर्णलक्ष्मी और गोदान करनेवाला सूर्यलोक पाता है ॥ २२९-२३१ ॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥
येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।

तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥
न विस्मयेन तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
नार्त्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

सवारी और शय्या देनेवाला अभयदाता ऐश्वर्य, धान्यदाता अक्षय सुख और वेदाध्यापक ब्रह्मलोक को पाता है । इन सब दानों में वेद का दान सब से उत्तम माना जाता है। जिस सात्त्विक, राजस आदि भावों से दान दिया जाता है उस भाव का फल दाता को मिलता है। जो आदर से दान देता है और जो आदरसे लेता है उन दोनों को स्वर्गफल मिलता है। नहीं तो उलटा फल मिलता है। तप करके अभिमान न करना, यज्ञ करके झूठ न बोलना, ब्राह्मणों से दुःख पाकर भी उनको दुर्वचन न कहना और दान देकर न कहना, यह सत्पुरुषों का कार्य है ॥ २३२-२३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥
धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

असत्य से यज्ञ निष्फल होजाता है, गर्व से तप क्षीण होजाता है। ब्राह्मणों की निन्दा से आयु घटती है। दान करके खुद बड़ाई

करने से वह निष्फल होजाता है । जिस प्रकार चींटी धीरे धीरे मिट्टी का ढेर लगा देती है उसी भांति गृहस्थ को धीरे धीरे परलोक की सहायता के लिए धर्म का संग्रह करना चाहिए । परलोक में मदद के लिए पिता, माता, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी नहीं रहते किन्तु वहां केवल धर्म ही साथ में रहता है । प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है और अकेला ही पुण्य-पाप को भोगता है । काठ मिट्टी के समान मृत शरीर को ज़मीन में छोड़कर, सम्बन्धी लोग मुँह फेरकर, घर चले जाते हैं । एक धर्म ही उसके साथ जाता है ॥ २३७–२४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हन्ति किल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३ ॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

इस लिए परलोक में सहायता के लिए नित्य धीरे धीरे धर्म का संग्रह करना उचित है । क्योंकि--धर्म सहायक होने से प्राणी दुस्तर नरक को तर जाता है । धर्म प्राण, निष्पाप पुरुष को धर्म तत्काल परलोक को लेजाता है । पुरुष को सदा उत्तम पुरुषों से सम्बन्ध करना चाहिए । अधमों को त्यागना चाहिए । इससे कुल की उन्नति होती है ॥ २४२–२४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान्हीनांश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥
दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथा व्रतः ॥ २४६ ॥
एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥
आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥
नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥

अच्छे पुरुषों के साथ सम्बन्ध करना और नीचों से सम्बन्ध छोड़ता हुआ पुरुष श्रेष्ठता पाता है, नहीं तो शूद्र के समान होजाता है। कर्तव्यमें अचल, कोमल स्वभाव, इन्द्रियोंको वशरखकर, दुराचार से बचकर, हिंसा न करके पुरुष स्वर्ग को जीत लेता है। समिधा, जल, कन्द, फल, पक्वान्न, कच्चा अन्न, मधु और अभयदान इन पदार्थों में कोई भी वस्तु विना मांगे आजाय तो उसको स्वीकार करलेना चाहिए। विना प्रेरणा के यदि दुराचारी भी भिक्षा ले आवे तो उसे ग्रहण करलेना चाहिए यह प्रजापति की आज्ञा है। जो उस भिक्षा का अपमान करता है, उसके पितर पन्द्रह वर्ष तक उसकी श्राद्ध नहीं लेते और अग्नि हव्य नहीं ग्रहण करता ॥ २४५-२४९ ॥

शय्यागृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥२५०॥
गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन् देवतातिथीन्।
सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत् स्वयं ततः ॥ २५१ ॥
गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वातैर्गृहे वसन्।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात्साधुतः सदा॥ २५२॥

पलँग, घर, कुश, सुगंध की चीज़, जल, फूल, मणि, दही, भुना अन्न, मछली, दूध, मांस और शाक यह कोई देने आवे तो लौटाना न चाहिए। अतिथि देवता गुरु आदि के सत्कार की सामग्री न होय तो उसे मांग भी लेवे, पर अपने काम में न लगाना चाहिए।

माता, पिता, गुरु न वर्तमान हों या उनसे जुदा रहता हो तो ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए सत्पुरुषों से दान ले लेवे ॥ २५०–२५२ ॥

आर्द्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥२५३॥
यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशश्च चिकीर्षितम्।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥
योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

अपना साथी, कुलपरम्परा का मित्र, अहीर, दास, नापित और अपने को अर्पण करनेवाले शूद्र का अन्न ग्रहण करना चाहिए। आत्मसमर्पण करनेवाला अपना कुल, देश, जो काम करके पास रहना चाहे और जैसे सेवा करना चाहे—सब निवेदन करे। जो अपनी असलियत छिपाकर सज्जनों के सामने दूसरे ढंग का बनता है वह महापापी, चोर, अपने को छिपानेवाला माना जाता है, सब अर्थ वाणी में रहते हैं, उनका मूल भी वाणी ही है और वाणी में से निकले हैं, ऐसी वाणी को जो चुराता है अर्थात् झूठ बोलता है वह सब वस्तुओं की चोरी करता है ॥ २५३–२५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थ्यमाश्रितः ॥ २५७॥
एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २५८॥
एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।

स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥
अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।
व्यपेत कल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
चतुर्थोऽध्यायः ॥

महर्षि, पितर और देवताओं के ऋण से गृहस्थ को छुटकारा लेकर और पुत्र के ऊपर घर का भार छोड़कर उदासीन वृत्ति से जीवन बिताना चाहिए। एकान्त में अकेला बैठकर, अपना हित चिन्तन करना। एकान्त में विचार करने से पुरुष मोक्ष पाता है। इस प्रकार गृहस्थ ब्राह्मण की जीवननिर्वाह की रीति कही है और स्नातक के आचरण का हाल भी कहा गया है। इस प्रकार के आचरण को करता हुआ ब्राह्मण, निष्पाप होकर ब्रह्मलोक में पूजित होता है ॥ २५७-२६० ॥

चौथा अध्याय पूरा हुआ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् स्नातकस्य यथोदितान्।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥
एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

पांचवां अध्याय।

भक्ष्याभक्ष्य-व्यवस्था।

इस प्रकार स्नातक ब्राह्मणों के धर्मों को सुनकर, अग्नि से उत्पन्न * महात्मा भृगु से ऋषियों ने कहा—हे प्रभो! इन विधियों से धर्माचरण करनेवाले ब्राह्मणों को मृत्यु कैसे मार सकता है। यह सुनकर, मनुपुत्र भृगु ने कहा—वेदाभ्यास न करना, सदाचार को छोड़ना सदा आलसी रहना और अपवित्र भोजन से मृत्यु मार लेता है ॥ १-४ ॥

---

* पहले अध्याय में, दश प्रजापतियों की सृष्टि में मनु से भृगुसृष्टि कही है। यहाँ कल्पभेद से, अग्नि से उत्पन्न भृगु को लिखा है। मनु का अग्नि भी नाम कहीं लिखा मिलता है। कहीं प्रजापति नाम से भी लेते हैं।

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च॥ ५॥
लोहितान्वृक्षनिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥ ६॥
वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च॥ ७॥

लहसुन, प्याज़, भूपुष्प-कुकुरमुत्ता और दूसरे अपवित्र खाद से पैदा होनेवाले पदार्थ द्विजों को न खाना चाहिए। वृक्षों से आप ही निकला, या काटने से निकला लाल गोंद, गूलर, लहसोड़ा और दश दिन के भीतर में गौ के दूध का पाक इन पदार्थों को ज़रूर छोड़ना चाहिए। तिल, चावल की खिचड़ी, दूध, गुड़, आटा की लपसी, दूध का पाक, मालपुआ, विना संस्कार का मांस, देवनिमित्त बना अन्न, यज्ञ का हविष्य इन पदार्थों को देवार्पण विना किये खाना न चाहिए॥ ५-७॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोःपयः॥ ८॥
आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि॥ ९॥
दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम्।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः॥ १०॥
क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत्॥ ११॥
कलविंकं प्लवं हंसं चक्राङ्गं ग्रामकुक्कुटम्।

सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥
प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान्।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् शौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥
वकं चैव बलाकां च काकोलं खंजरीटकम्।
मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः॥१४॥
यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादःसर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत्॥१५॥

दश दिन के भीतर व्याई गौ का दूध, ऊंटनी का दूध, एक खुर वाली गधी, घोड़ी आदि का दूध, भेंड़ का दूध, गर्भवती गौका दूध और जिसका बच्चा मरगया हो उस गौ का दूध न पीना चाहिए। भैंस को छोड़कर, सब जंगली पशुओं का दूध और स्त्री का दूध और विगड़कर खट्टा हुआ पदार्थ न खाना। खट्टे पदार्थों में दही, मट्ठा, अच्छे फूल फल के अर्क गुलाव, केवड़ा आदि खाना पीना चाहिए। कच्चा मांस खानेवाले पक्षी, शकुनवाले पक्षी, गांववासी पक्षी, अभक्ष्य पक्षी, एक खुरवाले ऊंट, घोड़ा और टिड्डी ये सब अभक्ष्य हैं। वतक, हंस, चकवा, गांव का मुरगा, सारस, जलकाक, पपीहा, तोता और मैना ये सब अभक्ष्य हैं। चोंच से मार कर खानेवाले, पैरों में जालवाले (वाज़ वग़ैरह) कोयल, नखसे फाड़कर खानेवाले, जल में गोता लगाकर मछली खानेवाले, कसाईखाने का मांस और सूखा मांस ये सब अभक्ष्य हैं। वगला, वतक, काला कौआ, खंजन, मछली खानेवाले पक्षी, सुअर और सब भांति की मछली ये सब अभक्ष्य हैं। जो जिसका मांस खाता है वह उस मांस का खानेवाला कहलाता है। पर मछली खाने वाला सब का मांस खानेवाला कहा जाता है। इस लिए मछली न खाना चाहिए। क्योंकि मछली सबका मांस खाती है ॥ ८-१५॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः।

राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥१६॥
न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥
श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥
छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥ १९ ॥
अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

पढ़न, रोह आदि सब मछलियां हव्य-कव्य में ग्रहण के लायक होती हैं। राजीव सिंहतुण्ड और मोटी खाल की मछली भी ग्राह्य हैं। अकेले घूमनेवाले और अनजान पक्षी, मृग अभक्ष्य हैं और जो भक्ष्य पांच नखवाले पशु हैं उनमें भी सब भक्ष्य नहीं हैं। साही, शल्यक, गोधा, गैंडा, कछुवा, खरगोश ये पांच नखवालों में भक्ष्य हैं। और ऊंट को छोड़ कर, एक दांतवाले दूसरे पांच नखवाले भी भक्ष्य हैं। धरती का फूल, गांव का सुअर, लहसुन, गांव का मुरगा, शलगम, प्याज़ इनको जानकर खानेवाला द्विज पतित होजाता है। और ये छ पदार्थ अनजान में खालेय तो सान्तपननामक वा यतिचान्द्रायणनामक प्रायश्चित्त करे। और लाल गोंद आदि खालेय तो एक दिन उपवास करे ॥ १६-२० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥
यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥

बिना जाने कोई अभक्ष्य पदार्थ खालेय तो उसकी शुद्धि के लिए ब्राह्मण को एक वर्ष में एक कृच्छ्रव्रत अवश्य करना चाहिए। और जानकर खालिया हो तो विशेष प्रायश्चित्त करना उचित है। आपत्ति, दुर्भिक्ष के समय में अपने कर्म की पूर्णता के लिए ब्राह्मणों को उत्तम मृग—पक्षियों का वध करना चाहिए। या जिनका पालन भार अपने ऊपर हो उनकी तृप्ति के लिए मृग-पक्षियों को मारना चाहिए क्योंकि पूर्व समय में अगस्त्य मुनि ने ऐसा काम किया था ॥ २१–२२ ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥
यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम्।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥
चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रियाः ॥ २५ ॥
एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

प्राचीन काल में ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रियों के यज्ञ में भक्ष्य मृग पक्षियों के पुरोडाश हुआ करते थे। जो भक्ष्य, भोज्य पदार्थ निन्दित नहीं हैं, वे बासी होने पर भी घी आदि मिला हो तो खाने लायक हैं और जो हवन शेष है वह भी खाने योग्य होता है। जौ, गेहूं के पदार्थ, दूध के पदार्थ अधिक दिन के बने हों पर घी से तर न हों तो उनको भी न खाना चाहिए। इस प्रकार द्विजों के भक्ष्य और अभक्ष्य सब पदार्थ कहे गये हैं अब मांसभक्षण और उसके त्याग की विधि कहते हैं ॥ २३–२६ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥
चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

मांसभक्षण-व्यवस्था।

यज्ञ में वेदमन्त्रों से प्रोक्षण किया मांस खाना और ब्राह्मणों की इच्छा से हुआ हो तो खाना। देवकार्य और पितृकार्य में, निमन्त्रण होने पर या प्राण जाने का भय हो तो खाना उचित है। ब्रह्मा ने इस जगत् के प्राण को अन्नरूप से बनाया है। इसलिए चराचर जगत् सब प्राण का भोजन है। स्थावर, घास आदि जङ्गमों का भोजन है, विना दाढ़वाले दाढ़वालों का भोजन है। विना हाथवाले, हाथवालों का जैसे मनुष्यों का मछली भोजन है और मृग आदि सिंहादि के भोजन हैं॥ २७-२९ ॥

नात्तादुष्यत्यदन्नद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥
यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥
क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दोषभाक् ॥३२॥
नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥
न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥
असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥३६॥
कुर्याद्घृतपशुं सङ्गे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

जो भक्षण के योग्य प्राणी हैं उनको प्रतिदिन खाने से, खाने वाला दोषभागी नहीं होता । क्योंकि, भक्षण करने योग्य प्राणी और उनके भक्षकों को, परमात्मा ने ही रचा है । यज्ञ के निमित्त से मांसभक्षण दैवी विधि कहलाती है । लेकिन देवार्पण के विना मांस खाना राक्षसविधि कही जाती है । मोल लेकर, या आप ही मारकर, या दूसरे ने लाकर दिया हो, ऐसे मांस को देवता और पितरों को अर्पण करके खाने से दोष नहीं होता । आपत्तिकाल न हो तो विधि को जाननेवाला द्विज कभी मांसभक्षण अविधि से न करे—क्योंकि विना विधि से जो मांसभक्षण करता है, उसके मरने पर उसका मांस वे प्राणी खाते हैं । रोज़गार के लिए जो पशु मारते हैं उनको वैसा पाप नहीं होता जैसा विना देवता और पितरों को चढ़ाये मांस खानेवाले को होता है । श्राद्ध आदि में विधि से जो मांसभक्षण नहीं करता, वह मरके इक्कीस वार पशुयोनि में जन्म लेता है । मन्त्रों से जिनका संस्कार नहीं हुआ उन पशुओं को ब्राह्मण कभी न खावे । पर सनातन वेद विधि के अनुसार संस्कार किया गया हो तो अवश्य खावे । मांस खाने ही की इच्छा हो तो घृत का पशु या मैदा का पशु वनाकर विधि से मांस खावे । पर देव निमित्त के विना पशु मारने की इच्छा कभी न करना चाहिए ॥ ३०-३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥ ३९॥
ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः॥ ४०॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥ ४१॥

विना देवनिमित्त के जो वृथा पशुहिंसा करता है, वह मरने पर जितने पशुरोम हैं, उतने जन्मों तक उस पशु के हाथ से मारा जाता है। ब्रह्मा ने स्वयं ही यज्ञ के लिए पशुओं को बनाया है और सब यज्ञ जगत् के कल्याण के लिए हैं, इसलिए यज्ञ में जो पशुवध होता है वह वध नहीं है। ओषधि, पशु, वृक्ष, पक्षी आदि यज्ञ के अर्थ मारे जाने से उत्तम गति को पाते हैं। मधुपर्क, यज्ञ, श्राद्ध और दैवकर्म में पशुवध करना, दूसरे कामों में न करना यह मनु जी की आज्ञा है॥ ३८-४१॥

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम्॥ ४२॥
गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्॥ ४३॥
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ॥ ४४॥
योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥ ४५॥

वेदविशारद द्विज, मधुपर्क आदि में पशुवध करके अपनी आत्मा और पशु को उत्तम गति को पहुँचाता है। गृहस्थ, ब्रह्मचर्य

या वानप्रस्थ आश्रम में रहकर, द्विज को वेदविरुद्ध हिंसा कभी आपत्ति में भी न करनी चाहिए। इस जगत् में जो वेदानुसार हिंसा नियत है उसको हिंसा न माननी चाहिए। क्योंकि धर्म वेद से ही प्रकट हुआ है। जो पुरुष अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है, वह जीता या मरा हुआ कहीं सुख नहीं पाता ॥ ४२-४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदेवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ ४८ ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

जो पुरुष प्राणियों को बांधने या मारने का दुःख नहीं देना चाहता, वह सबका हित चाहनेवाला पुरुष अनन्त सुख पाता है। ऐसा पुरुष जो कुछ शोचता है, जो कुछ करता है और जिसमें अभिलाषा रखता है वह सब सहज में ही उसको प्राप्त होजाता है। प्राणियों की हिंसा विना मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणियों के वध से स्वर्ग भी नहीं मिलता, इसलिए मांस खाना छोड़ देना चाहिए। मांस की उत्पत्ति और प्राणियों के वध आदि कर्मों को देखकर सब प्रकार के मांस भक्षण से चित्त को हटा लेना चाहिए ॥ ४६-४९ ॥

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्योनास्त्यपुण्यकृत्॥५२॥

जो विधि छोड़कर, पिशाच के भांति मांस भक्षण नहीं करता वह सबका प्रिय होजाता है। और रोगों से दुःखी नहीं होता है। जिसकी राय से मारा जाता है, अङ्गों को काटकर अलग अलग करनेवाला, मारनेवाला, खरीदनेवाला, बेचनेंवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला ये सब घातक-मारनेवाले होते हैं। जो पुरुष, देवता और पितरों का पूजन बिना किये, दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर कोई पाप करने वाला नहीं है ॥ ४९-५२ ॥

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥
फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥
मांसभक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो जन्म भर मांस भक्षण नहीं करता, इन दोनों को समान पुण्य फल मिलता है। पवित्र फल, मूल और मुनि अन्नों के खाने से वह फल नहीं मिलता जो मांस छोड़ने से प्राप्त होता है। इस लोक में जिस

का मांस भक्षण मैं करता हूं 'सः' अर्थात् वह परलोक में 'मां' अर्थात् मेरा भक्षण करेगा। यही 'मांस' शब्द का अर्थ विद्वानों ने कहा है। मांस खाना, मद्य पीना और मैथुन इन कामों में मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वाभाविक हुआ करती है, इस कारण इनमें दोष नहीं है। परन्तु इनको छोड़ देने से बड़ा पुण्य होता है॥ ५३-५६॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः॥ ५७॥
दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते॥ ५८॥
दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
अर्वाक् संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव च॥ ५९॥
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ ६०॥

आशौच-व्यवस्था।

अब चारों वर्णों की सूतक व्यवस्था और धातु पात्रों की शुद्धि को क्रम से कहते हैं। दांत निकल आये हों या दांत निकलने के बाद और चूड़ा कर्म होजाने पर मृत्यु होने से सब बान्धवों को अशुद्धि और सूतक लगता है। सपिण्ड अर्थात् सात पुस्त तक मरणाशौच दश दिन तक रहता है। किसी को अस्थि संचयन के पूर्व॥५७-६०॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम्॥ ६१॥
सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥ ६२॥
निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुध्यति।

बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥
अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

जैसा मरने पर सपिण्डों को यह आशौच कहा है, वैसा ही पुत्र आदि उत्पन्न होने में भी अच्छी शुद्धता की इच्छा करनेवालों को आशौच होता है। मरण आशौच सब सपिण्डों को और जन्माशौच माता पिता को ही होता है। उसमें भी पिता स्नान करने से शुद्ध होता है। माता को ही सूतक रहता है। पुरुष जानकर वीर्यपात करे तो स्नान से शुद्ध होता है। और दूसरी स्त्री में संतान पैदा करने पर उसको तीन दिन तक आशौच रहता है। शव (मुर्दा) को छूनेवाले दश दिन में शुद्ध होते हैं और समानोदक अर्थात् सात पीढ़ी से ऊपर के पुरुष तीनदिन में शुद्ध होते हैं ॥ ६१-६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥ ६५ ॥
रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥
नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥
ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

शिष्य, अपने गुरु की अन्त्येष्टि करता हुआ, शव उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है। जितने मास का गर्भपात हो उतनी ही रात्रि में स्त्री शुद्ध होती है। और रजस्वला स्त्री रजबंद होनेपर स्नान करके शुद्ध होती है। जिन बालकों का चूड़ाकर्म नहीं हुआ

उनके मरने से एक दिन में और चूड़ा कर्म होजाने पर तीन दिन में, सपिण्ड पुरुष की शुद्धि होती है। दो वर्ष से कम उमर का वालक मर जाय तो उसको पुष्पमाला, चंदन आदि से भूषित करके, नगर के वाहर पवित्र भूमि में गाड़ देवे और उसका अस्थि संचयन न करे ॥ ६५-६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥
नात्रिवर्षस्य कर्तव्या वान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥
स ब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

और इस वालक का अग्नि संस्कार, जलदान आदि कुछ न करना। सिर्फ़ जंगल में, काठ की भांति गढ़े में, छोड़ कर तीन दिन सूतक मानना चाहिए। तीन वर्ष से कम अवस्था का वालक होने पर, सपिण्डों को जलदान न करना चाहिए। अथवा, दांत निकले हों, नामकरण होगया हो तो जलदान कर भी सकते हैं। सहाध्यायी के मरने पर एक दिन आशौच होता है और समानोदक के यहां सन्तति होने पर तीन दिन में शुद्धि होती है ॥६९-७१ ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति वान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥
अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥
संनिधावेष वैकल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिबान्धवैः ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

जिस कन्या का विवाह न भया हो; सगाई भई हो, उसके निधन में ससुराल वाले और पितृकुल के तीन रात में शुद्ध होते हैं। मृत्यु सूतक वाले को क्षार, अलोना भोजन करना चाहिए। तीन दिन तक नदी में स्नान करे और मांस भक्षण न करे, भूमि में अलग सोवे। जो सपिण्ड और समानोदक पुरुष, मरणकाल में समीप हों उनके लिए यह आशौचविधि कही गई है। और जो पास न हों उनके लिए आगे कही विधि जाननी चाहिए। विदेश में मरने का हाल दश दिन के भीतर जाने तो जितने दिन बाकी हों उतने ही दिन सूतक होता है ॥ ७२-७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति ॥ ७६ ॥
निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥
बाले देशान्तरस्थे च पृथक् पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति ॥ ७८ ॥
अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥
त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः॥८०॥

दश दिन बीतने पर मृत्यु सुने तो तीनदिन का आशौच होता है और एक वर्ष बीतने पर स्नानमात्र सेही शुद्धि होजाती है।

अपने समानोदक का मरण और पुत्र का जन्म सुनकर सचैल स्नान से शुद्धि होती है। सगोत्र बालक का और असपिण्ड मामा, साला आदि का विदेश में मृत्यु सुनकर, सचैल स्नान से शुद्धि होती है। यदि दशाह के भीतर फिर कोई पैदा हो या मरे, तो ब्राह्मण दश दिन पूरे होने तक शुद्ध न होगा। आचार्य के मरने में, शिष्य को तीन दिन आशौच रहता है और आचार्य के पुत्र या स्त्री के मरण में एक दिन का होता है॥ ७६–८०॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च॥ ८१॥
प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ॥ ८२॥
शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति॥ ८३॥

श्रोत्रिय की मृत्यु में तीन दिन, मामा, शिष्य, ऋत्विक और बान्धवों की मृत्यु में दिन-रात आशौच रहता है। जिस राजा के देश में निवास हो उसकी मृत्यु, दिन में होने पर सूर्यास्त तक और रात में रातभर, सूतक रहता है। अश्रोत्रिय ब्राह्मण, वेदपाठी और गुरु के मरण में, एक दिन का आशौच होता है। ब्राह्मण दश दिन में, क्षत्रिय बारह दिन में, वैश्य पंद्रह दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है॥ ८१–८३॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत्॥ ८४॥
दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति॥ ८५॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः॥ ८६॥
नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा॥८७॥
आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात्।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति॥ ८८॥

अग्निहोत्री को सूतक के दिन बढ़ाकर, अग्निहोत्र में विघ्न न करना चाहिए। अग्निहोत्री सपिण्ड होने पर भी सूतकी नहीं होता। चाण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता, मुरदा और मुरदे को छूने पर स्नान से शुद्धि होती है। अपवित्र वस्तु का दर्शन होने पर, पवित्र होकर आचमनपूर्वक सौर मन्त्र 'उदुत्यं जात-वेदसम्-' और पवमान मन्त्रों का जप करना चाहिए। मनुष्य की गीली हड्डी छूने पर स्नान करके और सूखी हो तो आचमन से विप्र शुद्ध होता है। अथवा गौ का स्पर्श या सूर्यदर्शन से पवित्रता होती है। ब्रह्मचारी व्रत की समाप्ति तक जलदान न करे। उसके बाद जलदान करे और तीन रात में ही शुद्ध भी हो जाता है॥ ८४-८८॥

वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया॥ ८९॥
पाखण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम्॥ ९०॥
आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते॥ ९१॥

वर्णसंकर, संन्यासी और आत्मघाती को जलदान की ज़रूरत

नहीं है। पाखण्डी, दुराचारी स्त्री, गर्भ और पति का घात करने-वाली और मद्य पीनेवाली स्त्री को जलदान न करना। अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता और गुरु के शव को उठाने और दाह करने से, ब्रह्मचारी अपने व्रत से पतित नहीं होता है॥८६-६१॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत्।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः॥ ६२॥
न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा॥ ६३॥
राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनञ्चात्र कारणम्॥ ६४॥
डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः॥ ६५॥

शूद्र के मृत शरीर को, नगर के दक्षिण द्वार से और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के शव को क्रम से पश्चिम, उत्तर और पूर्व द्वार से श्मशान में लेजाना चाहिए। राजा, ब्रह्मचर्य व्रत करनेवाला और यज्ञ करनेवाला सूतकी नहीं होता। क्योंकि-राजा इन्द्र के पद पर है। ब्रह्मचारी और याज्ञिक सदा ब्रह्मरूप ही है। जो पुरुष राजा के यहां श्रेष्ठ स्थान पर नियुक्त होता है। वह कार्य करने के निमित्त तुरंत ही आशौच से मुक्त होता है। क्योंकि प्रजारक्षा के लिए न्यायासन पर बैठना ही इसमें कारण है। बिना राजा की लड़ाई में, बिजली से, राजाज्ञा फांसी से और गौ-ब्राह्मण के रक्षा के लिए मरे हुए का और जिसको राजा अपने कार्य के लिए चाहे, उसकी तत्काल शुद्धि होती है॥ ६२-६५॥

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥ ६६॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवोप्ययम् ॥ ९७ ॥
उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥
विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम इन आठ लोकपालों के शरीर को राजा धारण करता है। लोकपालों का राजा के शरीर में निवास होने से उसको सूतक नहीं लगता। आशौच तो मनुष्यों के लिए है। राजा तो लोकपालों के अंश से पैदा हुआ है। जो राजा शस्त्रों से धर्मयुद्ध करके मरता है उसको यज्ञ का फल मिलता है और आशौच तुरंत दूर हो जाता है। प्रेतक्रिया के अन्त में ब्राह्मण जल का, क्षत्रिय शस्त्र, वाहन का, वैश्य हांकने का कोड़ा या बागडोर का और शूद्र लकड़ी का स्पर्श करके शुद्ध होता है। अर्थात् इन पदार्थों को आशौचान्त में जरूर छूना चाहिए ॥ ९७–९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥
असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥
यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन् गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥
अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।

स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति॥१०३॥
न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृते शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता॥१०४॥

हे द्विजो! यह सपिण्डों की मरणाशौच विधि कही गई है। अब असपिण्डों की विधि सुनो। असपिण्ड द्विज की मृत्यु होने पर, उसको बन्धु के तरह उठाना, दाह देना और माता के समीप के भाई बहन आदि का भी उसी तरह कर्म करना। इसमें तीन दिन का आशौच होता है। जो दाहादि करनेवाला मृतक के सपिण्डों का अन्न खाता हो तो दश दिन में, और न खाता हो न उसके मकानही में रहता हो तो एक दिन में, शुद्ध हो जाता है। अपनी जाति, या दूसरी जाति के शव का अनुगमन करने से, सचैल स्नान, अग्निस्पर्श और घृत खाने से शुद्धि होती है। सजातियों के रहते शूद्रों से, ब्राह्मण शव का वाहन कभी न कराना। क्योंकि शूद्र स्पर्श से दूषित शव की आहुति, उसको स्वर्गदायक नहीं होती॥ १००-१०४॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनोवार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥१०५॥
सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि सशुचिर्नमृद्वारिशुचिः शुचिः॥१०६॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥१०७॥

ज्ञान, तप, अग्नि, भोजन, मिट्टी, मन, जल, लीपना, वायु, कर्म, सूर्य और काल ये सब प्राणियों की शुद्धि करनेवाले हैं। सब शुद्धियों में न्याय से मिले धन की शुद्धि श्रेष्ठ कही है। जो

पुरुष, न्याय से मिले धन से शुद्ध हैं वे ही शुद्ध हैं। केवल मिट्टी जल से शुद्ध होनेवाले पवित्र नहीं माने जाते। विद्वान् क्षमा से, यज्ञ आदि न करनेवाले दान से, पापी जप से और वेदविशारद तप से पवित्र होते हैं ॥ १०५-१०७ ॥

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८ ॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥१०९॥
एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम्॥११०॥

अपवित्र पदार्थ मिट्टी और जल से शुद्ध होते हैं। नदी वेग से शुद्ध होती है। मन से दूषित स्त्री रजस्वला होने से शुद्ध होती है और ब्राह्मण त्याग से शुद्ध होता है। जल से शरीर शुद्ध होते हैं। मन सत्यभाषण से शुद्ध होता है। इस प्रकार शरीरशुद्धि का निर्णय कहा है अब द्रव्य शुद्धि का निर्णय कहेंगे ॥ १०८-११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥
निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥
अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥
ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

द्रव्याणां चैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥

पदार्थ-शुद्धि ।

सुवर्ण आदि तैजस पदार्थ, मणि और सब पत्थर के पदार्थों की शुद्धि राख, जल और मिट्टी से होती है। जिस में किसी भांति का लेप न हो ऐसा सोना का पात्र, शंख, पत्थर और चांदी का पात्र जल से ही शुद्ध होता है। सोना और चांदी अग्नि और जल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं इसलिये उनकी पवित्रता अपनी योनि से ही उनसे होती है। तांबा, लोहा, कांस, पीतल, जस्ता और सीसा का पात्र, खार-खटाई और जल इनमें जिससे हो सके उसी से शुद्ध कर लेना चाहिए। घी, मधु आदि को पिघलाकर छान लेने से, जमे हुए का प्रोक्षण से और लकड़ी के पात्रको छीलने से, शुद्धि होती है ११२-११५॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥
चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥
अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥
चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥
कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥
क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

यज्ञकर्म में यज्ञ के पात्र हाथ से धोडालने से पवित्र होजाते हैं । चमस और ग्रहपात्र वगैरह गरम जल से धोने से पवित्र होते हैं। चरु, स्रुच्, स्रुवा, स्फ्य, सूप, शकट, मूसल और उलूखल गरम जल से शुद्ध होते हैं। अन्न और वस्त्र का बहुत ढेर हो तो जल छिड़कने से पवित्र होता है और थोड़ा हो तो जल से धोने पर पवित्र होता है। चमड़ा, चटाई आदि बांस के पदार्थ, वस्त्रों के समान और शाक-मूल-फलों को अन्न के समान पवित्र करना चाहिये। रेशमी, ऊनी वस्त्र--रेह से, कम्बल--रीठ से, सन के वस्त्र--बेल की गूदी से, अलसी आदि के वस्त्र--सफ़ेद सरसों से, पवित्र होते हैं। शंख, सींग, हड्डी और हाथीदांत के पदार्थ, सफ़ेद सरसों, गोमूत्र और जल से पवित्र होते हैं। लकड़ी, घास वगैरह जल छिड़कने से, घर लीप-पोत से और मिट्टी के बर्तन आग में रखने से शुद्ध होते हैं ॥ ११६–१२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥
संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥
पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥
यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥
त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।

अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥
आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥
नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम्।
ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ।
नित्यमास्यं शुचिः स्त्रीणां शकुनिः फलपातने।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥
श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत्।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चाण्डालाद्यैश्च दस्युभिः॥१३१॥

जिस मृत्पात्र में मद्य-मल-चरवी आदि का संपर्क होजाता है उसका पुनः अग्निसंस्कार करने पर भी वह शुद्ध नहीं होता। झाड़ू देना, लीपना, जल छिड़कना, खोदना और गौ का निवास इन पांच प्रकारों से भूमि पवित्र होती है। पक्षी का खाया, गौ का सूंघा, पैर से दबा और जिसके ऊपर छींक दिया हो, जहां बाल या कीड़ा पड़ा हो ऐसा स्थान मिट्टी डालने से पवित्र होता है। जब तक पदार्थों से अपवित्र वस्तु का गंध या लेप दूर न हो तबतक उन पदार्थों को मिट्टी और जल से शुद्ध करे। देवताओं ने ब्राह्मणों के तीन पदार्थ पवित्र कहे हैं—एक अदृष्ट, दूसरा जो पानी से धो लिया हो, तीसरा जिसको ब्राह्मणों ने वाणी से पवित्र कहा हो। जिस जल में गौ की प्यास दूर होजाय, पवित्र हो, गन्ध, रस और वर्ण से ठीक हो, ऐसा पानी भूमि में शुद्ध होता है। कारीगर का हाथ, जो पदार्थ बाज़ार में बेचने को रक्खे हों और ब्रह्मचारी की भिक्षा ये सदा पवित्र होते हैं। रतिसमय में स्त्रियों का मुख, फल गिराने में पक्षीका चोंच, दूध निकालते समय बछड़ा का मुख और शिकार में कुत्ता का मुख पवित्र माना गया है। कुत्ता के मारे हुए का मांस पवित्र होताहै। और मांसाहारी पशु, चाण्डाल

आदि के मारे जीवों का भी मांस पवित्र होता है यह मनुजी की आज्ञा है ॥ १२३-१३१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः॥१३२॥
मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥
विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत्।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥
वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रं विड् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दूषिकास्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥१३५॥

जो इन्द्रियां नाभि के ऊपर हैं वे सब पवित्र हैं और जो नाभि के नीचे हैं वे सब अशुद्ध हैं। देह से निकला मल सब अपवित्र है। मक्खी, मुख से निकली जल की छींट, छाया, गौ, घोड़ा, सूर्य की किरण, धूलि, भूमि, वायु और अग्नि इन सब का स्पर्श पवित्र होता है। देह मल की शुद्धि के लिए उतनी मिट्टी और जल लेवे जिसमें दुर्गन्ध आदि शुद्ध होजाय। चरबी, वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक-कान का मैल, खखार, आँसू, आँखों का मैल, और पसीना ये बारह मनुष्यदेह के मल हैं ॥ १३२-१३५ ॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥१३६॥
एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥
कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत्।

वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥
त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्रीशूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९।

मल और मूत्र का त्याग करने पर लिङ्ग और योनि को एक बार, गुदा को तीन बार, वाम हाथ को दशवार, फिर दोनों हाथों को सातवार मिट्टी से धोना चाहिए। यह आचार-शौच गृहस्थों के लिए है। ब्रह्मचारियों को इससे दूना शौच करना चाहिए। वानप्रस्थ आश्रमवालों को तिगुना और संन्यासियों को चौगुना करना चाहिए। मल-मूत्र करने के पीछे शुद्ध होकर, आचमन करे और नेत्र वगैरह का जल से स्पर्श करे। वेदपाठ के आरम्भ में और भोजन के समय में आचमन करे। पहले तीनवार आचमन फिर दोवार मुख धोवे स्त्री और शूद्र एकबारही जल से आचमन करें। इस प्रकार शरीरशुद्धि होती है ॥ १३६-१३९ ॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्त्तिनाम्।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥
नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यान्न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥
स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥
उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥
वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्।
आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥
सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च।

पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपिसन्॥ १४५॥
एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

न्यायानुसार चलनेवाला शूद्र महीना में बाल को बनवावे, मृत्यु-सूतक और जन्मसूतक में वैश्य के समान व्यवहार करे और ब्राह्मण का जूँठा अन्न खावे। मुख से शरीर पर जो छींटें पड़ती हैं वे शरीर को जूँठा नहीं करतीं। मुख में गया मूंछ का बाल और दांतों की झिरियों में रहा अन्न भी जूँठा नहीं करता। दूसरे को कुल्ला करानेवाले के पैर पर जो छींटें पड़ती हैं उनको भूमि के जल-बिन्दु समान मानना चाहिए। उनसे कोई अशुद्ध नहीं होता। हाथ में अन्न वगैरह हो और जूँठे अपवित्र वस्तु का स्पर्श होजाय तो उसको बिना भूमि में रक्खे ही, आचमन से पवित्र होजाता है। वमन और दस्त होजाने पर, स्नान करके घी का आचमन करे, भोजन करके कुल्ला करे और मैथुन के बाद स्नान करे तब शुद्धि होती है। सोकर, छींककर, खाकर, थूककर, झूँठ बोलकर, जल पीकर और पढ़ने के समय पवित्र होनेपरभी आचमन करना चाहिए। यह सब संपूर्ण वर्णों की शौचविधि कही गई है, अब स्त्रियों के धर्म सुनो ॥ १४०–१४६ ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥ १४८॥
पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्यें कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥
सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥
यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥

स्त्रीधर्म ।

स्त्री, बालक, युवती या वृद्ध हो, पर उसको घर में कोई काम स्वतन्त्रता से न करना चाहिए। स्त्री बालकपन में पिता की आज्ञा में, जवानी में पति की आज्ञा में और पति के बाद पुत्रों की आज्ञा में रहे परन्तु स्वतन्त्रता का कभी न भोग करे। स्त्री पिता, पति वा पुत्रों से जुदा रहने की इच्छा न करे। अलग रहने से पिता और पति दोनों कुलदोषी होते हैं। सदा प्रसन्नचित्त और घर के कामों में चतुर रहे, घर के सामान को पवित्र रक्खे और खर्च संभाल कर करे। पिता या पिता की संमति से भाई जिसके साथ विवाह कर देय, उस पति की सेवा जीवन भर स्त्री को करनी चाहिए और उसके मृत्यु होनेपर ब्रह्मचर्य से रहे ॥ १४७-१५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥
अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

विवाह में जो प्रजापतियज्ञ किया जाता है वह स्त्रियों के मङ्गलार्थ है। और पति होने में वाग्दान ही कारण है। मन्त्रों से विवाह-संस्कार करनेवाला पति, ऋतुकाल में या उससे भिन्न काल में सदा स्त्री को सुख देनेवाला है। पति लोक-परलोक दोनों में सुखदाता है। पति चाहे कुशील हो, मन माना हो, अच्छे

गुणों से रहित हो तोभी उसकी सेवा देवता के समान करनी चाहिए॥ १५२-१५४॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥ १५५॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥१५६॥
कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
नतु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥ १५७॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥ १५८॥

स्त्रियों के लिए अलग यज्ञ, व्रत वा उपवास कुछ भी नहीं है, उनके लिए पति की सेवा ही स्वर्ग देनेवाली है। जो पतिव्रता स्त्री अपने पतिलोक की इच्छा करे, वह पति के जीवन में, या मरण में उसके विरुद्ध कोई आचरण न करे। विधवा स्त्री को फूल, फल खाकर शरीर क्षीण करना चाहिए। पति के मरने पर, व्यभिचार के ख्याल से पर पुरुष का नाम भी न लेय। एक पति की सेवा करनेवाली स्त्री, विधवा होने पर, अपनी मनकामनाओं को छोड़ देय, मरण तक ब्रह्मचर्य से रहे और पतिसेवा के फल की इच्छा रक्खे॥ १५५-१५८॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥ १५९॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ १६०॥
अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्त्तारमतिवर्तते।

सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥
नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

हज़ारों लाखों बालब्रह्मचारी, ब्राह्मण कुल की वृद्धि के लिए, बिना सन्तान के ही स्वर्ग को प्राप्त भए हैं। पति की मृत्यु के बाद, जो स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य से रहती हैं, वे पुत्रहीन भी स्वर्ग को पाती हैं, जैसे ब्रह्मचारियों को मिला है। परन्तु जो स्त्रियाँ पुत्र की लालसासे व्यभिचार करती हैं, वे लोक में निन्दा पाकर, अन्त में पतिलोक से भ्रष्ट होजाती हैं। पति के सिवा दूसरे से उत्पन्न सन्तान उस स्त्री की सन्तान नहीं गिनी जाती। पतिव्रता स्त्रियों के लिए दूसरे पति की व्यवस्था कहीं नहीं है। अर्थात् विवाहित पति ही उसको सच्चा सुख और स्वर्गलोक देने में समर्थ होता है॥ १५९–१६२ ॥

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥१६३ ॥
व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिःसाध्वीति चोच्यते ॥ १६५॥
अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

जो स्त्री रूप, धन आदि से रहित अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष की सेवा करती है वह संसार में निन्दा पाती है और इसका अमुक पति पहला है अमुक दूसरा है इस प्रकार लोग कहते हैं। जो स्त्री पति को छोड़कर व्यभिचार करती है वह जगत् में निन्दा

पाती है और मरकर शृगाल की योनि में जन्म लेती है । पाप रोग कोढ़ वग़ैरह से पीड़ित होती है। और जो स्त्री शरीर, वाणी और मन को वश में रखकर पतिसेवा करती है । वह पतिलोक पाती है और संसार में पतिव्रता कहलाती है । मन, वाणी और शरीर से नियम और सदाचार से रहनेवाली स्त्री उत्तम कीर्ति और स्वर्ग पाती है ॥ १६३-१६६ ॥

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥
भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च ॥१६८ ॥
अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार साध्वी, सवर्णा स्त्री पति से पूर्व मर जाय तो उसका दाह अग्निहोत्र की अग्नि और यज्ञपात्रों के साथ करना चाहिए। पति से पूर्व स्त्री का मरण होने पर, उसकी अन्त्येष्टि क्रियापूर्वक दाह देकर, फिर विवाह करके, स्मार्ताग्नि या श्रौताग्नि का धारण करना चाहिए। द्विजातियों को उक्त विधि के अनुसार, नित्य पञ्चमहायज्ञ करना और विवाह करके आयु का दूसरा भाग गृहस्थाश्रम में बिताना चाहिए ॥ १६७-१६९ ॥

पाँचवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

छठवां अध्याय ।

वानप्रस्थाश्रम-धर्म ।

इसप्रकार स्नातकद्विज गृहस्थाश्रम में विधिपूर्वक निवास करके, शुद्ध और जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थाश्रम का स्वीकार करे। जब गृहस्थ अपने शरीर की खाल ढीली, बाल पका और पुत्र के भी पुत्र अर्थात् पौत्र देखले, तब वन में निवास करे । ग्राम का आहार और घर का सामान छोड़कर, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ या साथही लेकर, वन यात्रा करे। अग्निहोत्र और उसकी सामग्री साथ रक्खे और जितेन्द्रिय होकर निवास करे। नानाभांति के मुनि अन्न, शाक, कन्द, फलों से पञ्चमहायज्ञ विधिपूर्वक किया करे ॥ १-५ ॥

वसेत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।
जटाश्च बिभ्रियान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥
यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

मृगचर्म या वल्कल धारण करे और प्रातःकाल-सायंकाल दोनों समय स्नान करे । जटा, दाढ़ी मूंछ, लोम और नख का सदा धारण करे । अपने भोजनार्थ जो कुछ हो उसमें से बलि और भिक्षा देवे और आश्रम में आए मनुष्यों का जल, कन्द, फल और भिक्षा से सत्कार करे ॥ ६-७ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥
वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥
ऋक्षेष्ट्याग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
उत्तरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥
वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥
देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥
स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥ १३ ॥
वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च ।

भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मान्तकफलानि च ॥ १४॥

सदा वेदपाठ में लगा रहे, इन्द्रियाँ वश में रक्खे, सब से मित्रता रक्खे, मनको स्थिर रक्खे, सदा दान देवे, किसीका दान न लेवे और सब प्राणियों पर दयादृष्टि रक्खे। वैतानिक अग्निहोत्र सदा करे, और अमावस—पूर्णिमा को इष्टि भी किया करे। नक्षत्रयाग, चातुर्मास्य, उत्तरायण और दक्षिणायन याग को क्रम से करे। वसन्त और शरद् ऋतु के मनु अन्नों को खुद लाकर, विधि से चरु और पुरोडाश बनाकर याग करें। इस पवित्र हवि से देव होम करके, बाक़ी खुद खा लेवै। भूमि और जल में पैदा होनेवाले शाक, पवित्र वृक्षों के फूल, फल, कंद और फलों से निकला तेल आदि खाना। मद्य, मांस, कुकुरमुत्ता, सहँजन, लहसोड़ा वगैरह न खाना॥ ८-१४॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५॥

कुआर के महीना में, पहले इकट्ठा किया हुआ मुनि अन्न को अलग कर दें, नया संग्रह करले और पुराने कपड़े, शाक, कन्द, फल को भी अलग करदेवे॥ १५॥

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥ १६॥
अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा॥ १७॥
सद्यःप्रक्षालको वा स्यान्मासंसंचयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा॥ १८॥
नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः॥ १९॥

खेत का अन्न दूसरे का छोड़ा हुआ भी और गाँव का फल, फूल, शाक आदि दुःखी होनेपर भी न खावे। मुनि अन्नों को आग में पकाकर खाय, या ऋतु के पके फल खाय, पत्थर से पीसकर खाय या दांतों से चबाकर खाय। एक दिन के योग्य या एक महीना के या छः महीना के अथवा एक साल के निर्वाह लायक़ अन्न का संग्रह करे। अन्न लाकर रात या दिन में एकबार भोजन करे या एक दिन उपवास करके दूसरे दिन सायंकाल या तीन दिन उपवास करके चौथे दिन सायंकाल भोजन करे॥ १६-१९॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत्।
पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत्॥ २०॥
पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा।
कालपक्वैःस्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः॥ २१॥
भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः॥ २२॥
ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥ २३॥

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में चान्द्रायण व्रत की विधि से रहे अथवा पूर्णा और अमा को एक बार उबाली हुई यवागू खाय। अथवा ऋतु में पके और स्वयं गिरे फल, मूल, फूलों से ही निर्वाह करे। भूमि पर बैठा रहे या दिनभर पैरों से खड़ा रहे, अपने स्थान और आसन में विहार करे। तीनों काल में स्नान किया करे। गर्मी में पञ्चाग्नि सेवन करे। वर्षा में खुले स्थान में रहे, शीतकाल में गीला कपड़ा धारण करे, इस प्रकार तपस्या को धीरे धीरे बढ़ाता रहे॥ २०-२३॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत्।

तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः॥ २४॥
अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः॥ २५॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ २६॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥ २७॥
ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥ २८॥
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षाविप्रो वने वसन्।
विविधाश्चोपनिषदोरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥ २९॥

तीनोंकाल स्नान करे, देवता और पितरों को तृप्त करे और उग्र तपस्या करके अपना शरीर सुखाया करे। शास्त्रविधि के अनुसार अग्निहोत्र का अपने में समारोप करके, अग्नि और घर को त्याग दे और मौन रहकर फल मूल से निर्वाह किया करे। ब्रह्मचर्य से रहे, भूमि पर सोवे, सुख के पदार्थों का उपाय न करे और निवास-स्थान में ममता छोड़कर वृक्ष के नीचे रहाकरे। वनवासी ब्राह्मणों से प्राणरक्षार्थ भिक्षा लावे या वनवासी गृहस्थ द्विजों से ही मांग लावे। यह भिक्षा न मिले तो गाँव से भीख पत्ता या हाथ में मांग कर, आठ ग्रास खा लेवे॥ २४–२९॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये॥ ३०॥
अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।

आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

वानप्रस्थ—ब्राह्मण इन नियमों का या दूसरों का पालन करता हुआ, आत्मज्ञान के लिए उपनिषद् की श्रुतियों का अभ्यास करे। इन नियमों का धारण, ऋषि, ब्राह्मण और गृहस्थों ने भी अपनी विद्या और तपस्या की वृद्धि और शरीरशुद्धि के लिए सदा किया है। इसभांति आचार करते भी कोई रोग आदि होजाय, जो न दूर हो सके तो केवल वायु का आहार करता हुआ, ईशान कोण को शरीरान्त तक चलाजाय ॥ ३०-३१ ॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥
वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

इन महर्षियों के अनुष्ठानों में से कोई अनुष्ठान करके विप्र शरीर को छोड़कर शोक, भय से रहित, ब्रह्मलोक में महिमा पाता है। इस प्रकार आयु के तीसरे भाग को वन में बिताकर, चौथे भाग में विषयादि वासना छोड़कर, संन्यास आश्रम को धारणकरे॥३२-३३॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणःप्रव्रजेद्गृहात् ॥३८॥

संन्यासाश्रम–धर्म ।

आश्रम से आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, उससे वानप्रस्थ में जाकर और हवन, भिक्षा, बलि आदि से थका हुआ, संन्यास लेनेवाला पुरुष देह त्याग करने पर मोक्ष पाता है। ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण इन तीनों से छुटकारा पाने पर, मनको मोक्ष धर्म में लगावे अन्यथा करने से नरकगामी होता है । विधि से वेदाध्ययन–ऋषिऋण, धर्म विवाह से पुत्रोत्पादन—पितृऋण, यज्ञ आदि—देवऋण, इनसे यथाशक्ति छुट्टी लेकर मोक्ष में चित्त लगावे । जो पुरुष वेदादि का पठन न करके संन्यास लेता है वह नरक में पड़ता है । सर्वस्व दक्षिणा की प्रजापति इष्टि को करके और आत्मा में अग्नि का आधान करके ब्राह्मण को संन्यास ग्रहण करना चाहिए ॥ ३४–३८ ॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ३९ ॥
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥
आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥
अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽशङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

जो पुरुष सब प्राणियों को अभय देकर, घर से चौथे आश्रम को जाता है उसको तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं। जिस द्विज से प्राणियों को ज़रा भी भय नहीं होता, उसको देह त्यागने पर कहीं किसीका भय नहीं होता। घर से निकल कर, पवित्र दण्ड और कमण्डलु धारण करके, मौन भाव से विचरे और सब लौकिक कार्यों से विरक्त हो जावे। अकेला ही नित्य विचरे किसीकी मदद न लेवे, क्योंकि अकेले ही मुक्ति मिलती है। ऐसे पुरुष को न किसी के त्याग का दुःख होता है और न उससे दूसरे कोही दुःख पहुँचता है। अग्नि और घर को छोड़कर भिक्षा के लिए गाँव का सहारा रक्खे। दुःख में चिन्ता न करे और स्थिर चित्त से काल बितावे॥ ३९-४३॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ ४४॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा॥ ४५॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ४६॥

भिक्षापात्र, वृक्ष के नीचे निवास, फटे टूटे वस्त्र, किसी की मदद न लेना और सब के ऊपर समान भाव रखना, ये सब मुक्त पुरुष के लक्षण हैं। न मरने की और न जीने की ही इच्छा करे किन्तु काल की प्रतीक्षा किया करे जैसे नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है। आँखों से देखकर भूमि में पैर धरे, जल छानकर पीवे, सत्य वाणी बोले और मन पवित्र रखकर आचरण करे॥ ४४-४६॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ४७॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥

कोई व्यर्थ झगड़ा करे तो उसको सहन करे, किसीका अपमान न करे। और इस देह से किसी से वैर करना भी अच्छा नहीं है। क्रोध करनेवाले पर क्रोध, निन्दक की निन्दा न करे वरन कुशल वृत्तान्त उसका पूंछे। पांच इन्द्रियां, मन और बुद्धि इन सात द्वारों में विखरी हुई असत्य वाणी न बोले, किन्तु ईश्वर चिन्ता में लगा रहे। परब्रह्म के ध्यान में मग्न, योगासन से स्थित, ममता को छोड़कर, केवल अपनी सहायता से ही मोक्षसुख चाहता हुआ इस जगत् में विचरे ॥ ४७-४९ ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥५०॥
न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत् ॥ ५१ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥
अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिःस्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥
अलावुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुःस्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥५४॥

भूकम्प आदि उत्पात, ग्रह-नक्षत्र का फल, हाथकी रेखा, उपदेश या शास्त्रार्थ के वहाने भिक्षा की इच्छा न करनी। वानप्रस्थ, दूसरे कोई ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ता या भिखारियों से घिरे स्थान में

भिक्षा को न जावे । केश, नख और दाढ़ी मूंछों को मुड़ाकर, भिक्षा-पात्र, दण्ड, कमण्डलु और रंगे वस्त्रों के सहित, किसी को दुःख न देकर, नियम से विचरा करे । संन्यासी के पात्र, सोना, चांदी आदि धातु के न हों, उन पात्रों की पवित्रता यज्ञपात्रों की भांति जल से ही होती है । तुंबी, काठ, मिट्टी या बांस का पात्र संन्यासियों के लिए शास्त्र में लिखा है । इनको 'यतिपात्र' कहते हैं ॥ ५०-५४ ॥

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥
अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ५८ ॥

संन्यासी एकवार भिक्षा करे, अधिकवार भिक्षा न करे । क्योंकि अधिक भिक्षा से कामादि विषयों में मन लग जाता है । रसोई का धुंआ निकल गया हो, कूटना बंद हो चुका हो, आग बुझादी गई हो, सब भोजन करचुके हों, पात्र फेंक दिये हों तब भिक्षा करनी चाहिए । भिक्षा न मिलने पर खेद और मिलने पर आनन्द न माने, जीवनमात्र का उपाय करे । शब्द, स्पर्श आदि विषयों से रहित होवे । सत्कार के साथ मिली भिक्षाओं से घृणा करे, क्योंकि—ऐसी भिक्षाओं से मुक्त हुआ भी संन्यासी बन्धन में पड़ जाता है ॥ ५५-५८ ॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।

ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् ॥ ५९ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥
अवेक्षेत गतीर्नॄणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाप्रियैः।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

थोड़ा भोजन से, निर्जन में निवास से, विषयों में खिंची हुई इन्द्रियों को रोके। इन्द्रियों के रोक, राग-द्वेष के नाश और प्राणियों की हिंसा न करने से पुरुष मोक्ष के योग्य होता है। मनुष्य के कर्म दोषों से दुर्गति, नरक में पड़ना और यम-यातना आदि का विचार करे। पुत्र, स्त्री आदि प्रियजनों का वियोग, अप्रियों का समागम, वृद्धावस्था में तिरस्कार और रोगों से शरीरक्लेश यह सब निषिद्ध कर्मों का फल समझना चाहिए ॥ ५९-६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम्।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥
अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥
सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।

न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

इस देह से निकलना, फिर गर्भ में उत्पत्ति और लाखों योनियों में इस जीवात्मा का जाना, ये सब अपने कर्मफल हैं। अधर्म से दुःख में पड़ना और धर्म से अक्षय सुख-मोक्ष मिलना-इसका विचार करे। योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे। और उत्तम-अधम योनियों में शुभाशुभ फलभोगार्थ जीवों की उत्पत्ति का विचार करे। आश्रम के विरुद्ध कोई दोष भी लगे, तोभी जीवों पर समभाव रखकर, धर्माचरण करता रहे। क्योंकि दण्ड-कमण्डलु चिह्न धारण करना ही धर्माचरण नहीं कहलाता। निर्मली के फल का नाम लेने से ही जल निर्मल नहीं होता, उसको जल में छोड़ने से होता है। ऐसेही आश्रमचिह्न धारण से फल नहीं होता किन्तु आचरण से होता है ॥ ६३-६७ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥
अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत्॥६९॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

दिन या रात में, संन्यासी को भूमि में जीवों को बचाकर पैर रखना चाहिए। चाहे शरीर को दुःख भी मिले। जो यति चलता फिरता अनजान में, जीवों की हिंसा करता है, उस पाप के नाशार्थ स्नान करके छ प्राणायाम करना चाहिए। यदि ब्राह्मण प्रणव और व्याहृति से विधिपूर्वक तीन भी प्राणायाम करे तो भी उसको परम तप मानना चाहिए ॥ ६८-७० ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥७१॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥७२॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥७३॥
सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

जैसे सुवर्ण आदि धातुओं का मैल अग्नि में धौंकने से जल जाता है वैसेही प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष जलजाते हैं । प्राणायाम से दोषों को, ब्रह्म में मनकी धारणा से पाप को, इन्द्रियसंयम से विषयों को और ध्यान से काम, क्रोध, मोह आदि को जलावे । इस जीव की ऊंची, नीची योनियों में जन्मप्राप्ति का ध्यान योग से विचार करे, क्योंकि, जीवगति सब को ज्ञात नहीं होती । ब्रह्म साक्षात्कार करनेवाला पुरुष कर्मबन्धन में नहीं बँधता और जो उससे रहितहै वह जन्म-मरण के बन्धन में पड़ताहै ॥ ७१-७४॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, वैदिक कर्मानुष्ठान, व्रत आदि उग्र तपों से इस लोक में ब्रह्मपद का साधन होता है। यह शरीर हड्डी रूप खंभा में स्नायुरूप डोरियों से बँधा, मांस और रुधिर रूप गारा से लिपा चमड़ा से मढ़ा, मल-मूत्र और दुर्गन्धि से पूर्ण है। बुढ़ापा शोक, रोग, दुःख का घर है, रजोगुणी है, अनित्य है, पांच महाभूतों का निवासस्थान है, इससे ममता छोड़देनी चाहिए। जैसे नदीतट को वृक्ष छोड़ देता है, पक्षी वृक्ष को छोड़ देता है, वैसे संन्यासी इस देह की ममता छोड़ देवे तो कठिन संसारी ग्राह से छूट जाता है॥ ७५-७८॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥ ७९॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ ८०॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान् शनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ ८१॥
ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्।
नह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते॥ ८२॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष अपने प्रिय पुरुषों के ऊपर पुण्य और अप्रियों के ऊपर पाप त्यागकर, ध्यानयोग से सनातन ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। जब संन्यासी सब भांति निःस्पृह होजाता है, तब इस लोक में सुख पाता है और मरण के बाद मोक्षसुख को पाता है। इस रीति से धीरे धीरे संग को छोड़कर दुःखसुख से मुक्त होकर, ब्रह्म में ही स्थित होजाता है। यह जो धन, पुत्र आदि की ममता का त्याग कहा है, वह सब परमात्मा के ध्यान से ही होसकता है। जिसको आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं है वह ध्यानादि कर्मों का फल नहीं पाता है॥ ७९-८२॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्॥८३॥
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥८४॥
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परंब्रह्माधिगच्छति॥ ८५ ॥
एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत॥ ८६ ॥

यज्ञ, देवता और आत्मा के विषय में जो वेदमन्त्र हैं और वेदान्त (ब्रह्मज्ञान) प्रतिपादक जो मन्त्र हैं उनका सदा पाठ और जप विचार करे। यह वेद ज्ञानी, अज्ञानी और स्वर्ग, मोक्ष की इच्छावालों का भी शरण है अर्थात् वेद ही सर्वस्व है। इस क्रम से जो द्विज संन्यास धारण करता है, वह सब पापों से छूटकर, ब्रह्मभाव में लीन होजाता है। इस प्रकार, यह धर्म जितेन्द्रिय यतियों का कहा गया है अब वेद संन्यासी, अर्थात् जो चिह्न धारण गृहत्याग न करके ज्ञान सेही संन्यासी है उनका कर्मयोग सुनो॥ ८३-८६॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥ ८७॥
सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥ ८८॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि॥८९॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणःसर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ये चार अलग अलग आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हैं । ये चारों आश्रम नियम से सेवित हों तो उत्तमगति देनेवाले हैं । इन सब आश्रमों में वेद और स्मृतियों के अनुसार गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा गया है । क्योंकि यह तीनों का पालन करता है । जैसे सब नदी और नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं, वैसे सब आश्रमी गृहस्थ में आश्रम रखते हैं ॥ ८७-९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥
दशलक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्त्तन्ते ते यान्ति परमांगतिम् ॥ ९३ ॥

ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमवाले द्विजों को दशलक्षणवाले धर्म का सेवन यत्न से करना चाहिए । उनके लक्षण इस प्रकार हैं—१-धैर्य, २-क्षमा, ३-दम-मनको रोकना, ४-अस्तेय-चोरी न करना, ५-शौच-बाहर भीतरसे शुद्ध, ६-इन्द्रिय-निग्रह, ७-धी-शास्त्रज्ञान, ८-विद्या-ब्रह्मविद्या, ९-सत्य, १०-अक्रोध-क्रोध न करना । जो विप्र धर्म के दशलक्षणों को पढ़ते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं, वे परमगति को पातेहैं ॥ ९१-९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तविधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥
संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।

नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥
एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥
एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
षष्ठोऽध्यायः ॥

ऋषि, देव और पितरों के ऋण से मुक्त होकर, दशलक्षण धर्म का सेवन करता हुआ द्विज वेदान्त को सुनकर संन्यास धारण करे। सब अग्निहोत्रादि कर्मों को छोड़कर, पापों का प्राणायाम से नाश करके, जितेन्द्रिय होकर वेद का अध्ययन करे और पुत्रों के दिये भोजन, वस्त्रादि का सुख से उपभोग करे। इस प्रकार, सब कर्मों को छोड़कर, केवल आत्मसाक्षात्कार में तत्पर रहकर, संन्यास धारण करने से ब्रह्मपद को पहुँचता है। यह पवित्र और परलोक में अक्षय फल देनेवाला ब्राह्मण का चारों प्रकार का धर्म कहा गया है। अब राजधर्म को सुनो ॥ ९४–९७ ॥

छठवां अध्याय पूरा हुआ।

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नरः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥
अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

सातवां अध्याय ।

राजधर्म ।

जैसा राजा का आचरण होना चाहिए, जैसे उसकी उत्पत्ति हुई है, और जिस प्रकार उसको परम सिद्धि प्राप्त होती है वह सब कहा जाता है। उपनयन संस्कारवाले क्षत्रिय राजा को न्याया-

नुसार इस जगत् की रक्षा करनी चाहिए। इस जगत् में जब राजा नहीं था और प्रजा भय से व्याकुल होने लगी, तब परमात्मा ने जगत् की रक्षा के लिए राजा को उत्पन्न किया। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ लोकपालों के सनातन अंश को लेकर परमात्मा ने राजा बनाया है। इन लोकपालों की मात्रा से राजा बनाया गया है, इसलिए वह अपने तेज से सब प्राणियों को दबा देता है। राजा को जो देखता है उसके आँख और मन पर सूर्य का सा प्रभाव पड़ता है, इसलिए सामने होकर कोई राजा को देख नहीं सकता। राजा अपने प्रभाव में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र के समान है ॥ १-७ ॥

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥
एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ९ ॥
कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥
यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजमयो हि सः ॥ ११ ॥
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

राजा बालक हो तो भी यह मनुष्य है ऐसा मानकर उसका अपमान न करे। क्योंकि—यह मनुष्य रूप में बड़ाभारी देवता स्थित है। अग्नि एकही मनुष्य को उसकी असावधानी से जलाता है, पर राजारूप अग्नि कुचाल से कुल, धन और पशु सहित भस्म कर देता है। राजा देश, काल, कार्य और शक्ति को

ठीक ठीक विचार कर, अपने राजधर्म्म की सिद्धि के लिए अनेक रूप कभी क्षमा, कभी कोप, कभी मित्रता इत्यादि धारण करता है। जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में जय और क्रोध में मृत्यु का वास है, वह राजा सर्वतेजोमय है। उसके साथ अज्ञान से जो द्वेष करता है, वह निःसंदेह नष्ट होजाता है। क्योंकि उसके नाश का विचार शीघ्रही राजा मन में करता है॥ ८-१२॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥ १३॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ १४॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥ १५॥

इसलिए राजा अपने अनुकूल मित्र और शत्रु के लिए जिस धर्म क़ानून का स्थापन करे उसको कभी न तोड़ना चाहिए। प्रजापति ने राजा के लिए सब प्राणियों की रक्षा करनेवाले, ब्रह्मतेजमय, धर्मरूप और अपने पुत्ररूप दण्ड को पहले ही से पैदा किया है। दण्ड के भय से चराचर सब प्राणी अपने भोग को प्राप्त होते हैं और धर्म से विचलित नहीं होते॥ १३-१५॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥ १६॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ १७॥
दण्डो शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ १८॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९॥
यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान्बलवत्तराः॥ २०॥

देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार करके यथायोग्य अपराधियों को दण्ड देवे। वह दण्ड ही राजा है, पुरुष है, वही राज्य को नियम में रखनेवाला है, शासक है और वही चारों आश्रमधर्म का प्रतिभू-ज़ामिन है। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, सोते हुए दण्ड ही जागता है, विद्वान् लोग दण्ड को ही धर्म मानते हैं। उस दण्ड का विचारपूर्वक प्रयोग होने से वह सब प्रजा प्रसन्न करता है और अविचार से, सब तरह से नाशकारक होता है। यदि राजा निरालस होकर अपराधियों को दण्ड न दे तो काँटे में मछलियों की भांति बलवान्लोग निर्बलों को भून डालें॥ १६-२०॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्॥ २१॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते॥ २२॥
देवदानवगन्धर्वरक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः॥ २३॥

राजा दण्ड न करे तो कौआ पुरोडाश खा जायँ, कुत्ता यज्ञ बलि चाट जायँ, कोई किसी का स्वामी न हो सके और सब ऊंची नीची बातों का विचार भ्रष्ट हो जाय। पवित्र मन का पुरुष दुर्लभ है। सब लोग दण्डही से सन्मार्ग में रहते हैं और जगत् के वैभव को भोग सकते हैं। देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प

भी दण्डही से दबकर अपने भोग को भोग सकते हैं॥ २१-२३॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥ २४ ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥
तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ २८ ॥

दण्ड के विना सब वर्ण विरुद्धाचरण में प्रवृत्त हो जावें और चतुर्वर्गरूप पुल टूटजावे। और सबलोगों में उपद्रव हो जावे। जिस देश में श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, पापनाशक दण्ड विचरता है और राजा सब तरफ़ न्यायदृष्टि से देखता है, वहां प्रजा को दुःख नहीं होता। जो राजा उस दण्ड का उचित प्रयोग करता है वह अर्थ, धर्म और काम से वृद्धि पाता है। परन्तु कामी, क्षुद्रवृत्ति हो तो उस दण्ड से स्वयं नष्ट हो जाता है। वास्तव में दण्ड में बड़ा तेज है, उसका धारण साधारण राजा नहीं कर सकते हैं। धर्म से चलित राजा को यह कुटुम्ब सहित नष्ट कर देता है ॥ २४-२८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।

न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥
शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

उसके बाद किला, देश और चराचर जगत् का नाश करता है। अन्तरिक्षवासी देवता और मुनियों को भी पीड़ा पहुँचाता है। मन्त्री या सेना की सहायता से रहित, लोभी, मूर्ख, निर्बुद्धि, विषयासक्त राजा से वह दण्ड अर्थात् राजधर्म नहीं चल सकता। न्यायपूर्वक मिले धन से शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार बर्ताव करनेवाला बुद्धिमान् राजा, मन्त्री आदि की सहायता से दण्ड-विधान कर सकता है अर्थात् ऐसा राजा शिक्षा करने लायक़ होता है ॥ २९-३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः॥ ३२ ॥
एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥
अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥
स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

राजा को अपने राज्य में न्यायकारी और शत्रुओं को सदा दण्ड देनेवाला, हितैषियों से कुटिलता रहित और ब्राह्मणों पर क्षमावान् होना चाहिए। ऐसा बर्ताव करनेवाले, शिलोञ्छवृत्ति से भी जीते हुए राजा का यश लोक में जल में तेल की बूंद के समान फैलता है। विषयासक्त और उक्तरीति से विपरीत आचरण करनेवाले का यश पानी में घी के बूंद की भांति संकोच

को प्राप्त होता है। अपने अपने धर्म में चलनेवाले सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करनेवाला प्रजापति ने राजा उत्पन्न किया है॥ ३२-३५॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ३६॥
ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने॥ ३७॥
वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदःशुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते॥ ३८॥

इसलिए मन्त्रियों सहित राजा को प्रजारक्षा के लिए जो जो कर्म करने चाहिएं उनको क्रम से कहता हूं—राजा को प्रातःकाल उठकर तीनों वेदों में पारङ्गत, श्रेष्ठ, विद्वान्, ब्राह्मणों के साथ बैठना और उनकी आज्ञानुसार आचरण करना चाहिए। वेदज्ञ, पवित्र, वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा राजा करे, क्योंकि वृद्धसेवा में तत्पर राजा दुष्ट कुजीवों से भी सत्कार पूजा पाता है॥ ३६-३८॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्॥ ३९॥
बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥ ४०॥
वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदासो यवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥ ४१॥
पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥ ४२॥

शिक्षित राजा भी ऐसे योग्य ब्राह्मणों से नित्य विनय सीखे। क्योंकि विनीत राजाको कभी हानि नहीं पहुँचती। बहुत से राजा अविनय से धन सम्पत्ति सहित नष्ट होगये और बहुत से जङ्गल में रहकर भी अपने विनय से राज्य पागए हैं। राजा वेन, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख और निमि अपने अविनय-दुराचार से नष्ट होगये। पृथु और मनुने विनय से राज्य पाया। कुवेर ने धनाधिपत्य और विश्वामित्र ने ब्राह्मण्य को पाया ॥ ३९-४२ ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥
दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यन्तेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

वेदज्ञों से वेद, दण्डनीति, ब्रह्मविद्या को पढ़े। और अर्थशास्त्र वगैरह व्यवहार विद्या को पढ़े। इन्द्रियों को वश में रखने का सदा उद्योग करे क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है। काम से पैदाहुए दश और क्रोध से पैदाहुए आठ व्यसनों का कोई अन्त नहीं है इनसे राजा को यत्नपूर्वक बचना चाहिए। काम से पैदा व्यसनों में आसक्त राजा अर्थ और धर्म से हीन होजाता है और क्रोध से पैदाहुए व्यसनों में लग जाने से अपने शरीर से ही नष्ट होजाता है ॥ ४३-४६ ॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो दमः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ ४८॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥ ४९॥
पानमक्षास्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥ ५०॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥ ५१॥

शिकार, जुआ, दिन में सोना, दूसरे के दोषों को कहना, स्त्री-संभोग, मद्यपान, नाच, बाजा और व्यर्थ घूमना ये दश कामके व्यसन हैं अर्थात् काम से पैदा हुए हैं। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्षा, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, द्रव्य हरलेना, गाली देना, कठोरपन ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं। विद्वान् लोग इन दोनों प्रकार के दोषों का कारण लोभ कहते हैं, इसलिए लोभ को अवश्य छोड़ देना चाहिए। काम से पैदा व्यसनों में मद्यपान, जुआ, स्त्रीसंग और शिकार ये एक से एक बढ़कर दुःखदायी हैं। और क्रोध से पैदा व्यसनों में मारपीट, कठोर वचन, दूसरे की धनहानि करना ये तीन बड़े दुःखदायी हैं॥ ४७-५१॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान्॥ ५२॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः॥ ५३॥
मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥ ५४॥

इस प्रकार ये सात व्यसन और इनके सम्बन्धवाले व्यसनों में एक से दूसरा अधिक कष्टदायक है। मृत्यु से व्यसन अधिक कष्टदायक माना जाता है। व्यसनी पुरुष मरकर नरक में पड़ता है और जो व्यसन से दूर है, वह स्वर्गगामी होता है। परंपरा से राजसेवक, नीतिविद्या में चतुर, शूरवीर, अच्छा निशाना लगाने वाले, कुलीन और असमय में परीक्षित, सात या आठ मुख्य राजमंत्री रखना चाहिए॥ ५२-५४॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्॥ ५५॥
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ ५६॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥ ५७॥
सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्॥ ५८॥
नित्यं तस्मिन् समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत्॥ ५९॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान्॥ ६०॥

जबकि गृहस्थ का एक छोटासा भी काम एक पुरुष को करना कठिन पड़ता है तब बड़ा भारी राजकार्य बिना सहाय अकेला राजा कैसे कर सकता है? उन मन्त्रियों के साथ साधारण संधि-विग्रह की सलाह और दण्ड, पुर, राष्ट्र, स्थान आदि का विचार करे। द्रव्य मिलने के उपाय, धनरक्षा, देशरक्षा आदि का भी परामर्श करे। उन मन्त्रियों की अलग अलग सलाह लेकर जो अपना हित-

कर कार्य हो वह करे । उन मन्त्रियों में विद्वान्, धार्मिक ब्राह्मण मन्त्री के साथ संधि, विग्रह आदि छः गुणोंवाला विचार करे। विश्वास के साथ उस मंत्रीपर, सब कामों का भार रक्खे और उसके साथ सम्मति लेकर कार्य करे । पवित्र, बुद्धिमान्, स्थिर-स्वभाव, सन्मार्ग से धन लानेवाले, परीक्षा किये हुए और भी मन्त्रियों को रक्खे ॥ ५५-६० ॥

निवर्तेतास्य यावद्भिरिति कर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

जितने मनुष्यों से पूरा काम निकले, उतने निरालस बुद्धिमान् राजकर्मचारियों की भरती करे । उनमें शूर, चतुर, कुलीन को ख़ज़ाने के काम में नियुक्त करे, और डरपोकों को महलों के भीतर नियुक्त करे ॥ ६१-६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥
अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥
स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।

आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

और दूत उसको रक्खे जो बहुश्रुत हो और हृदय के भाव, आकार, चेष्टाओं को जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध, चतुर और कुलीन हो। शत्रु का भी प्रेमपात्र, आचारपवित्र, कार्यकुशल, पूर्वापर बातों का स्मरण रखनेवाला, देश-कालज्ञाता, सुन्दर, निर्भय और वाचाल राजा का दूत प्रशंसा के लायक होता है। मन्त्री के अधीन दण्ड और दण्ड के अधीन शिक्षा है। राजा के अधीन देश और खज़ाना है और दूत के अधीन मेल वा विगाड़ रहता है। दूत ही आपस के शत्रुओं को मिलाता है और मिले हुए को अलगाता है। दूत वह काम करता है जिससे मनुष्य लड़कर जुदा होजाते हैं। दूत शत्रु के आकार, मनोभाव, और चेष्टाओं से उस के छिपे अभिप्राय को जाने। दूत द्वारा शत्रु की सब चालों को ठीक ठीक जानकर, राजा ऐसा उपाय करे, जिससे वह शत्रु राजा कोई पीड़ा न देसके ॥ ६३-६८ ॥

जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥
धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम् ॥ ७० ॥

जहां जङ्गल हो, खेती अच्छी हो, शिष्ट पुरुष बसते हों, रोगादि उपद्रवों से रहित हो, देखने में सुन्दर हो, आसपास के मनुष्य अदब रखते हों, ऐसे स्वाधीन देश में राजा को रहना चाहिए। धनुदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग वा गिरिदुर्ग इन दुर्ग-क़िलाओं में किसीके आश्रय में नगर बसाना चाहिए ॥ ६९-७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।

एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥
त्रीण्याद्यान्याश्रितास्तेषां मृगगर्ताश्रयाप्चराः ।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥
यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥
तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

इन दुर्गों में गिरिदुर्ग श्रेष्ठ है । इसलिए सब यत्नों से उसका आश्रय ठीक है। उक्त दुर्गों में प्रथम तीन में क्रम से मृग, चूहा और नाक रहते हैं। बाक़ी तीनों में वानर, मनुष्य और देवता निवास करते हैं। जैसे इन दुर्गों में रहनेवाले मृगादि को कोई हिंसक नहीं मार सकते, ऐसे ही गिरिदुर्ग का आश्रय करनेवाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते हैं। क़िले के भीतर रहनेवाला एक धनुर्धर सौ योद्धाओं से लड़ सकता है और सौ धनुर्धर दश हज़ार के साथ लड़ सकते हैं । इसीसे क़िला बनाया जाता है । वह क़िला हथियार, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पविशारद, यन्त्र-कल, घास और जव से परिपूर्ण रक्खे। उस क़िले के बीच में, प्रयोजन भर के लिए एक मकान बनावे, जो सब ऋतुओं के फल-पुष्प युक्त, सफ़ेदी किया हुआ, जल और वृक्षों के सहित हो ॥ ७१-७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।

कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥
पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम् ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥

उस मकान-महल में रहकर राजा, अपने वर्ण की, कुलीन मनोहारिणी, रूपवती, गुणवती कन्या का विवाह करे। और शान्तिक, पौष्टिक कर्म करनेवाला पुरोहित और ऋत्विज का वरण करे जो अग्निहोत्रादि कर्म करें ॥ ७७-७८ ॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान् धनानि च॥७९॥
सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥
अध्यक्षान् विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥
न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥

राजा, बहुत दक्षिणावाले अनेक यज्ञों को करे और धर्म के लिए ब्राह्मणों को नाना विधि दान-दक्षिणा देवे। किसी विश्वासपात्र मनुष्य के द्वारा साल में राजकर का संग्रह करावे, प्रजा में नीति से वर्ताव करे और पिता के समान स्नेह करे। नाना प्रकार के कामों को जानने वाले पुरुष, अलग अलग कामों पर अध्यक्ष-अफ़सर नियुक्त करे। जो राजा के सब कार्यकर्त्ताओं पर निगरानी रक्खें।

गुरुकुल से विद्या पढ़कर लौटे हुए ब्राह्मणों का पूजन करे, क्योंकि इससे राजाओं को अक्षय ब्रह्म प्राप्ति होती है ॥ ७९-८२ ॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥
सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥
पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च।
अल्पं वा बहु वा प्रेक्ष्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

इस अक्षय निधि को चोर नहीं चुराते, शत्रु नहीं छीन सकते। खोया नहीं जासकता। इसलिए राजा, ब्राह्मणों में उस अक्षयनिधि का स्थापन करे। अग्नि में जो हवन किया जाता है वह कभी गिर जाता है, कभी सूख जाता है, कभी नष्ट होजाता है; पर गुरुकुल से आये ब्राह्मण के मुख में जो हवन किया जाता है वह अग्निहोत्रादि से भी श्रेष्ठ है। ब्राह्मण के सिवा दूसरी जाति को दिया दान, मध्यम फलदायक होता है। जो अपने को ब्राह्मण कहता है उसको दिया दान दोगुना फल, पठित ब्राह्मण को दिया लाखगुना, और वेदविशारद ब्राह्मण को दिया दान अनन्त फलदायक होता है। पात्र की योग्यता और श्रद्धा की न्यूनाधिकता के अनुसार दाता को दान का फल मिलता है ॥ ८४-८६ ॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।

युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥
न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

अपने समान, उत्तम, या अधम राजा यदि रण-निमन्त्रण देवे तो क्षत्रियधर्म के अनुसार राजा को पीछे पैर न रखना चाहिए । संग्राम से न हटना, प्रजापालन, ब्राह्मणों की सेवा ये सब राजाओं का परम कल्याण करनेवाला है। जो राजा संग्राम में आपस में खूब युद्ध करते हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं। रण में, कूट-छिपे अस्त्रों से, कर्णी बाण जो चुभ जानेपर नहीं निकलता, ज़हर के बुझे और आग के जले अस्त्रों से शत्रु को न मारे। ज़मीन में खड़े हुए शत्रु को, नपुंसक को, हाथ जोड़ने वाले को न मारे । खुले बालोंवाले को, बैठे को, और जो कहे-'मैं तुम्हारा हूं' उसको न मारे । सोते हुए को, टूटे कवचवाले को, नंगे को, शस्त्रहीन को, युद्ध न करनेवाले को, संग्राम देखते हुए को और दूसरे शत्रु से लड़ते हुए को न मारे ॥ ८७-९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

टूटे शस्त्रवाले को, पुत्रादि शोक से दुःखी को, बहुत घाववाले को डरपोक को, भागनेवाले को भी न मारना । जो युद्ध से डरकर

पीछे भगता है और शत्रु उसको मार डालते हैं, वह अपने राजा का सब पाप पाता है ॥ ९३-९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥
एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

जो लड़ाई से भगा हुआ मारा जाता है, उसके पुण्य का भाग सब स्वामी को मिलता है। युद्ध में रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्री और सब भांति के पदार्थ जो जिसको जीते, वह उसका है। जीते पदार्थों में सोना, चांदी आदि उत्तम पदार्थ राजा को अर्पण करे-ऐसी वेद की श्रुति है। और साथ में जीती वस्तु, हिस्सा माफ़िक़, राजा सब योधाओं को बांट देवे। यह सनातन, अनिन्दित, शुद्ध योधाओं का धर्म कहा गया है। संग्राम में क्षत्रिय को इन धर्मों से च्युत न होना चाहिए ॥ ९५-९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥
एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।

रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥
नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥

जो पदार्थ नहीं मिला है उसके लेने की इच्छा, मिले हुए की रक्षा करे। जो रक्षित है, उसको बढ़ावे और बढ़े पदार्थ सुपात्रों को देय। यह चार प्रकार का पुरुषार्थ है। आलस्य छोड़ कर, नित्य भली भांति इसका अनुष्ठान किया करे। जो नहीं प्राप्त है, उसको दण्ड-सेना से जीतने की इच्छा करे, प्राप्त वस्तु की देख भाल से रक्षा करे, रक्षित का व्यापार-उद्यम से वृद्धि करे और बढ़ी वस्तु शास्त्रानुसार, सुपात्र को देवे। राजा अपराधियों के लिए दण्ड उद्यत रक्खे, पुरुषार्थ को ठीक रक्खे, अपने अर्थों को गुप्त रक्खे और शत्रु के छिद्रों को देखा करे ॥ ६६-१०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥
अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥
नास्यच्छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

सदा उद्यत दण्डवाले राजा से, सारा जगत् डरता है। इसलिए दण्ड ही से सब प्राणियों को स्वाधीन रक्खे। छल से कोई व्यवहार न करे। अपनी रक्षा करता रहे और शत्रु के छलों को जानता रहे। ऐसा उपाय करे जिसमें अपना छिद्र-दोष शत्रु न जाने। परन्तु शत्रु

के छिद्रों को खुद जाने । राजा, कछवे के समान राजकीय अङ्गों को छिपा रक्खे, जिससे अपना छिद्र न ज़ाहिर होवे। बगला की भांति एकचित्त होकर, राजकार्यों का विचार करे। सिंह के समान शत्रुओं से पराक्रम रक्खे, भेड़िये के समान मौक़ा पाकर शत्रुक्षय करे। और ख़रगोश के समान, आपत्तियों से भग जावे ॥ १०३-१०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांञ्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥
सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

इस प्रकार विजय करनेवाले राजा के जो शत्रु हों उनको साम-दाम-भेद से अपने वश में करे। यदि पहले तीन उपायों से शत्रु वश में न हो तो, उनको दण्ड द्वारा, धीरे धीरे अधीन करे। विचार-वान् पुरुष साम, दाम, भेद, दण्ड इन चार उपायों में, राज्यवृद्धि के लिए साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं। जैसे खेत निराने वाला घास उखाड़ कर अन्न की रक्षा करता है, वैसे, राजा चोर, लुटेरों का नाश करे, राष्ट्र की रक्षा करे ॥ १०७-११० ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥
शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥

जो राजा, अज्ञानवश विना विचार, अपने राज्य को दुःख देता है वह शीघ्र ही राज्य, जीवन और बान्धवों से भ्रष्ट होजाता है। जैसे शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण घटते हैं, वैसे, राष्ट्र को दुःख देने से, राजाओं के भी प्राण घटते हैं। राजा देश की रक्षा के लिए, ऊपर कहे उपायों को करे क्योंकि–राज्यरक्षा से राजा की सुखवृद्धि होती है ॥ १११–११३ ॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥
यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

दो, तीन, पांच या सौ ग्रामों के बीच में, रक्षा करनेवाले पुरुषों का एक महकमा क़ायम करे। एक गाँव का, दश का, बीस का, सौ का और हज़ार गाँव का एक एक अधिपति नियत करे। गाँव का मालिक गाँव के बखेड़ों को धीरे से जानकर उसका फ़ैसला करदे, या दश गाँव के मालिक को सूचित करदे, या वह बीस गाँव के मालिक को इत्तला करदे इत्यादि। जो अन्न, ईंधन वग़ैरह राजा को देनेवाले

पदार्थ हैं उनको वहां नियुक्त राजपुरुष ग्रहण करे । अर्थात् सब वस्तुओं का संग्रह करके राजस्थानको पहुँचाया करे ॥ ११४-११८॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिःपुरम् ॥ ११९ ॥
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥१२०॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥ १२१॥
स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥ १२३।

दश गाँव का अधिपति एक कुल-दो हल से जोतने योग्य ज़मीन, अपने निर्वाह के लिए काम में लावे। बीस गाँव का पाँच कुल, सौ गाँव का एक साधारण गाँव और हज़ार गाँव का मालिक एक नगर को अपनी जीविका में भोगे । राजा के गाँवों के कार्य और दूसरे कार्यों को भी, एक मन्त्री, जो सर्वप्रिय हो, वह निरालस होकर देखे। प्रत्येक नगर में एक एक अध्यक्ष जो बड़े पद पर हो, तेजस्वी हो, उसको क़ायम करे। वह सदा ग्रामाधिपतियों के कार्यों को जाँचे और दूतों से उनके आचरणों को भी जान रक्खे। क्योंकि रक्षाधिकारी राजपुरुष, प्रायः दूसरों के धन हरनेवाले, वञ्चक होते हैं। राजा उनसे प्रजा की रक्षा करे॥ ११९-१२३॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानकर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥
पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः १२६॥

और जो पापी पुरुष, रिशवत आदि ही लिया करते हैं उनको, सब कुछ छीनकर, राजा देश से निकाल देवे । कार्यों में लगे स्त्री और पुरुषों को उनके कर्म के अनुसार सदा वृत्ति नियत करे अर्थात् कभी तनख़्वाह बढ़ावे कभी घटावे । निकृष्ट नौकर को एक पण देवे और छ महीने में दो कपड़े और एक महीने में द्रोण भर अन्न देवे । उत्तम कार्यवालों को छ गुना देवे । मध्यम नौकर को मध्यम श्रेणि का सब पदार्थ देवे ॥ १२४–१२६ ॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥
यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥
यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥१२९॥
पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ १३० ॥
आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणो वैदलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥१३२॥

बेंचना, ख़रीदना, रास्ता का खर्च, रक्षा का खर्च और उनके निर्वाह को देखकर राजा, व्यापारियों से कर (टैक्स) लेवे। उद्यमियों को और राज्य को जिससे नफ़ा पहुँचे ऐसा विचारकर, कर लगाना उचित है। जैसे जोंक, बछड़ा और भौंरा धीरे धीरे अपनी खुराक़ को खींचते हैं वैसे राजा भी राष्ट्र से थोड़ा थोड़ा सालाना कर लेय। पशु और सोना के लाभ का पचासवां भाग, अन्नों के लाभ से छठां, आठवाँ या बारहवाँ भाग कर लेवे। वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, औषध, रस, फूल, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, चमड़ा, कांस, मिट्टी, पत्थर के पात्र, इन सबके लाभों में से छठा भाग कर लेय ॥१२७-१३२॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥
यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

राजा धन की कमी से दुःखी भी हो तो भी श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर न लेय और उसके राज्य में श्रोत्रिय ब्राह्मण भूखों न मरना चाहिए। अर्थात् उसकी परवरिश रहा करे। जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित होता है, उस राजा का राज्य थोड़े ही दिनों में उसकी भूख से नष्ट होजाता है ॥ १३३-१३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम्।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥
यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत् करसंज्ञितम्।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥

कारुकांश्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः॥ १३८॥
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनोमूलमात्मानंतांश्चपीडयेत्॥१३९॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः॥ १४०॥

राजा, इस श्रोत्रिय के वेदाध्ययन और सदाचार को जानकर कोई धर्मविषय की जीविका बाँध दे और पिता जैसे पुत्र की रक्षा करता है वैसे ही रक्षा करे। क्योंकि राजा से रक्षित श्रोत्रिय के धर्म-पालन से राजा का आयुर्बल, द्रव्य और राज्य बढ़ता है। अपने राज्य में, व्यापारवाले से भी कुछ सालाना कर दिलावे। लोहार, बढ़ई, आदि और दासों से महीने में एक एक दिन बेगार में काम करावे। प्रजा के स्नेह से अपना कर न लेना अपना मूलच्छेद करना है और लोभ से ज्यादा कर लेना प्रजाको सताना है, इसलिए राजा ऐसा काम कभी न करे जिसमें राज्य और प्रजा दोनों को कष्ट उठाना पड़े। राजा को कभी तीखा और कभी सीधा स्वभाव रखने से उसको सब मानते हैं॥ १३५-१४०॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्॥ १४१॥

राजा खुद, राज्य के कार्यों को और दूसरे के कामों को देखने में किसी कारण से असमर्थ हो तो, चतुर, धर्मात्मा, कुलीन प्रधान मन्त्री को अपने न्यायासन पर, काम देखने के लिए नियुक्त कर देवे॥ १४१॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥ १४२॥

त्रिक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्रान् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥
क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

अपने सब कर्तव्यों को इस तरह पूरा कर के, प्रमाद-रहित और कार्यपरायण होकर अपनी प्रजा की रक्षा करे । राजा और उसके कर्मचा[illegible]र्यों के देखते यदि चोर, लुटेरे प्रजा को लूट पाट से दुःख प[illegible], तो वह राजा मरा सा है, जीता नहीं है । प्रजा का [illegible]करना ही क्षत्रिय का मुख्य धर्म है । इसलिए अपने धर्म ही से [illegible]को फल भोग करना उचित है ॥ १४२-१४४ ॥

[illegible]य पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
[illegible]नब्राह्मणांश्चार्च्यप्रविशेत्सशुभांसभाम्॥ १४५॥
[illegible]स्थतः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः॥ १४६॥
गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥
यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
सकृत्स्नां पृथिवींभुङ्क्तेकोशहीनोऽपि पार्थिवः॥ १४८॥
जडमूकान्धबधिरान्तिर्यग्योनान्वयोऽतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् । १४९॥

राजा बड़े तड़के उठकर, शौच से निपटकर, एकाग्र चित्त होकर अग्निहोत्र और ब्राह्मणसत्कार करके, राजसभा में प्रवेश करे । वहां दर्शकों को प्रीतिपूर्वक पहले विदा करके फिर मन्त्रियों के साथ

राजकाज का विचार करे। पर्वत पर या महल में जाकर, एकान्त में वा वृक्षरहित वन में, जहाँ भेद लेनेवाले दूत न पहुँच सकें, वहाँ मन्त्रणा करे। जिस राजा के मन्त्र को दूसरे लोग मिले रहने पर भी नहीं जान सकते, वह धन-सम्पत्ति के न होते भी संपूर्ण पृथिवी को भोगता है। मूर्ख, गूँगा, अंधा, बहिरा, तोता-मैना आदि पक्षी, बूढ़े, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, और अङ्गहीनों को, सलाह के समय हटा देवे। प्रायः ये लोग गुप्त बातों को प्रकट कर दिया करते हैं॥ १४५-१४९॥

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत्॥ १५०॥
मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा॥ १५१॥
परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ १५२॥
दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम्॥ १५३॥
कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च॥ १५४॥
मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः॥ १५५॥
एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः॥१५६॥
अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।

प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

मूर्ख वग़ैरह, तोता, मैना और स्त्रियाँ प्रायः गुप्त सम्मति को प्रकाशित कर देती हैं इसलिए इन लोगों को धीरे से हटा देना चाहिए। दोपहर या आधी रात को विश्राम करके, मन्त्रियों के साथ या अकेलाही धर्म-अर्थ-काम का विचार करे। यदि धर्म, अर्थ,काम का परस्पर विरोध हो तो उनको मिटाकर अर्थोपार्जन, कन्यादान, पुत्रों की रक्षा और शिक्षा की चिन्ता करे। परराज्य में दूत भेजना, बाक़ी कामों का, अन्तःपुर का और प्रतिनिधियों के काम का विचार करे। आठ प्रकार के सब काम * और पञ्चवर्ग † का खूब विचार करे। मन्त्री आदि की प्रीति-अप्रीति, शत्रु, मित्र-उदासीन आदि राजमण्डल पर विशेष ध्यान रक्खे। अपने से मध्यम बलवाले राजा के बर्ताव, जीतने की इच्छा रखनेवाले की चेष्टा, उदासीन और शत्रु राजा के वृत्तान्तों को यत्न से जानता रहे। ये मध्यम आदि चार प्रकृतियां मण्डल का मूल मानी जाती हैं और जो आठ हैं, वे सब मिलकर बारह ‡ होती हैं। मंत्री, देश, क़िला, धनभण्डार, और दण्ड ये पांच प्रकृतियां और भी हैं। ये बारहों की अलग अलग होती हैं, यों सब मिलाकर संक्षेप में बहत्तर प्रकृतियां हुईं॥१५०-१५७॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥
तान् सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

---

* कर आदि की आय, नौकरी में व्यय, नौकरों की चाल, विरुद्ध कार्यों को रोकना, मिथ्या व्यवहार रोकना, धर्मव्यवहार देखना, दण्ड देना, प्रायश्चित्त कराना, ये आठ कर्म हैं।

† कापटिक, उदासीन, वैदेह, गृहपति, तापस, ये पाँच वर्ग हैं।

‡ विजिगीषु, अरि, अरिसेवित, अरिमित्र, पार्ष्णिग्राह, पार्ष्णिग्राहासार, मित्र, मित्र का मित्र, आक्रन्द, आक्रन्दासार, मध्यम और उदासीन।

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥
आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

अपनी सीमा के पास रहनेवाले और शत्रु से मेल रखनेवाले राजा को शत्रु समझना चाहिए। शत्रु की सीमावाले राजा को मित्र और मित्र राजा की सीमावाले को उदासीन जाने। इन सब को सामादि उपायों से या एक ही से वा सब उपायों से अथवा पुरुषार्थ से, या राजनीति ही से वश में करे। मेल, लड़ाई, चढ़ाई, क़िले में रहना, अपनी सेना के दो भाग करना और अपने से बली राजा का आश्रय लेना, इन छः गुणों का नित्य विचार करे। आसन, यान, संधि, विग्रह, द्वैध और आश्रय इन गुणों को अवसर देख कर जब जैसा मौक़ा आवे तब तैसा काम करना चाहिए॥ १५८—१६१ ॥

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥
समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।
तदा त्वायातिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥
स्वयं कृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥
एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

संधि, विग्रह दो दो प्रकार के हैं। आसन, यान संश्रय भी दो दो प्रकार के हैं। वर्तमान या भविष्य में लाभ के लिए, मित्र राजा

से मिल कर दूसरे के ऊपर चढ़ाई का नाम 'समानकर्मा सन्धि' है। हम इसके ऊपर चढ़ाई करेंगे, तुम दूसरे पर करो ऐसी राय को 'असमानकर्मा सन्धि' कहते हैं। शत्रुपराजय के लिए उचित या अनुचित काल में खुद लड़ाई करना एक, अपने मित्र के अपकार होने से, उसकी रक्षा के लिए लड़ाई करना दूसरा, ये दो भांति के विग्रह होते हैं। दैवयोग से, बहुत आवश्यक पड़ जाने पर अकेले या मित्र से मिलकर, शत्रु के ऊपर चढ़ाई करना ये दो प्रकार की चढ़ाइयां कहलाती हैं॥ १६२—१६५॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ १६६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥ १६७॥
अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ १६८॥

पूर्वजन्म के पाप से या यहीं के कुकर्मों से, धन आदि से हीन राजा का चुप मार कर बैठना, अथवा सामर्थ्य होते भी किसी मित्र के कहने से चुपचाप बैठा रहना, ये दो आसन कहलाते हैं। कार्यसिद्धि के लिए कुछ सेना को एक जगह और कुछ सेना के साथ राजा क़िले में रहे, यह दो प्रकार का द्वैध, गुणज्ञों ने कहा है। शत्रुओं से पीड़ित राजा के संकट दूर करने के लिए अथवा सत्पुरुषों को जनाने के लिए बली राजा का आश्रय लेना, यह दो प्रकार का संश्रय कहलाता है॥ १६६–१६८॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत्॥१६९॥
यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।

अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥
यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥ १७१ ॥
यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्॥ १७२ ॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्यमात्मनः॥१७३॥

जब भविष्य में अपनी उन्नति की आशा हो तब शत्रु से कुछ पीड़ित होकर भी सन्धि कर लेवे। जब अपने राजमण्डल को खूब प्रसन्न जाने और अपनी शक्ति को पूर्ण देखे, तब वैरी के साथ युद्ध करे। जब अपनी सेना को मन से प्रसन्न, हृष्ट-पुष्ट समझे और शत्रु की सेना को साधारण दशा में जाने, तब युद्ध की तैयारी करे। जब हाथी, घोड़ा आदि वाहन और सेना से क्षीण हो तब यत्नपूर्वक शान्ति से, शत्रु को समझा कर शान्त होकर रहे अर्थात् लड़ाई में न लगे। और जब, राजा अपने शत्रु को सर्वथा बलवान् जाने, तब आधी सेना लड़ाई पर भेज दे और आधी अपने साथ में रखकर कार्यसाधन में लगे॥ १६९-१७३॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ १७४ ॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा॥ १७५ ॥
यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत्॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१७७॥
आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं न विचारयेत् ।
आयतीनां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८॥
आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

और जब कि शत्रु के आधीन अपने को होता देखे तब झट-पट धार्मिक और बलवान् राजा की शरण लेवे । जो दुष्ट मन्त्रि-मण्डल आदि और शत्रुसेना को दबा सकता हो उस राजा की, गुरु के समान, नित्य सेवा करे । और यदि उस आश्रयवाले राजा से धोखा जाने तो निडर होकर युद्ध ही करे । नीतिवेत्ता राजा को सब भांति से ऐसा वर्त्ताव करना चाहिए जिससे उसके मित्र, उदासीन और शत्रु राजा बलवान् न हो जावें । सम्पूर्ण कार्यों की वर्तमान, भूत और भविष्य स्थिति और उनके गुण-दोषों का विचार किया करे । जो राजा कार्यों के भविष्य शुभाशुभ परिणाम को जानता है,वर्तमान कार्य का शीघ्र निश्चय कर लेता है और बाक़ी कामों को ज़ानता है, उसका शत्रु कुछ नहीं कर सकते ॥१७४-१७९॥

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ १८० ॥
यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।
तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥

जिस प्रकार मित्र, उदासीन और वैरी राजा अपने को पीड़ा न दे सकें वैसे उपायों को करता रहे, यह नीति है। और जब किसी वैरी के देश पर चढ़ाई करनी हो तो नीचे लिखी विधि से धीरे धीरे यात्रा करे ॥ १८०-१८१ ॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥१८२॥
अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥
कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग् विधाय च ॥१८४॥
संशोध्यं त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥
शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

राजा अपनी सेना के बलाबल का विचार करके, शुभ अगहन या फागुन के महीने में या चैत में, शत्रु के ऊपर चढ़ाई करे। इसके सिवा दूसरे समय में भी अगर अपनी जीत देखे तब, अथवा जब शत्रु किसी विपत्ति में फँसा हो तब चढ़ाई करे। अपने नगर की रक्षा का प्रबन्ध करके, गुप्तदूतों को भेजकर, ऊंचा, नीचा और सम मार्ग को साफ़ कराकर छः प्रकार की सेना * को ठीक करके सम्पूर्ण युद्ध-सामग्री को साथ लेकर, धीरे से शत्रु के नगर को जावे। जो मित्र छिप कर शत्रु से मिला हो, जो पहले छुड़ाया नौकर फिर आया हो, इनसे सावधान रहे, क्योंकि ये दोनों दुःखदायक वैरी हैं ॥ १८२-१८६ ॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।

---

* छः प्रकार के बलः—हाथीसवार, घोड़ासवार, रथसवार, पैदल, खजाना और नौकर चाकर।

वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥
यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥

राजा, दण्डव्यूह † से मार्ग में चले अथवा शकट, वराह, मकर, सूई, गरुड़ के तुल्य आकार वाले व्यूहों में, जहां जैसा देखे वैसी यात्रा करे। जिस तरफ़ डर जाने, उधर सेना बढ़ावे और खुद पद्माकार व्यूह में सदा रहे। सेनापति और सेनानायकों को सब दिशाओं में नियुक्त करे और जिस दिशा में भय समझे उसे पूर्वदिशा मान लेवे ॥ १८७-१८९ ॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः ।
स्थानयुद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥ १९० ॥
संहतान्योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥
स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥
कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान् शूरसेनजान् ।
दीर्घाँल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥

---

† दण्डा के समान फ़ौज रखना, दण्डव्यूह ऐसे ही शकटव्यूह वगैरह। ऐसी व्यूहरचना में आगे सेनापति, बीच में राजा, पीछे, सेनापति, दोनों बगल हाथी, उनके पास घोड़े और उनके आसपास में पैदल, इस तरह लम्बा जमाव दण्डव्यूह कहा जाता है।

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ १६४ ॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १६५ ॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १६६ ॥
उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १६७ ॥

कुछ सेना का हिस्सा, चतुर पुरुष की अध्यक्षता में चारों तरफ़ से नियत करे और उनमें बाजा वग़ैरह का संकेत कर ले जिसमें समय समय पर, हालात मिला करें। योधा कमती हों तो इकट्ठे करके युद्ध करावे, अधिक हों तो मनमानी, चारों तरफ़ फैलाकर, सूई के आकार के व्यूह से लड़ावे । समभूमि में रथ घोड़ों से, जल में नावों से, हाथियों से, वृक्ष आदि की झाड़ियों में बाणों से और स्थल में, ढाल तलवार वग़ैरह से युद्ध करे। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेन आदि देशों के ऊंचे और ठिंगने मनुष्यों को सेना के आगे रक्खे। सेना को किसी रचना से खड़ी करके उत्साह दिलावे और क्या क्या करने से खुशी या नाखुश होंगे इन बातों की परीक्षा करे और शत्रुओं के मुक़ाबले दिल से लड़ते हैं या नहीं यह चेष्टाओं से जान लेवे। शत्रु लड़े या न लड़े पर उसके देश को नष्ट कर के वहाँ का अन्न, जल, चारा, ईंधन आदि उजाड़ देवे । तालाब, क़िला, खाँइयों को तोड़ दे, शत्रु पर हमला करे और रात में अनेक आवाज़ों से उसको डरा देवे । उसके मन्त्री आदि जो फूट सकें उनको लालच देकर मिलाले, उनसे शत्रु की कुल हालतें जाने । और समय अनुकूल आवे, तो निडर होकर, युद्ध करे ॥ १६०-१६७ ॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥
त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे।
तथा युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून् यथा ॥ २०० ॥
जित्वा संपूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥
सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥
प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्मान् यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥
आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥
सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

राजा साम, दान और भेद इन तीनों से या एकही किसी से शत्रु के जीतने का उपाय करे। पर जहांतक होसके युद्ध का उद्योग न करे। युद्ध में लड़नेवालों की हार वा जीत कोई निश्चित नहीं देखने में आती, कभी कोई कभी कोई, इसलिए युद्ध न करे। जब उक्त तीनों उपायों से शत्रु को जीतने का भरोसा न हो तभी युद्ध का उपाय पूरीतौर से करना उचित है जिसमें वह अधीन होजाय। युद्ध में विजय पाने पर देवता, ब्राह्मणों की पूजा करे। जीती

प्रजाओं का भूमि कर कम करे और यह ढिंढोरा पिटावे कि जिन्होंने हमारे साथ बुरा बर्ताव किया है उन्हें भी अभय दिया गया। जीते राजा और मंत्री का अभिप्राय जानकर, उसी के वंशवाले को गद्दी देकर अपनी शर्तें पक्की कर लेवे। और उनके धर्मों को—रिवाजों को माने, रत्नों से मंत्री आदि के साथ उसका सत्कार करे अर्थात्—खिलत देवे। यद्यपि किसी की प्रिय वस्तु ले लेना अप्रिय और देना प्रिय होता है तौभी समयानुसार लेना और देना दोनों अच्छा माना जाता है। ये सब कर्म दैव और मनुष्य के पुरुषार्थ के अधीन हैं। इन में दैव का निर्णय अशक्य है परन्तु पुरुषार्थ से कार्य किया जाता है। अर्थात् मनुष्य-साध्य-कार्य में पुरुषार्थ प्रधान माना जाता है ॥ १९८—२०५ ॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६॥
पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥
हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥

अथवा राजा मित्रता या कुछ द्रव्य या भूमि शत्रु से पाकर सुलह करके लौट आवे अर्थात् इन पदार्थों को देना शत्रु मंजूर करे तो लेकर सुलह कर ले। जो विजय करते हुए राजा के पीछे दूसरा राजा दबाकर चढ़ आवे उसको 'पार्ष्णिग्राह' कहते हैं और जो उसको इस काम से रोके उसे 'क्रन्द' कहते हैं। इन दोनों को देखकर, मित्र या अमित्र से यात्रा का फल ग्रहण करे। (ऐसा न करे जिसमें ये दोनों विगड़ जावें) राजा सुवर्ण और भूमि को पाकर वैसा नहीं बढ़ता, जैसा दुर्बल भी स्थिर मित्र को पाकर बढ़ता है ॥ २०६—२०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥
आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥
क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥
आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त, प्रीति करनेवाला, स्थिर कार्य का आरम्भ करनेवाला, छोटा मित्र अच्छा होता है । बुद्धिमान्, कुलीन, शूर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्यवान् शत्रु को लोग कठिन कहते हैं । सभ्यता, पुरुषों की पहिचान, शूरता, दयालुता और उदारता ये सब उदासीन राजा के गुण हैं । कल्याण करनेवाली, संपूर्ण धान्यों को देनेवाली और पशुवृद्धि करनेवाली भूमि को भी राजा अपने प्राणों की रक्षा के लिए विना विचार किये छोड़ देवे । आपत्ति दूर करने के लिए धन की रक्षा करे, धन से स्त्रियों की रक्षा करे और धन, स्त्री से भी अपने शरीर की रक्षा करे ॥ २०६—२१३ ॥

॥ २२६ ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो ...यां संहितायां
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान् सृ... ॥
उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्न... अपना नित्यकर्म यथावत
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्ध... संपूर्ण राज्यकार्यों का स्वयं
... होजाय तो अपने अधिका...
एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य ...२५—२२६ ॥
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तः... पूरा हुआ ।

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः॥ २१७॥
विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा॥ २१८॥

सब आपत्तियों को एक साथ आती देख पड़ें तो बुद्धिमान् राजा साम दान आदि उपायों को एक साथ या अलग अलग काम में लावे। उपाय करनेवाले, उपाय के साधन योग्य और उपाय इन तीनों को ठीक ठीक आश्रय करके अर्थसिद्धि के लिए उपाय करे। उक्त प्रकार से संपूर्ण राजकार्यों का मन्त्रियों के साथ विचार करे। स्नान और व्यायाम (कसरत) करके दोपहर में भोजनार्थ अन्तःपुर में प्रवेश करे। वहां भक्त, भोजन-काल को जाननेवाला, शत्रु के बहकाने में न आनेवाला, रसोइयां के तैयार किये, परीक्षित और विषनिवारक मन्त्रों से शुद्ध भोजन को करे। राजा के सब खानेवाले पदार्थों में विषनाशक दवा डाले और विषनाशक रत्नों को राजा सदा धारण करे॥ २१४—२१८॥

परीक्षिताःस्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः।
तो लेप-भरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः॥ २१९॥
राजा दवा- ...ं कुर्वीत यानशय्यासनाशने।
उसको इस ...ं ...ले चैव सर्वालङ्कारकेषु च॥ २२०॥
देखकर, मित्र या
करे जिसमें ये दोनों ...वेष-भूषणों से सजी धजी स्त्रियां, एकाग्रमन
पाकर वैसा नहीं बढ़ ...प-गन्ध से राजा की सेवा करें। इसी भांति
बढ़ता है॥ २०६—२०८ ...या, आसन, भोजन, स्नान, उबटन और सब
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च ...क्षा आदि कर्म होना चाहिए॥ २१९—२२०॥
अनुरक्तं स्थिरारम्भं स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।
...ं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्॥ २२१॥

अलङ्कृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२२२॥
सन्ध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

भोजन करने के बाद, उसी अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ कुछ देर टहले, फिर यथासमय अपने राजकाज का विचार करे। फिर शस्त्र, भूषणों से सजकर सवार, सिपाही, घोड़ा वगैरह अस्त्र और राजकीय आभूषणों की देखभाल करे। उसके अनन्तर सायंसंध्या करके, एकान्त में दूत और प्रतिनिधियों के समाचार और कामों को सुने। उन लोगों को विदा करके दूसरे कमरे में जाकर स्त्रियों के साथ भोजनार्थ अन्तःपुर को गमन करे। वहां यथावत् भोजन करके थोड़ा गाना, बाजा से चित्त को प्रसन्न करके और समय पर निद्रा करे॥ २२१—२२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥
एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
सप्तमोऽध्यायः ॥

प्रातःकाल कुछ सवेरे उठकर फिर अपना नित्यकर्म यथावत करें। इस प्रकार से नीरोग राजा संपूर्ण राज्यकार्यों का स्वयं संपादन करे। यदि शरीर में कोई क्लेश होजाय तो अपने अधिकारियों से सब कामों को करावे॥ २२५—२२६ ॥

सातवाँ अध्याय पूरा हुआ।

अथ अष्टमोऽध्यायः।

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम्॥ १॥
तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥ २॥
प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक्॥ ३॥
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामि विक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥ ४॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ ५॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥ ६॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ ७॥

आठवाँ अध्याय।

व्यवहार-निर्णय—मुक़द्दमा आदि।

राजा विद्वान् ब्राह्मण और राजनीति चतुर मन्त्रियों के साथ वादी और प्रतिवादियों के विचारार्थ नम्रता से राजसभा में प्रवेश करे। वहां जाकर, दाहना हाथ उठाकर, बैठकर या खड़ेही

(जैसा कार्य हो) कामवालों के कामों को देखे। और वंश, जाति आदि देशव्यवहार और शास्त्रोक्त साक्षी, शपथ आदि के अनुसार अठारह प्रकार के विवाद-झगड़ों का अलग अलग विचार-फ़ैसला करे। उन अठारह विवादों का नाम इस प्रकार है—

(१) ऋण लेकर न देना (२) धरोहर (३) दूसरे की वस्तु को बेचना (४) साझे का व्यापार (५) दान दिया हुआ लौटा लेना (६) नौकरी न देना (७) प्रतिज्ञा भंग करना (८) खरीद-बेंच का झगड़ा (९) पशु स्वामी और चरवाहे का झगड़ा (१०) सरहद की लड़ाई (११) बड़ी बात कहना (१२) मार पीट (१३) चोरी (१४) ज़ोर-ज़ुलम (१५) पर स्त्री का ले लेना (१६) स्त्री और पुरुष के धर्म की व्यवस्था (१७) जुआखोरी (१८) जानवरों की लड़ाई में हार जीत का दाँव करना। इस संसार में ये १८ दावा होने के कारण हैं॥१—७॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम्॥ ८ ॥
यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥
सोऽस्य कार्याणि संपश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥ १० ॥
यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रावेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः॥११॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥१२॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥ १३ ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

इन विषयों में झगड़ा करनेवालों का फ़ैसला राजा को सनातन-धर्म के अनुसार करना चाहिए। जब आप कारणवश न काम देख सके तो विद्वान् ब्राह्मण को सौंप देवे। वह ब्राह्मण तीन सभासदों के साथ सभा में बैठकर या खड़े ही राजा के खास कामों को देखे। जिस देश में वेदविशारद तीन ब्राह्मण राजसभा में निर्णयार्थ बैठते हैं और राजा का अधिकार पाया हुआ एक विद्वान् ब्राह्मण रहता है वह ब्रह्मा की सभा मानी जाती है। जिस सभा में धर्म, अधर्म से चोंका जाता है और उस चुभे काँटे को सभासद् धर्मशरीर से नहीं निकालते तो वे सभासद् पापभागी होते हैं। या तो सभा में न जाना, जाना तो सत्यवचन कहना। और जो जानकर भी कुछ न कहे या झूठ कहे तो वह पातकी होता है। जिस सभा में अधर्म से धर्म की और असत्य से सत्य की हत्या होती है उस सभा के सभासद् नष्ट होजाते हैं ॥ ८-१४ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१५॥
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥

धर्म का लोप करदेने से वह उस पुरुष को नष्ट करदेता है और धर्म की रक्षा करने से वह भी रक्षा करता है। इसलिए धर्म का नाश न करना चाहिए जिसमें नष्ट धर्म हमारा नाश न करे। भगवान् धर्म को 'वृष' कहते हैं और जो उसका नाश करता है उसको देवता 'वृषल' कहते हैं। इस कारण मनुष्य को धर्म

का लोप न करना चाहिए। मृत्युसमय में भी एकमात्र मित्र धर्म ही पीछे चलता है और सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त होजाता है॥ १५-१७॥

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥ १८॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥ १९॥
जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन॥ २०॥
यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः॥ २१॥
यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥ २२॥

न्याय करते समय उसका एक चौथाई अधर्म अन्याय करने वाले को, एक चौथाई झूंठे गवाह को, एक चौथाई सभासद् और एक चौथाई राजा को अधर्म लगता है। जिस सभा में अन्यायी पुरुष की ठीक ठीक निन्दा कीजाती है, वहां राजा और सभासद् दोष से छूट जाते हैं। और उस अधर्मी को ही पाप लगता है। जिसकी जातिमात्र से जीविका है कुछ विद्या, योग्यता से नहीं वही चाहे न्यायकर्ता नियुक्त किया जाय, पर शूद्र को कभी अधिकार न देवे। जिस राजा का न्यायाधीश शूद्र होता है उसका राज्य कीचड़ में गौ की भांति फँसकर पीड़ा पाता है। जिस राज्य में शूद्र और नास्तिक, अधिक हों, द्विज न हों वह सम्पूर्ण राज्य दुर्भिक्ष और व्याधि से पीड़ित होकर शीघ्रही नष्ट होजाता है॥ १८-२२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥
अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥
बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

राजा न्यायासन पर वस्त्र वग़ैरह पहन कर बैठे और आठ लोकपालों को प्रणाम करके सावधानी से विचारकार्य का आरम्भ करे। प्रजा की लाभ और हानि को, धर्म और अधर्म को सोचकर वादियों के दावों को ब्राह्मणादि वर्ण के क्रम से देखना शुरू करे। मनुष्यों के बाहरी लक्षण, स्वर (आवाज़) शरीर का वर्ण, नीचे ऊपर देखना, आकार रोमांच होना आदि, आँख, हाथ, पैर की चेष्टा वग़ैरह से भीतरी हाल पहचानना। आकार, नीचे ऊपर देखना, गति, चेष्टा, बोली, आँख, मुँह के विकार से मन का भाव जाना जाता है ॥ २३-२६ ॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत्।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥
वशाऽपुत्रासु चैव स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥
जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।
अर्वाक्त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्॥ ३०॥

बालक के दायभाग का द्रव्य, तब तक राजा के अधीन (कोर्ट आफ़ वार्डस) में रहे जब तक वह समावर्तनवाला अर्थात् पढ़ लिखकर चतुर न हो और बालिग़ न होजाय। बन्ध्या स्त्री, अपुत्रा, सपिण्डरहित, पतिव्रता, विधवा और बहुत दिन की रोगी स्त्री का भी धन राजा की रक्षा में रहे। इन जीती हुई स्त्रियों का धन भाई बन्धु हर लेना चाहें तो उनको चोरदण्ड के मुवाफ़िक़ दण्ड देवे। जिसका स्वामी बेपता हो उस लावारिस धन को राजा तीन साल तक रक्खे, उसके भीतर आ जाय तो ले जाय, नहीं तो वह राजा का ही होजाता है॥ २७-३०॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति॥ ३१॥
अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति॥ ३२॥
आददीतार्थषड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन्॥ ३३॥
प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत्॥३४॥
ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा॥ ३५॥
अनृतं तु वदन् दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम्॥३६॥

तीन वर्ष के भीतर उसका मालिक आकर कहै कि-यह मेरा धन है, तब राजा उससे ठीक तौर से पूंछे कि धन कैसा है? कितना है? जो वह रूप, रंग, संख्या बतला दे तो उसको दे देना चाहिए। अगर खोई वस्तु का पता ठीक न बता सके तो उस पर उतना ही धन जुर्माना करे। कोई खोई वस्तु उसके मालिक को देते समय उसकी रक्षा के कारण उस धन का छठां, दशवां या बारहवां भाग राजा ले लेवे। किसीकी कोई चीज़ गुम गई हो और मिले तो राजा उसे पहरे में रक्खे और वहां से चुरानेवाला पकड़ा जाय तो उसको हाथी से मरवा देवे। जो पुरुष सचाई से कहे कि 'यह निधि मेरा है' उसके निधि * से छठां वा बारहवां भाग राजा ग्रहण कर लेवे। यदि वह दूसरे का अपना लेने की इच्छा करे तो उस निधि का आठवां भाग अथवा निधि गिनकर उसका कुछ भाग दण्ड देवे ॥ ३१-३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥
यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।
तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

यदि विद्वान् ब्राह्मण पुराने ज़माने की निधि पाजाय तो वह सब ले लेवै। क्योंकि ब्राह्मण सबका स्वामी है और जो भूमि में पुरानी निधि राजा पावे तो उसका आधा द्विजों को बाँट दे और आधा अपने खज़ाने में रखवा देवे ॥ ३७-३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥
दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

* भूमि में गड़ा हुआ पुराना धन 'निधि' कहलाता है।

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥
स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः॥४२॥
नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥

भूमि का स्वामी और रक्षक होने से राजा गड़ा धन और धातु की खानों के आधे भाग का अधिकारी है। चोरों का चुराया हुआ धन छीन कर जिस वर्ण का हो उन सब को दे देय। यदि आप ग्रहण करे तो चोर के पाप का स्वयं भागी होता है। जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म (व्यापार) और कुलधर्म के अनुसार अर्थात् रिवाज के अनुसार राजा राजधर्म को प्रचरित करे। जाति, देश और कुलधर्म और अपने कर्मों को करते लोग दूर रहते भी लोक में प्रिय होते हैं। राजा वा राजपुरुष जो नालिश न करता हो उससे खुद नालिश न करवावे और कोई झगड़ा पेश करे तो उसमें आनाकानी न करे ॥ ३९–४३ ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥
सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥
सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

जैसे वधक ज़मीन पर गिरे रुधिर के बूंदों से मारे हुए मृग का घर खोज लेता है। वैसे राजा अनुमान से मामला की अस-

लियत को खोज लेवे। सत्य का निर्णय करे, अन्याय से खुद डरे और गवाहों के झूठ, सत्य का एवं देश, काल और मामला का विचार करे। सज्जन पुरुष और धार्मिक द्विज जैसा आचरण करते हों और देश, कुल, जाति के आचार से जो खिलाफ़ न हो वैसा फ़ैसला करे ॥ ४४-४६ ॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥
यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥
धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥
यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात्।
न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन् धनम् ॥५०॥
अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम्।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

क़र्ज़ का लेना-देना।

अधमर्ण-क़र्ज़दार से अपना क़र्ज़ा मिलने के लिए उत्तमर्ण-महाजन कहे तो उसका धन राजा सबूत लेकर दिला देय। जिन जिन उपायों से महाजन अपना रुपया पासके, उन उपायों से दिलाने की कोशिश करे। महाजन धर्म से, दावा से, कपट से, दबाव से और पाँचवें उचित बलात्कार से अपना धन वसूल करे। यदि महाजन ऋणी से खुद अपना धन वसूल करले तो उसपर राजा कोई अभियोग (मुक़द्दमा) न करे। धनी के धन को क़र्ज़दार न क़बूल करे और महाजन साक्षी-गवाह और लेख

से साबित कर दे तो राजा उसको धन दिलावे और ऋणी के ऊपर शक्ति के अनुसार दण्ड भी करे ॥ ४७–५१ ॥

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि।
अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥
अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः।
यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति।
सम्यक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥

राजसभा में ऋणी से कहा जाय–महाजन का क़र्ज़ा अदा कर दो, तो भी वह इन्कार करे तो राजा साक्षी, दस्तावेज़ वग़ैरह पेश करने की आज्ञा दे। जो झूंठ गवाह या काग़ज़ पत्र पेश करे, जो पेश करके इन्कार करे और जो पूर्वापर की कही बातों का ध्यान न रक्खे। या जो बात को उलटता है, क़बूल करके भी पूंछने पर इन्कार करता है ॥ ५२–५४ ॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥
ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत्।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात् स हीयते ॥ ५६ ॥
साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥
अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः।
न चेत् त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥
यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।

तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥
पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥

और जो एकान्त में गवाहों के साथ बातचीत करें, जाने हुए प्रश्न का उत्तर न दें, पूंछने पर कुछ न कहें और जो कहें सो दृढ़ता से न कहें जो पूर्वापर बातों को न जानें। ऐसे पुरुष अपने अर्थ-धन से हार जाते हैं। मेरे साक्षी हाज़िर हैं, ऐसा कह कर जो मांगने पर हाज़िर न कर सके, न्यायाधीश उसको भी हरा देय। वादी अपने दावा को सिद्ध न कर सके तो वह धर्मानुसार शिक्षा और दण्ड दोनों का पात्र होता है और जो प्रतिवादी-मुद्दाअलेह डेढ़ महीना के भीतर झूंठे दावे से हुई हानि की नालिश न कर सके तो वह भी हारा समझा जाय। प्रतिवादी जितने धन के लिए झूंठ बोले और वादी जितने धन का झूंठा दावा करे, राजा उन दोनों अधर्मियों को उसका दूना दण्ड करे। अगर राजा और ब्राह्मण के सामने पूंछने पर ऋणी इन्कार करजाय तो तीन गवाह देकर ऋण सत्य करावें ॥ ५५-६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान् संप्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥
गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥

अब धनियों को और दूसरों को भी कैसे गवाह देने चाहिएं और वे कैसे सच्ची गवाही दें, यह सब कहा जाता है।

साक्षी-गवाह।

कुटुम्बी, पुत्रवान्, उसी देश का वासी, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये लोग जब वादी बुलावें तो गवाही दे सकते हैं, सब कोई नहीं ॥ ६१-६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याकार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥
नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्त्ता न दूषिताः॥६४॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५॥
नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत्।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नाऽन्त्यो न विकलेन्द्रियः॥६६॥
नार्त्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमार्त्तो न कामार्त्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७॥

सब वर्णों में जो यथार्थ कहनेवाले और धर्मज्ञ हों, लोभी न हों उनको साक्षी करना चाहिए। दावा में न धनके सम्बन्धी को, न सगे सम्बन्धी को, न मित्र को, न शत्रु को, न झूठ शपथ करने वाले को, न रोगी को, और न पहले किसी अपराध में शरीक हो उनको गवाही करना चाहिए। राजा को, कारीगर को, नट को, वेदपाठी को, संन्यासी और त्यागी को, पराधीन को, क्रूर को, अधर्मी को, बुड्ढे को, बालक को, एकही मनुष्य को, चाण्डाल-भङ्गी को, लूला-लंगड़ा को भी गवाह न करे। रोगों से दुखी, नशाबाज़, उन्मत्त, भूख-प्यास से दुखी, थका, कामपीड़ित, क्रोधी और चोर को भी गवाह न माने॥ ६३-६७॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६८॥
अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम्।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥

स्त्रियाप्यसम्भवे कार्यं वालेन स्थविरेण वा ।
शिष्येण वन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

स्त्रियों की गवाही स्त्रियां, द्विजों की गवाही समान वर्ण के द्विज, शूद्रों की गवाही शूद्र और भङ्गी आदि की गवाही भङ्गी देवें। घर के भीतर, वन में और शरीरान्त (खून) में, कोई भी जानने वाला पुरुष गवाह हो सकता है। कोई योग्य गवाह न मिले तो स्त्री, वालक, बूढ़े, शिष्य, सम्वन्धी, दास और नौकर चाकर भी गवाह हो सकते हैं ॥ ६८-७० ॥

वालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥
बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥
समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥
यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन ।
पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥
एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्व्यःशुच्योऽपि न स्त्रियः ।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वाच्च दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७ ॥

स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥

बालक, बूढ़े और रोगियों के झूंठ बोलने का संभव रहता है, इसलिए उनके कहने पर भरोसा न रक्खे और चंचल चित्त मनुष्य को भी विश्वासी न जाने । संपूर्ण साहस के काम खून, डाका आग लगादेना और चोरी, व्यभिचार, गाली और मारपीट में साक्षियों की अधिक परीक्षा—जांच न करे। दोनों तरफ़ के गवाहों में यदि एक दूसरे के विपरीत कहे तो जिसको अधिक लोग कहें वही बात मानी जाय । और जहां दोनों विपरीत कहनेवाले समान हों वहां जिधर के गवाह गुणवान् हों उधर की बात सही माने और दोनों ही तरफ़ गुणी हों तो धर्मात्मा द्विजों की गवाही ठीक करे । जिसने आँखों से देखा हो या, जिसने खुद कानों से सुना हो, उसकी गवाही मानी जाती है । उसमें सच बोलने वाला साक्षी धर्म, अर्थ से नहीं हारता । जो पुरुष आर्यसभा में देखे सुने के विरुद्ध गवाही देता है, वह उलटे शिर नरक में पड़ता है । स्वर्ग से रहित होजाता है । जिस मामले में गवाह न भी हों तो भी पूंछने पर जैसा देखा, सुना हो वही बयान करे । निर्लोभ एक भी पुरुष गवाह काफ़ी होता है, पर बहुतसी पवित्र स्त्रियां भी गवाह नहीं होसकतीं । क्योंकि-स्त्रीकी बुद्धि स्थिर नहीं होती । निर्णय के समय, गवाह स्वाभाविक रीति से जो कहे, उसको प्रमाण माने । और भय-लोभ आदि से जो विरुद्ध बात कहें, वह बिलकुल व्यर्थ है ॥ ७१-७८ ॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनानेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥
यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ।
तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥
साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेहतम् ॥ ८२ ॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

सभा में गवाह आ जाने पर न्यायकर्त्ता वादी, प्रतिवादी के सामने इसप्रकार कार्यारम्भ करे—इस मामला में आपस में जो कुछ हुआ है वह जो तुम जानते हो सत्य कहो क्योंकि—इस में तुम्हारी गवाही है। गवाह गवाही में सत्य बोलकर, उत्तम गति को पाता है और यहां कीर्त्ति पाता है, सत्यवाणी की वेद में प्रशंसा की है। गवाही में झूंठबोलनें वाला सौ जन्मतक वरुण के पाशों से बांधा जाता है। इसलिए साक्षी सत्य देनी चाहिए। साक्षी सत्य से पवित्र होता है। सत्य से धर्म बढ़ता है, इसकारण सब जाति के गवाहों को सत्य बोलना चाहिए। अपना आत्माही अपना साक्षी है, आत्माही अपने को सद्गति देता है। इस लिए मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का झूंठ साक्षी से अपमान न करे॥ ७६—८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥
द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

पापी लोग जानते हैं कि—पाप करते हमको कोई देखता नहीं, परन्तु उनको देवता और अन्तरात्मा देखता है। आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, रात्रि, सन्ध्या और धर्म इन सब के अधिष्ठात्री देवता सब प्राणियों के भले बुरे आचरणों को देखते हैं॥ ८५-८६॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वापूर्वाह्णेवैशुचिःशुचीन् ॥८७॥
ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥ ८८॥
ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा॥ ८९॥
जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम्।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा॥ ९०॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ ९१॥
यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥ ९२॥
नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत्॥ ९३॥
अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत्।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन् धर्मनिश्चये॥ ९४॥

न्यायाधीश स्नानादि से पवित्र होकर, देवता और ब्राह्मण के समीप में पवित्र द्विजातियों को पूर्व या उत्तरमुख कराकर

प्रातःकाल सच सच वृत्तान्त पूंछे । ब्राह्मण से 'कहो' ऐसा पूंछे । क्षत्रिय से 'सच बोलो' इस भांति पूंछे । और 'गौ, बीज, सोना चुराने का पातक तुमको होगा' ऐसा कहकर वैश्यों से पूंछे । 'सब पाप तुमको लगेगा' यों कहकर शूद्र से साक्षी लेवे । ब्राह्मण, स्त्री, बालक को मारनेवाले को और मित्रद्रोही, कृतघ्न को जो जो लोक मिलते हैं वेही लोक झूंठ बोलनेवाले को मिलते हैं । हे भद्र पुरुष! जन्म से लेकर तूने जो कुछ पुण्य किया है, वह सब झूंठी गवाही देगा तो, कुत्ते को पहुँचेगा । हे भद्र! तू यह जो मानता है कि, मैं अकेला जीवात्मा हूं सो न मान । क्योंकि-पुण्य, पाप को देखनेवाला अन्तर्यामी नित्य हृदय में ही स्थित है । यमरूप वैवस्वत देव हृदय में स्थित हैं, उसमें विश्वास रखने से गङ्गा और कुरुक्षेत्र जाने की ज़रूरत नहीं है । जो झूंठी गवाही देता है-उसको नङ्गा, शिर मुड़ाकर, भूखा, प्यासा और अंधा होकर, हाथ में ठीकरा लेकर शत्रु के घर भीख मांगने जाना पड़ता है । जो झूंठ साक्षी पूंछने पर देता है । वह पापी नीचे शिर होकर, अँधेरे नरक में पड़ता है ॥ ८७-९४ ॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नन्ति स नरः कण्टकैः सह ।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥
यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।
तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मास्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

जो सभा में विना देखी बात बनाकर बोलता है वह अंधा होकर कांटों सहित मछली खाता है। साक्षी के समय जिसकी जीवात्मा असत्य की शङ्का नहीं करता, उससे अच्छा देवगण दूसरे को नहीं मानते। हे सौम्य! जिस साक्षी में झूंठ बोलनेवाला जितने बान्धवों के मारने का फल पाता है वह यों है—पशु के बारे में झूंठ बोलने से पांच बान्धवों की हत्या का पातक होता है। गौके विषय में दश, घोड़ा के सौ और पुरुष के लिए हज़ार की हत्या का पातक लगता है। सुवर्ण के लिए बोलने से पैदा हुए या होनेवालों की हत्या को पाता है और भूमि के लिए कहने से संपूर्ण प्राणियों के वध को करता है। इसलिए भूमि के बारे में कभी झूंठी साक्षी न दे। सरोवर के जल, स्त्रीसंभोग, जल से पैदा मोती और नीलम आदि रत्नों के लिए झूंठी गवाही देने से भूमि का सा दोष होता है॥ ६५–१०० ॥

एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥
गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत्॥१०२॥

इन सब पातकों को समझकर, जैसा देखा या सुना है वही ठीक ठीक कहो। गोपालक, बनियां, बढ़ई, लोहार, गानेबजाने का काम करनेवाले, नौकरी पेशा और ब्याजखोर ब्राह्मणों से गवाही लेते समय शूद्र के समान प्रश्न—सवाल करे ॥ १०१–१०२ ॥

तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम्॥१०३॥
शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः।

तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥
वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ १०५ ॥
कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि।
उदित्यृचा वा वारुण्या त्र्यृचेनाब्दैवतेन वा ॥ १०६ ॥
त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥
यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८ ॥
असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः।
अविन्दंस्तत्त्वतःसत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥
महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः।
वशिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे ॥ ११० ॥

जो मनुष्य जानता हुआ भी धर्मवश झूंठ बोले तो वह स्वर्गलोकसे पतित नहीं होता क्योंकि उस असत्य को दैववाणी कहते हैं। जिस मामला में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों के प्राण जाते हों वहां साक्षी झूंठ बोले—वह झूंठ भी सत्य से श्रेष्ठ है। झूंठे गवाहों को उस पाप से छुटकारा पानेके लिए वाणी देवता के लिए चरु बनाकर सरस्वतीदेवी का पूजन करना चाहिए। अथवा कूष्माण्ड मन्त्रों (यद्देवा देवहेडनम् यजु० २० । १४) से हवन करे। या वरुण देवता के (उदुत्तमं वरुणपाशम्' यजु० १२। १२) मन्त्रसे अथवा जल देवता के मन्त्र (आपो हिष्ठा यजु० ११ । ५०) से हवन करे। क़र्ज़के बारेमें साक्षी नीरोग होनेपर तीनदिनतक न आवे तो महाजन अपना सब ऋण पावे और धन का दशांश गवाहपर दण्ड

करे। गवाह को सात दिन के भीतर रोग, अग्नि, स्त्री पुत्रादि के मृत्यु की आपत्ति होजाय तो उसको दण्ड न करे। जिन वादी और प्रतिवादियों के गवाह न हों, उनका ठीक तत्त्व समझ में न आवे तो शपथ-क़सम से भी निर्णय करलेवे। महर्षि और देवताओं ने भी शपथ की थी। विश्वामित्रने वशिष्ठपर हत्या लगाई थी तब उन्होंने राजा पैजवमके समीप शपथ कीथी ॥१०३-११०॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः।
वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥
कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२॥
सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोवीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥
अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत् पृथक् ॥ ११४॥
यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च।
न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः॥ ११५ ॥

बुद्धिमान् पुरुष थोड़ी बात के लिए शपथ न करे। वृथा शपथ से लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। स्त्रियों में, विवाह में, गौवों के कुछ नुक़सान करने में यज्ञार्थ काष्ठसंग्रह में और ब्राह्मण की आपत्ति में झूँठा शपथ करने से पाप नहीं लगता। ब्राह्मण को सत्य की शपथ दे, क्षत्रिय को सवारी और शस्त्र की देय, वैश्य को गौ, अन्न और सुवर्ण की और शूद्र को सब पातक लगने की शपथ देय। अथवा शूद्र से शपथ में अग्नि उठवावे, जल में गोता लगवावे और उसके पुत्र या स्त्री के ऊपर हाथ रखवावे। जिसको

अग्नि न जलावे, जल में न डूबे और अचानक शिर पर आपत्ति न पड़जाय उसको शपथ में पवित्र जानना॥ १११-११५॥

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा।
नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः॥ ११६॥
यस्मिन्यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्।
तत्तत्कार्यं निवर्त्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत्॥ ११७॥
लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥११८॥

पूर्व काल में वत्सऋषि के ऊपर उनके छोटे भाई ने कलङ्क लगाया था कि तू शूद्रा के गर्भ का है। तब वत्स ने अग्नि में प्रवेश किया था, पर सत्यवश अग्नि ने उनका एक रोम भी नहीं जलाया। जिन जिन मुक़द्दमों में झूठी गवाही दी ऐसा निश्चय हो-उनको फिर से उलट कर परीक्षा करे। लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और लड़कपन से गवाही झूठी कही जाती है॥ ११६-११८॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥ ११९॥
लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥ १२०॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु॥ १२१॥
एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च॥ १२२॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान् धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥
दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ १२४ ॥

इनमें किसी एक कारण से जो झूंठी गवाही दे उसके दण्डों का निर्धार क्रम से इस प्रकार है:—लोभ से झूंठी गवाही देने पर हज़ार पण दण्ड, मोहसे कहनेवाले पर प्रथम साहस अर्थात् २५० पण, भय से देनेपर मध्यम साहस का दूना और मित्रता के कारण से प्रथम साहस का चौगुना—१००० पण दण्ड देय। काम से दशगुना पूर्व साहस, क्रोध से तिगुना मध्यम साहस, अज्ञान से पूरे २०० पण और मूर्खता से झूंठ कहने पर १०० पण दण्ड-जुर्माना करे। सत्य धर्म की रक्षा और अधर्म को रोकने के लिए ऋषियों ने इन दण्डों को कहा है। धार्मिक राजा झूंठी गवाही देने वाले तीनों वर्णों को अपराध के अनुसार दण्ड देकर देश से निकालदे और ब्राह्मण को दण्ड न देकर देशनिकाला ही करे। स्वायम्भूमनु ने दण्ड देने के दश स्थान कहे हैं पर ब्राह्मण को देशनिकाले की ही सज़ा है ॥ ११६-१२४ ॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥१२६॥

लिङ्ग, पेट, जीभ, हाथ, पैर और आँख, नाक, कान, धन और शरीर ये दश दण्ड देने के स्थान हैं। अपराध और दण्ड सहनेकी शक्ति और देश, कालका विचार करके अपराधियों को दण्ड देवै ॥ १२५-१२६ ॥

अधर्मदंडनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ १२७॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ १२८॥
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥ १२६॥
वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात्।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम्॥ १३०॥

अन्याय से दण्ड देना, इस लोक में यश और कीर्ति का नाशक है। परलोक का बाधक है। निरपराधियों को दण्ड और अपराधियों को दण्ड न देने से राजा की बड़ी अकीर्ति होती है। अयश मिलता है और नरक में पड़ता है। प्रथम अपराध में वाग्दण्ड-समझा देय, फिर अपराध करे तो धिक्कार-लानत दे। उसके बाद करे तो जुर्माना करे। फिर भी करे तो शरीर दण्ड देवे। जब देह दण्ड से भी अपराधियों को वश में न कर सके तो इन चारों दण्डों का प्रयोग करे॥ १२७-१३०॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १३१॥
जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ १३२॥

लोक में व्यवहार के लिये सोना, चांदी आदि की जो संज्ञा माप-तौल प्रसिद्ध है वह यहां कही जाती है:—मकान के झरोखे से आनेवाली सूर्यकिरणों में जो छोटे छोटे धूल के कण दिखलाई देते हैं वह प्रथम मान है उसको त्रसरेणु कहते हैं॥ १३१-१३२॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥
सर्षपाः षड्यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥
ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥
धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥
पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

८ त्रसरेणु = १ लिक्षा । ३ लिक्षा = १ राई ।
३ राई = १ सफ़ेद सरसों । ६ सरसों = १ मध्यमयव ।
३ मध्यमयव = १ कृष्णल । ५ कृष्णल = १ माष ।
१६ माष = १ सुवर्ण । ४ सुवर्ण = १ पल ।
१० पल = १ धरण । २ कृष्णल = १ चांदी का माषा ।
१६ चांदी माषा = १ धरण, वा चांदी का पुराण । तांबा के कर्ष-भर के पण-पैसा को कार्षापण कहते हैं ।
१० धरण = १ चांदी का शतमान । ४ सुवर्ण = १ धरण ।
२५० पण = प्रथम साहस । (साधारण दण्ड)
५०० पण = मध्यम साहस ।
१००० पण = उत्तम साहस ॥ १३३-१३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।

अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥
वशिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥
द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्विषी ॥ १४१ ॥
द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

यदि ऋणी सभा में महाजन का रुपया देना क़बूल करे तो सैकड़े पांच दण्ड देने योग्य है। और इन्कार करे तो सैकड़े दश दण्ड देवे। वशिष्ठ के नियमानुसार सैकड़े का अस्सीवां भाग (सवा रुपया सैकड़ा) ब्याज लेवे। अथवा दो रुपया सैकड़ा ब्याज़ लेवे। दो रुपया सैकड़ा ब्याज लेने से दोष नहीं होता। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों से क्रम से दो, तीन, चार और पांच रुपये सैकड़ा माहवारी ब्याज ग्रहण करे॥ १३९–१४२ ॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥
न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥
आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥
संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

यत्किंचिद्दशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

भूमि, गौ, धन आदि भोग के पदार्थ यदि आधि-गिरवी महाजन के रक्खे तो महाजन को व्याज न मिले और नियमित समय में ऋणी छुड़ा न सके तो उसको महाजन वेंच या किसीको दे नहीं सकता । आधि-गिरवी की वस्तु को ऋणी की आज्ञा विना न वर्ते यदि काम में लावे तो व्याज छोड़ देय और टूट फूटजाय तो ऋणीको उसका बदला धन आदि देकर खुशकरे नहीं तो चोर माना जाता है । आधि-गिरवी और उपनिधि-अमानत के पदार्थ बहुत दिन पड़े रहें तो भी अवधि नहीं वीत जाती । जब मालिक चाहे तभी ले सकता है । गौ.ऊँट,घोड़ा वगैरह किसीने प्रेम से वर्तने को दिए हों और वह वर्तता हो तो भी उसके मालिक का हक़ बना रहता है । यदि किसी वस्तु को दूसरे लोग दश वर्ष तक बर्तते रहें और उसका मालिक चुपचाप देखाकरे, तो फिर वह उसको नहीं पासकता ॥ १४३-१४७ ॥

अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥
आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥
यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्ते विचक्षणः ।
तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥१५०॥

वस्तु का स्वामी पागल न हो और नादान न हो पर उसका वस्तु दूसरा भोगता रहे तो न्याय से उसका अधिकार नहीं रहता। भोगनेवाला पाजाता है । गिरवी वस्तु, सीमा, बालक का धन, धरोहर, प्रसन्नता से भोगार्थ दिया धन, स्त्री और राजा का धन,

श्रोत्रिय का धन इनको दूसरा भोगे तो भी स्वामी का अधिकार नहीं जाता। जो चालाक मनुष्य आधि को विना स्वामी के कहे भोगता है उसको आधा ब्याज छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसका आधा भोग से घट गया ॥ १४८–१५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता ।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥
कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति ।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥
नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥१५३॥
ऋणं दातुमशक्तो यः कर्त्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥
अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

क़र्ज़ा के रुपयों का सूद एकबार लेने पर, ऋण का धन दूने से अधिक नहीं लिया जा सकता। और धान्य, वृक्ष के मूल, फल, ऊन और वाहन पांचगुने से अधिक नहीं लिये जाते हैं। जो सूद का ठहराव हो चुका है उससे अधिक शास्त्र के खिलाफ़ नहीं मिल सकता है। व्याज का क़ायदा यही है कि—अधिक से अधिक पांच रुपये सैकड़ा लिया जा सकता है। एक वर्ष में व्याज मिलाकर, मूल धन दूना हो जाय तो उतना व्याज न लेय 'व्याज का व्याज न लेय' नियतकाल बीतने पर दूना तिगुना आदि लेने का ठहराव न करे और उससे कोई काम धोखा देकर न करावे। जो क़र्ज़दार पुराना क़र्ज़ा अदा न करसके और नया व्यवहार चलाना चाहे तो पुराने कागज़ को बदलाकर नया करा लेवे। लेकिन

ब्याज भी न देसके तो उसको मूलधन में जोड़ देय। जो रक़म हो उसका सूद दिया करे ॥ १५१-१५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन् देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥
समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५७॥
यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

चक्रवृद्धि का आश्रय करनेवाला महाजन देश-काल के नियम से ही ब्याज आदि पावे, मियाद गुज़रने पर पाने योग्य नहीं है। समुद्र आदि के रास्ते देश-विदेश में व्यापार चतुर महाजन जो आय-व्यय के अनुसार भाड़ा ब्याज आदि तै करें वही प्रमाण है। जो मनुष्य जिसको हाज़िर करने के लिए प्रतिभू—ज़ामिन हो वह उसे हाज़िर न कर सके तो अपने पास से उसका ऋण चुकावे ॥ १५६-१५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥
दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥
अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥
निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्त्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥ १६३ ॥
सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥

ज़मानत का धन, फ़िज़ूल दान, जुये का रुपया, मद्य का रुपया और जुर्माना का रुपया पिता के मरने पर उसके बदले, पुनः नहीं दे सकता । सिर्फ़ हाज़िर करने की ज़मानत में पहली बात जाने । परन्तु ऋणी के बदले में क़र्ज़ अदा करने की ज़मानत वाला मर जाय तो उसके वारिसों से भी दिलावे । क़र्ज़दार क़र्ज़ न दे और ज़ामिन मरजाय तो महाजन कैसे अपना रुपया वसूल करे ? किसी से नहीं । यदि ज़ामिन को ऋणी रुपया सौंप गया हो और उसके पास भी ख़ूब धन हो तो ज़मानती के मरने पर उसका पुत्र ऋण चुकावे—यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है । नशाबाज़, पागल, दुखी, पराधीन, बालक, बुड्ढा और सामर्थ्य के बाहर प्रतिज्ञा करनेवाले का व्यवहार ठीक नहीं माना जाता । आपस की लिखा-पढ़ी या ज़बानी ठहरी भी कोई बात यदि धर्म—क़ानून और रिवाज़ के ख़िलाफ़ हो तो सच्ची नहीं मानी जाती ॥ १५९–१६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।
यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥
ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः ।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥
कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं समाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६७ ॥

कपट से किया हुआ बन्धक (गिरवी) विक्रय, दान, प्रतिग्रह और निक्षेप—धरोहर कोभी लौटा देना चाहिए । यदि ऋणी मर

गया हो और ऋण का द्रव्य कुटुम्ब में लगाया हो तो उसके बान्धव मिले या जुदे हों पर अपने धन से ऋण देवें। कोई अधीन पुरुष भी स्वामी के कुटुम्ब के लिए देश या परदेश में लेन—देन करले तो स्वामी उसको क़बूल करलेवे, इन्कार न करे॥ १६५-१६७॥

बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्॥ १६८॥
त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ्नृपः॥ १६९॥
अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत्॥ १७०॥
अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात्।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति॥ १७१॥
स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात्।
बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते॥ १७२॥

बलात्कार से दिया, बलात्कार से भोग किया, कुछ लिखाया या कुछ किसी से कराया न किये के समान मनुजी ने कहा है। तीन दूसरे के लिए दुःख पाते हैं—साक्षी, ज़ामिन और ऋणी के कुटुम्बी। और चार दूसरे के कारण बढ़ते हैं—ब्राह्मण, धनी, बनिया और राजा। राजा निर्धन होकर भी अनुचित धन आदि न लेवे और धनी होकर भी लेने योग्य धन थोड़ा भी न छोड़े। न लेने लायक़ वस्तु को लेने और लेने लायक़ को छोड़ने से राजा का ढीलापन ज़ाहिर होता है। और अपयश पाकर नष्ट होजाता है। उचित धन लेने से प्रजाओं को वर्णसंकर न होने देने से और दुर्बलों की रक्षा करने से राजा को बल प्राप्त होता है। और लोक-परलोक में सुख भोगता है॥ १६८-१७२॥

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः॥ १७३॥
यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः॥ १७४॥
कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः॥ १७५॥

इसलिए राजा यमराज के समान अपना प्रिय और अप्रिय छोड़कर क्रोध और इन्द्रियों को वश में करके, समभाव प्रजापर रक्खे। जो राजा मूर्खता से अधर्म के कार्य करता है, उस दुष्ट को शत्रु शीघ्रही वश में कर लेते हैं। परन्तु जो काम, क्रोध को वश में करके, धर्म से कार्यों को देखता है, उसकी प्रजा समुद्र के नदियों की भांति अनुगामिनी होती हैं॥ १७३–१७५॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे।
स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ १७६॥
कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः॥ १७७॥
अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत्॥ १७८॥

यदि ऋणी (अपने को राजप्रिय मानकर) राजा से कहे कि धनी ज़बरदस्ती ऋण वसूल करता है तोभी राजा उसका धन दिलावे और ऋणीपर ऋण का चौथाई दण्ड करे। समानजाति वा हीनजाति क़र्ज़दार, महाजन का धन उसके यहां काम करके चुका दे और महाजन से ऊंची जाति का ऋणी धीरे धीरे अदा करदेवे। इसभांति राजा आपस में झगड़ा करनेवालों का निर्णय साक्षी, लेख आदि के आधार से करे॥ १७६–१७८॥

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः॥ १७९॥
यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ १८०॥
यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ॥ १८१॥
साक्ष्यरूपे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः॥ १८२॥
स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम्।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते॥ १८३॥

निक्षेप–धरोहर–अमानत रखना।

कुलीन, सदाचार, धर्मज्ञ, सत्यवादी, कुटुम्बी, धनी और प्रतिष्ठित पुरुष के पास निक्षेप–धरोहर रखना चाहिए। जो मनुष्य जिसके यहां जो द्रव्य जिसप्रकार रक्खे, उसको उसीप्रकार लेना उचित है। क्योंकि–जैसा देना, वैसा लेना। जो धरोहर रखनेवाले की वस्तु मांगने पर नहीं देता, उससे न्यायकर्त्ता राजपुरुष रखनेवाले के पीछे मांगे। धरोहर के समय साक्षी न हो, तो राजा किसी वृद्ध–प्रामाणिक कर्मचारी से कुछ वस्तु किसी बहाने से उसके यहां रखवावे और थोड़ेही दिनों में मँगवाले। यदि वह राजकर्मचारी अपनी रक्खी वस्तु ठीक ठीक मांगने पर पा जावे तो जो धरोहर न पाने की नालिश करे उसको झूंठा समझे॥ १७९–१८३॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि।
उभौ निगृह्य दाप्यःस्यादिति धर्मस्य धारणा॥ १८४॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यन्ते विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥
स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेतुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥
अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥
निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने ।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥
चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किंचन ॥ १८९ ॥
निक्षेपस्यापहर्त्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥
यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१॥

और यदि वह ठीक ठीक न देवे तो राजा पकड़कर दोनों की धरोहर दिलवावे। खुली या मुहर लगी धरोहर या मांगी वस्तु रखनेवाले की वस्तु उसके वारिसों को न देवे, क्योंकि रखनेवाले की मृत्यु होजाने से धरोहर नष्ट हो जाती है । जीता हो तो मिल सकती है। परन्तु धरोहर रखनेवाले की मृत्यु होजाने पर, यदि साहूकार खुशी से उसके वारिसों को दे देय, तो कम देने का दावा वारिस या राजा न चलावे। उस धन को प्रसन्नता से कम ज्यादा का कपट छोड़कर, स्वीकार करले। यही सब धरोहरों का नियम है जोकि विना मुहर रक्खी गई है और मुहरवाली में कोई शक नहीं होती। अमानत की वस्तु को चोर ले जाय, जल में

बह जाय, आग में जल जाय तो यदि साहूकार ने उसमें से कुछ न लिया हो, तो देनी नहीं पड़ती। जो धरोहर न लौटावे या जो विना रक्खेही जाल से मांगे उन दोनों का साम आदि उपाय और वैदिक शपथों (हलफ़) से राजा निर्णय करे। जो धरोहर नहीं देता, या जो विना रक्खे ही मांगता है, उन दोनों को राजा चोर के समान दण्ड देवे और धरोहर के बराबर जुर्माना करे॥ १८४-१६१॥

निक्षेपस्यापहर्त्तारं तत्समं दापयेद्दमम्।
तथोपनिधिहर्त्तारमविशेषेण पार्थिवः॥ १६२॥
उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः।
स सहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः॥ १६३॥
निःक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन् दण्डमर्हति॥ १६४॥
मिथोदायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।
मिथ एव प्रदातव्यो यथादायस्तथा ग्रहः॥ १६५॥
निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम्॥ १६६॥

धरोहर और उपनिधि मारलेनेवालों को भी राजा यही दण्ड देवे। छल, कपट करके पराया धन हरनेवालों को उनके मदद-गारों के साथ सबके सामने अनेक पीड़ा दण्ड देवे। गवाहों के सामने जितना धरोहर हो उतना स्वीकार करने से पावे, बखेड़ा करनेवाला दण्डनीय होता है। जिसने एकान्त में धरोहर रक्खी और एकान्त में ली हो, वह एकान्त में ही देना चाहिए। जैसे लेवे, वैसे देवे। धरोहर और प्रेमसे भोगार्थ दिए धन का फ़ैसला ऐसा करना चाहिए, जिसमें धरोहर करनेवाले को कोई दुःख न पहुँचे॥ १६२-१६६॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम्॥ १९७॥
अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्॥ १९८॥
अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थितिः॥ १९९॥

दूसरे की वस्तु विना मालिक की आज्ञा जिसने बेंची हो उस चोर व साहूकार को विना गवाह चोर की भांति दण्ड देवे। दूसरे की वस्तु बेंचनेवाला यदि उस धन के मालिक के वंश में हो तो छः सौ पण दण्ड देवे और सम्बन्धी या बेंचने का अधिकार न रखता हो तो चोर के मुवाफ़िक़ दण्ड योग्य है। इस प्रकार विना मालिक की आज्ञा, बेंचा या दियाहुआ कोई पदार्थ नाजायज़ है। यही धर्मशास्त्र (क़ानून) की मर्यादा है॥ १९७–१९९॥

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः॥ २००॥
विक्रियाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम्॥ २०१॥
अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम्॥ २०२॥
नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥ २०३॥

जिसको कोई वस्तु भोगते देखे पर ख़रीदते न देखा हो तो दूसरे का ख़रीद का लेख आदि प्रमाण होगा। भोग प्रमाण न होगा। यह व्यवहार की मर्यादा है। जो ज़ाहिर तौर से विकती

चीज़ को कुछ खरीद् करे और पीछे कोई बखेड़ा उठे तो खरीदार निर्दोष है और उसको वह वस्तु पानी चाहिए। माल का मालिक न होकर बेंचनेवाले को यदि खरीदनेवाला न ला सके पर बहुतों के सामने खरीदना साबित करदे तो दण्ड योग्य नहीं है। और उस खोई वस्तु का मालिक वापस ले सकता है। एक वस्तु दूसरी के रूप में मिलती हो तो उसको दूसरे के धोखे बेंचना ठीक नहीं है और सड़ी, तौल में कम, विना दिखलाये, अच्छी वस्तु के नीचे खराब ढककर बेंचना अनुचित है॥ २००-२०३॥

अन्यां चेद्दर्शयित्वान्यां वोढुः कन्या प्रदीयते।
उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः॥ २०४॥
नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति॥ २०५॥
ऋत्विग् यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सहकर्तृभिः॥ २०६॥
दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन्।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत्॥ २०७॥

एक कन्या दिखाकर दूसरी किसी का विवाह करदे तो दोनों का एकही मूल्य में विवाह कर लिया जाय मनु की आज्ञा है। पागल, कोढ़िन, किसी से भुक्त हो तो न बतलाने से कन्यादान वाला दण्ड योग्य होता है। यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विक् किसी कारण से अपना कर्म न पूरा करसके तो दूसरों के साथ में उसको भी कर्मानुसार दक्षिणा देवे। सब दक्षिणा दी गई हो और रोगादिवश कर्म छोड़ दे तो दूसरे से पूरा करा ले॥ २०४-२०७॥

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः।
स एव ता आददीत भजेरन् सर्व एव वा॥ २०८॥

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ।
होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनःक्रये ॥ २०९ ॥
सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे ।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥
संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।
अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

आधान आदि कर्मों के जिन अङ्गों की जो दक्षिणा हों उनको कर्म करानेवाले अलग अलग लें अथवा बाँट लेवें। आधान में रथ अध्वर्यु, घोड़ा ब्रह्मा या होता लेवे और सोम खरीदकर गाड़ी में आया हो तो गाड़ी उद्गाता पावे। यज्ञ के सोलह ऋत्विजों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार मुख्य ऋत्विज् पूर्ण दक्षिणा में आधी के अधिकारी हैं-४८ गौ देवे। दूसरे मैत्रावरुण आदि चार को उसका आधा-२४ गौ, तीसरे अच्छावाक् आदि चार को तृतीयांश-१६ गौ और चौथे ग्रावस्तुत आदि को चतुर्थांश-१२ गौ देय। इस प्रकार सोलह ऋत्विज् मिलकर कर्म करें तो अपना अपना भाग बाँट लेवें ॥ २०८-२११ ॥

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥
यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥
दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

किसी याचक को धर्मार्थ किसी ने कुछ देना कहा हो पर वह कर्म न करे तो उसको प्रतिज्ञात धन न देवें। जो याचक गर्व या

लोभ से उस धन का दावा करे तो राजा, चोर मान कर एक सुवर्ण उस पर जुर्माना करे। इस प्रकार दिये धन को लौटाने का निर्णय धर्मानुसार किया है। अब नौकर को वेतन न देने का निर्णय कहा जायगा ॥ २१२-२१४ ॥

भृतोऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥

नौकर का वेतन-तनख्वाह ।

जो नौकर विना बीमारी के घमंड से ठहराव के अनुसार काम न करे तो उसपर आठ कृष्णल जुर्माना करे और वेतन न देय ॥ २१५ ॥

आर्त्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥
यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥
एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

परन्तु जो बीमार हो और नीरोग होकर ठहराव के अनुसार काम करे तो अधिक दिन बीमार रहा हो तो भी वेतन पावेगा। रोगी हो या नीरोग हो ठहरे हुए काम को न करे या दूसरे से न करा दे अथवा कुछ कम काम करे तो उसको वेतन न देय। यह धर्मानुसार वेतन न देने का निर्णय कहा है। अब प्रतिज्ञाभङ्ग करनेवालों का निर्णय किया जायगा ॥ २१६-२१८ ॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुःसुवर्णान् षण्निष्कान्शतमानं च राजतम् ॥२२०॥
एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

प्रतिज्ञाभङ्ग-इक़रार तोड़ना ।

जो मनुष्य गाँव या देश के लोगों से किसी काम के लिए सत्य-प्रतिज्ञा करके लोभ से उसको छोड़ देवे तो राजा उसको राज्य से निकाल दे और उस नियमभङ्ग करनेवाले को पकड़कर चार निष्क वा छः सुवर्ण या एक चांदी का शतमान दण्ड करे । धार्मिक राजा गाँव या जातिमण्डल में प्रतिज्ञाभङ्ग करनेवाले को इस भांति दण्ड करे ॥ २१९-२२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥ २२२ ॥
परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥

किसी वस्तु को खरीद वा बेचकर जिसको पसंद न हो वह दश दिन के भीतर उसको वापस कर दे या लेवे । परन्तु दश दिन के बाद न वापस करे न करावे । क्योंकि समय-भङ्ग करने से ६०० पण दण्ड उस पर किया जायगा ॥ २२२-२२३ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥२२४॥
अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः ।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥ २२६॥
पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥ २२७॥
यस्मिन् यस्मिन् कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत्।
तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत्॥ २२८॥

जो पुरुष दोषवाली कन्या के दोष विना बतलाए विवाह करदे उसपर राजा ९६ पण दण्ड करे। किसी ईर्षा से कन्या में दोष लगावे, पर उसको न दिखलावे तो उस पर सौ १०० पण दण्ड करे। विवाहसम्बन्धी वैदिक मन्त्र कन्याओं के लिए ही कहे हैं जो कन्या नहीं हैं उनके लिए नहीं क्योंकि उनका कन्यापन लोप होगया। विवाह के मन्त्र कन्या में स्त्रीत्व लाते हैं और उन मन्त्रों की समाप्ति सप्तपदी हो जाने पर होती है-ऐसा धर्मशास्त्रियों का निर्णय है। इस जगत् में जिस जिस काम के करने पर जिसको अफ़सोस पैदा हो उसका निर्णय कही रीति से राजा करे॥२२४-२२८॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः॥ २२९॥
दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात्॥ २३०॥
गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतोऽवराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः॥ २३१॥

पशु के मालिक और चरवाह में प्रतिज्ञाभङ्ग होने पर इस प्रकार निर्णय करे-पशुओं की रक्षा का भार दिन में चरवाह और रात में उनके मालिक पर है और चारे की कमी पर चरवाह उत्तर-

दाता है। जो चरवाह दूध मात्र का वेतन पाता हो वह स्वामी की आज्ञा से दश गौओं में जो उत्तम हो उसको दुह लेय। यह बिना तनख़्वाह के चरवाह की तनख़्वाह है॥ २२९-२३१॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु॥ २३२॥
विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति॥२३३॥
कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत्॥ २३४॥
अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत्॥२३५॥
तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी॥२३६॥

जो पशु खो जाय, कीड़े पड़कर मरजाय, कुत्तों से मारा जाय, गढ़े में गिरकर मरजाय, चरवाह की असावधानी से चोर लेजायँ तो उसको चरवाह मालिक को देवे। जो चोर हमला करके कोई पशु लेजायँ तो चरवाह ठीक समय पर मालिक से इत्तिला करे तो चरवाह दण्ड न देय। यदि पशु खुद मरजाय तो उसके कान, चमड़ा, वाल, वस्ति, स्नायु और रोचना वग़ैरह से कोई अङ्ग मालिक को दे देय और कोई अङ्ग दिखला दे। बकरी और भेड़ को भेड़िया घेर ले और चरवाह उनको छोड़कर भग जावे तो जिसको मारेगा उसका पातक चरवाह को लगेगा और यदि बकरी, भेड़ को चरवाहने घेर रक्खा हो और अचानक भेड़िया आकर मारडाले तो चरवाह पातकी न होगा॥ २३२-२३६॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।

शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥
तत्रापरीवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

गाँव के चारों तरफ़ चार सौ हाथ या तीन लकड़ी फेंकने पर जितनी दूर गिरें वहां तक और नगर के आसपास उसकी तिगुनी भूमि पशुओं के लिए छोड़ रखना उचित है, इस भूमि को 'परिहार' कहते हैं। उस भूमि में बाड़ न होने से अन्न कोई पशु खाले तो राजा चरवाह को दण्ड न देय ॥ २३७–२३८ ॥

वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥
पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
स पालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥ २४० ॥
क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥
अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान् देवपशूंस्तथा ।
स पालान्वाविपालान्वानदण्ड्यान्मनुरब्रवीत्॥२४२।
क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् ।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥ २४३ ॥
एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥

उस भूमि के बचाने को इतनी ऊंची बाड़ करे जिसमें ऊंट न देख सके और छोटे छेदों को बंद करदे जिसमें सुअर, कुत्ता का मुँह न जासके। गाँव के या रास्ते के पास बाड़ से घिरे खेतों का

अन्न पशु खालें तो चरवाह को सौ पण दण्ड करे और विना चर-वाह के पशुओं को हाँक देवे। दूसरे खेतों में पशु हानि करे तो चरवाह पर सवा पण दण्ड करे। और खेत के स्वामी की हानि तो सब हालत में देनी ही चाहिए। दश दिन के भीतर की वियाई गो, सांड़ और देवार्पण करके छोड़े हुए पशु खेत खालें तो चर-वाह साथ हो या न हो, दण्ड नहीं होसकता—मनुजी फ़रमाते हैं। यदि खेतवालेही के पशु खेत चरें तो राजा हानि से दश-गुणा दण्ड करे और हलवाहों की भूल से हो तो उसका आधा दण्ड करे। इसभांति पशुओं के स्वामी, पशु और चरवांह के अपराध होनेपर धार्मिक राजा न्याय करे ॥ २३६–२४४ ॥

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥
सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥

सीमा—सरहद का निर्णय ।

यदि दो गाँवों के हद का झगड़ा उठे तो जेठ मास में जब ज़मीन साफ़ हो तब उसका निश्चय करना। हद जानने के लिए बड़, पीपल, ढाक, सेंमर, साल, ताल और दूधवाले कोई वृक्ष स्थापित करे ॥ २४५–२४६ ॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥
तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥
उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः।
करीषमिष्टकाङ्गाराञ्छर्करा वालुकास्तथा॥ २५०॥
यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत्।
तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्॥ २५१॥
एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च॥ २५२॥

गुल्म, बांस, शमी, लता, रामशर, कुब्जक की बेल वगैरह लगावे तो सीमा नहीं बिगड़ती। तालाब, कुआं, बावली, झरना, देवमन्दिर सीमा के मेल पर बनवावे। सीमा के लिए लोक में प्रायः झगड़ा हुआ करता है इसलिए उसके जानने के लिए छिपा चिह्न भी कर रक्खे। पत्थर, हड्डी, गौके बाल, भूसी, राख, ठीकरा, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, रोड़ा, रेता आदि वस्तुओंको जो बहुत दिनों तक ज़मीन में छिपजाने लायक़ न हों उनको सीमाके नीचे रखदेवे। राजा इन चिह्नों से पुराने भोग से, नदी आदि जल मार्ग से, सीमा निर्णय करे॥ २४७–२५२॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः॥ २५३॥
ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः॥ २५४॥

चिह्नों के देखने पर भी अगर कोई संदेह हो तो साक्षी-गवाहों के विश्वास पर निर्णय होगा। वादी, प्रतिवादी, गांवके कुलीन पंचों के सामने सब बातें पूंछे और फ़ैसला करे॥ २५३–२५४॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम्।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः॥ २५५॥

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैः शापिताः स्वैःस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥
यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥
साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८ ॥
सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥
व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥
ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमां संधिषु लक्षणम् ।
तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

वे लोग पूंछने पर जैसा कहें उसीके मुताबिक़ सीमा बांधे और उन पञ्चों का नाम लिखले। वे साक्षी लाल फूलों की माला, लाल वस्त्र पहनकर शिर पर मिट्टी का ढेला रखकर अपने अपने पुण्य की शपथ खाकर ठीक बात कहें । वे सत्य साक्षी यथार्थ निर्णय करने से निष्पाप होते हैं और असत्य निर्णय करें तो दो सौ पण दण्ड उन पर करे । यदि साक्षियों का अभाव हो तो आसपास के चार ज़मींदार धर्म से राजा के सामने सीमा निर्णय करें। यदि ज़मींदार और गांव के पुराने बाशिन्दा सीमा के साक्षी न मिलें तो वनमें रहनेवाले मनुष्यों से पूंछे । व्याध, चिड़ीमार, ग्वाल, मछुए, जड़ खोदनेवाले, कना बीनकर जीनेवाले आदि मनुष्यों से सब बातें निश्चित करे। वे लोग जैसा बतलावें उसी भांति राजा दो गावोंके बीच सीमाका स्थापन करे॥ २५५-२६१॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

खेत, कुआं, तालाव, वगीचा और घरों की सीमा का निर्णय आसपास के गवाहों से करना चाहिए ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक् पृथग्दण्ड्याः राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥
गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥ २६४ ॥
सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥
एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

यदि सीमाके झगड़े में पास के सामन्त झूँठ बोलें तो हर एक को पांच पांच सौ पण दण्ड करे । घर, तालाव, वगीचा वा खेत को डर दिखा कर कोई छीनले तो पांचसौ पण उसपर दण्ड करे और अजान में ले तो दोसौ पण दण्ड करे । सीमा के निर्णय का कोई भी ठीक सबूत न मिले तो धर्मज्ञ राजा स्वयं सीमा को बांध दे यही मर्यादा है इस भांति सब सीमा निर्णय का विषय कहा गया है, अब कठोर वचन का निर्णय कहा जायगा ॥ २६३–२६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥
पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥
एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥

कठोर वचन–गाली आदि का निर्णय ।

ब्राह्मण को क्षत्रिय गाली दे तो सौ पण दण्ड करे, वैश्य को डेढ़ सौ या दो सौ पण दण्ड करे । शूद्र को तो पीटनाही योग्य है । क्षत्रिय को गाली ब्राह्मण दे तो पचास पण, वैश्य को दे तो पचीस और शूद्र को गाली दे तो बारह पण दण्ड करे । द्विजाति अपने समान वर्ण को गाली दे तो बारह पण और गंदी गाली दे तो इसका दूना दण्ड करे । कोई शूद्र, द्विजाति का कठोर वाणी से अपमान करे तो उसकी जीभ काट ले । क्योंकि शूद्र पैर से पैदा हुआ है ॥ २६७–२७० ॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥
धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥
श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥
काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥
मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥ २७६॥
विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः॥ २७७॥
एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम्॥ २७८॥

यदि नाम और जाति को बोलकर द्वेष से द्विजातियों को गाली दे तो उस शूद्र के मुख में अग्नि में तपाई दश अंगुल की कील डाले। शूद्र, अभिमान से द्विजों को धर्मोपदेश करे तो राजा उसके मुख और कान में खौलता तेल छोड़वावे। यदि अभिमान से कहे कि तू वेद नहीं पढ़ा है, अमुक देश का नहीं है, तेरी यह जाति नहीं है, तेरे संस्कार नहीं हुए हैं तो राजा दो सौ पण दण्ड करे। काना, लूला अंधा आदि किसी को सच भी कहे तो एक कार्षापण दण्ड करे। माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, गुरु को गाली देनेवाला और गुरु को मार्ग न छोड़नेवाला सौ पण दण्ड योग्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आपस में गाली दें तो राजा ब्राह्मण पर अढ़ाई सौ और क्षत्रिय पर पांच सौ पण दण्ड करे। वैश्य शूद्र आपस में गाली दें तो वैश्य को साधारण दण्ड और शूद्र की जभि न काटकर कोई दूसरा दण्ड करे इस प्रकार कठोर वचन का दण्ड निर्णय कहा गया है, अब मारपीट का दण्डनिर्णय कहा जायगा॥ २७१–२७८॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्॥ २७९॥
पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति।
पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति॥ २८०॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत्॥२८१॥
अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम्॥ २८२ ॥
केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च॥ २८३ ॥

दण्डपारुष्य–मार पीट का निर्णय।

शूद्र, द्विजों को अपने जिस अङ्ग से मारे उसी अङ्ग को कटवा डाले यही मनुजी की आज्ञा है। हाथ, दंडा उठाकर मारे तो हाथ और कोप से पैर से मारे तो पैर काटने योग्य है। नीच जाति का ऊंची जातिवाले के साथ अभिमान से बैठना चाहे तो उसकी कमर में दागकरके देश से निकाल दे। हीनवर्ण ऊंचे वर्ण के ऊपर थूके तो दोनों ओठ कटवावे, मूते तो लिङ्ग और पादे तो गुदा कटवावे बाल पकड़े, पैर पकड़े, घसीटे, दाढ़ी गर्दन और अण्डकोष में हाथ लगावे तो बिना विचार झट हाथ कटवावे॥ २७९–२८३॥

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः।
मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः॥२८४॥
वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥ २८५॥
मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा॥ २८६ ॥

खाल खींचने और खून निकालने पर सौ पण दण्ड करे। मांस काटे तो छःनिष्क और हड्डी तोड़े तो देशनिकाले की सज़ा करे। संपूर्ण वृक्षों का उपयोग विचार कर उनके काटनेवाले को दण्ड देवे। मनुष्य और पशुओं को मारने पर जैसा अधिक दुःख हो

उसीके अनुसार अपराधी को दण्ड भी दुःखदायी करना चाहिये ॥ २८४-२८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥
द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥
चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च ।
मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥
यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ।
दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥
छिन्नास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥
छेदने चैव यन्त्राणां योक्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

हाथ, पैर आदि अङ्ग तोड़ने वा घायल करनेवाले से उसके अच्छे होने के लिए खर्च दिलवावे अथवा सब प्रकार का दण्ड देय। जो जानकर वा न जानकर किसी की कोई वस्तु बिगाड़े तो उसको दाम वगैरह देकर खुश करे और राजा को उतनाही दण्ड देय। चमड़ा, चाम के पात्र-मशक आदि, काठ और मिट्टी के पात्र, फूल, मूल और फलों की हानि करने पर मूल्य से पाँच गुना दण्ड करे। सवारी सारथि और सवारी के मालिक को दश हालतों में छोड़कर बाक़ी में दण्ड दिया जाता है। नाथ टूटने, जुवा टूटने, नीचे ऊंचे के कारण, टेढ़े वा अड़कर चलने, रथ का धुरा टूटने, पहिया टूटने, रस्सी टूटने, गले की रस्सी टूटने, लगाम टूटने और 'हटो-बचो' आदि कहने पर भी यदि किसी

का नुक़सान होजाय तो मनुजी ने दण्ड नहीं कहा ॥ २८७-२९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥
प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥२९४॥

जहां सारथि के चतुर न होने से रथ इधर उधर चलता है उस से नुक़सान होने पर स्वामी को दो सौ पण दण्ड होना चाहिए। और सारथि चतुर-होशियार हो तो उसीको दो सौ पण दण्ड करे। सारथि कुशल न होने पर जो सवारी करते हैं वे सब सौ सौ पण दण्ड क़ाबिल हैं ॥ २९३-२९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत् प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥
मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥
क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥
गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।
माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥
भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥२९९॥
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥३००॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये॥ ३०१॥

मार्ग में पशु या दूसरी गाड़ी से रुकने पर भी सारथी हाँकते चला जाय और किसीके चोट लग जाय तो राजा तुरंत नीचे लिखा दण्ड करेः—मनुष्य का प्राणघात हुआ हो तो चोर के मुवाफ़िक़ दण्ड गौ, हाथी, ऊंट, घोड़ा आदि बड़े पशुओं का घात होने पर पांच सौ पण दण्ड करे। छोटे छोटे पशुओं की हिंसा होने पर दो सौ पण और मृग, मोर वगैरह सुन्दर पक्षी मर जायँ तो पचास पण दण्ड करे। गधा, बकरी और भेंड़ मरें तो पाँच मापक दण्ड करे। कुत्ता, सुअर मरे तो एक मापक दण्ड करे। स्त्री, पुत्र, दास, शिष्य और छोटा भाई अपराध करें तो रस्सी या बाँस की छड़ी से ताड़न के योग्य हैं, परन्तु इनके पीठ में मारे, शिर आदि में न मारे, नहीं तो चोरके समान दण्ड योग्य होता है। इस प्रकार मार पीट का पूरा निर्णय कहा, अब चोर के दण्ड का निर्णय कहेंगे॥ २६५-३०१॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते॥ ३०२॥

चोर-दण्डनिर्णय।

राजा चोरों को दण्ड देने में सदा पूरा यत्न करे। क्योंकि चोरों के निग्रह से राजा का यश और राज्य वृद्धि को पाता है॥ ३०२॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम्॥ ३०३॥
सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः॥ ३०४॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात्॥३०५॥
रक्षन् धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः॥ ३०६॥
योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥ ३०७॥
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥ ३०८॥

जो राजा अभय देता है वह सदा पूज्य है। उस अभय-दक्षिणा देनेवाले का राज्य खूब बढ़ता है। जो रक्षा करता है उस राजा का सब के धर्म से छठा भाग होता है और जो रक्षा नहीं करता उसका सबके अधर्म में से छठा भाग होता है। जो रक्षाशील है वह प्रजा में जो वेद पढ़ता है, यज्ञ करता है, दान देता है, पूजा-पाठ करता है, सब के छठे भाग का फल पाता है। प्रतिदिन प्राणियों की धर्म से रक्षा और दुष्टों को दण्ड देने से मानो राजा लाखों रुपया की दक्षिणा का यज्ञ कर रहा है और जो राजा प्रजापालन न करके भेंट कर आदि लेता है वह शीघ्रही नरकगामी होता है। इस प्रकार का राजा अन्न का छठा भाग जो लेता है वह सब लोगों का 'पाप लेनेवाला' कहलाता है॥ ३०३-३०८॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम्।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम्॥ ३०९॥
अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च॥ ३१०॥

धर्ममर्यादा से रहित, नास्तिक, प्रजा धन ठगनेवाला और बिना प्रजापालन कर लेनेवाला राजा नरकगामी होता है।

अधर्मी को तीन उपायों से सदा वश में रक्खे–नज़रबंद, क़ैद और बेंत आदि से मारकर ॥ ३०९–३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥
क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥
यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥
राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवं कर्मास्मि शाधि माम्॥३१४॥
स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥
शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥३१६॥

पापियों को दण्ड देने से और साधु पुरुषों का संग्रह करने से राजा पवित्र होता है, जैसे यज्ञ करने से ब्राह्मण पवित्र होता है। कोई वादी—प्रतिवादी और बालक, वृद्ध और पीड़ित मनुष्य अपने दुःख से दुखी होकर कोई कुवचन कह दें तो राजा उनको क्षमा करे। जो आक्षेप वचनों को सहन कर लेता है वह राजा स्वर्ग-गामी होता है और जो ऐश्वर्य के मद से नहीं सहता, वह नरक-गामी होता है। चोर शिर के बाल खोले दौड़कर राजा के पास अपने अपराध को निवेदन करे, खैर की लकड़ी का मूसल या लट्ठ अथवा जिसमें दोनों तरफ़ धार हो ऐसी बरछी या लोहे का दण्डा कंधे पर रखकर दण्ड के लिए प्रार्थना करे। उस हालत में राजा के दण्ड देने वा छोड़ देने से चोर की चोरी का पाप नहीं

लगता। पर उसको दण्ड न करने से उसका पाप राजा को लगता है॥ ३११-३१६॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥३१७॥
राजनिर्धूतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥३१८॥

गर्भघाती का पाप उसके अन्न खानेवाले को, व्यभिचारिणी स्त्री का पाप उसके पति को, शिष्य का पाप गुरु को और यज्ञ करनेवाले का करानेवाले को क्षमा करनें से लगता है। वैसेही छोड़ने से राजा को पाप होता है। पाप करके भी राजदण्ड पाये हुए मनुष्य स्वर्ग को जाते हैं जैसे पुण्य करने से साधु पुरुष जाते हैं॥ ३१७-३१८॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिंद्याच्च यः प्रपाम्।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्चेत्तस्मिन् समाहरेत्॥३१९॥
धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ ३२०॥
तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्॥ ३२१॥
पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥ ३२२॥
पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति॥ ३२३॥

जो पुरुष कूप पर से रस्सी और घड़ा चुरावे या जो पोशाला

को तोड़े उसपर एकमासिक दण्ड करे और वह उस चीज़ को वहीं लाकर रखदे। बीस द्रोण का एक कुम्भ—ऐसे दश कुम्भ अन्न चुराने वाले को खूब पीटे और इससे कम हो तो ग्यारहगुना जुर्माना करे और चोरी का माल उसके मालिक को दिलावे। ऐसेही तराज़ू से तोलने क़ाबिल सोना, चांदी या वस्त्रादि चुराने पर यदि पदार्थ सौ १०० पल से अधिक हो तो चोर को मारडाले। और पचास पल से अधिक हो तो चोर के हाथ कटवा डाले। इससे कम हो तो माल से ग्यारहगुना जुर्माना करे। किसी कुलीन पुरुष या स्त्री के बहुमूल्य जेवर, जवाहिरात चुरानेवाले का कोई अङ्ग काट डालना चाहिए॥ ३१९–३२३॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्॥ ३२४॥
गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छुरिकायाश्च भेदने।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः॥ ३२५॥
सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥३२६॥

बड़े पशु, शस्त्र और औषध चुराने पर समय और अपराध के अनुसार राजा दण्ड करे। ब्राह्मणों की और गौओं की चोरी या छुरी से मारने पर तुरन्त आधा पैर कटवा देना चाहिए। सूत, कपास, मदिरा की गाद, गोबर, गुड़, दही, दूध, माठा, जल और तृण—घास चुराने पर मूल्य से दूना दण्ड करे॥ ३२४–३२६॥

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च।
मृण्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च॥ ३२७॥
मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसम्भवम्॥ ३२८॥

अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः ॥३२९॥
पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥
परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च।
निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥
स्यात्साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापह्नूयते च यत् ॥ ३३२ ॥
यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः।
तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद् गृहात् ॥३३३॥
येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥

बांस के पात्र, निमक, मट्टी के पात्र, मट्टी, राख, मछली, चिड़िया, तेल, घी, मांस, मधु, पशुओं के सींग आदि और ऐसेही दूसरे पदार्थ, मदिरा, भात और सब भांति के पक्वान्न चुराने पर माल के दाम से दूना दाम दण्ड करे। फूल, खेत का हरा अन्न, गुल्म, लता, वृक्ष और धान वगैरह चुराने पर, पाँच 'कृष्णल' दण्ड करे। सफ़ा अन्न, शाक, मूल और फलों का चोर यदि कुटुम्बी न हो तो सौ पण और हो तो पचास पण दण्ड करे। जो पदार्थ जबरन् स्वामी के सामने छीना हो वह साहस-लूट है और जो पदार्थ स्वामी के पीछे लिया हो और क़बूल न करे तो वह चोरी है। ऊपर कहे पदार्थों को जो चुरावें और जो घर से आग चुरावें उन पर प्रथम-साहस, राजा दण्ड करे। चोर, जिस जिस अङ्ग से मनुष्यों की चोरी या मार-काट वगैरह करे, उसका वही अङ्ग शिक्षा देने के लिए राजा कटवा देवे ॥ ३२७-३३४ ॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्यापुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥
कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥
अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित भी यदि अपने धर्म से न चलें तो राजा इनको भी शिक्षा देवे। साधारण मनुष्य को जिस अपराध के लिए एक पण दण्ड करे, उस अपराध में राजा अपने लिए हज़ार पण दण्ड करे, यह मर्यादा है। चोरी करने में शूद्र को आठगुना, वैश्य को सोलह गुना और क्षत्रिय को बीसगुना पाप लगता है। ब्राह्मण को चौंसठगुना वा पूरा सौगुना पाप लगता है। अथवा एकसौ-अट्ठाइस गुना पाप लगता है, क्योंकि ब्राह्मण चोरी के दोष गुण को जानता है ॥ ३३५-३३८ ॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥
योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥
द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

असंधितानां संधाता संधितानां च मोक्षकः।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३४२॥

विना बाड़ा के खेतों से फल, मूल, अग्निहोत्र के लिए काष्ठ, गौओं के लिए घास कोई लेवे तो वह चोरी नहीं कहाती—मनुजी कहते हैं। जो ब्राह्मण परधन हरण करनेवाले को यज्ञ कराकर या शास्त्र पढ़ाकर उससे धन लेना चाहता है, वह ब्राह्मण भी चोर के समान ही है। जीविकाहीन द्विज मार्ग में जाता हुआ किसी के खेत से दो ऊख या दो मूली ले लेय तो दण्ड योग्य नहीं है। दूसरे के खुले पशुओं को बाँधनेवाला और बँधों को खोलनेवाला, दास, घोड़ा और रथ को हरनेवाला चोरी का अपराधी होता है ॥ ३३६–३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।
यशोस्मिन् प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥
साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत साहसिकान् सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

इस प्रकार उक्त विधि से चोरों का निग्रह करने से राजा इस लोक में सुयश और अन्त में अक्षय सुख पाता है। इन्द्रासन और सुयश चाहनेवाला राजा लुटेरे मनुष्यों के निग्रह में क्षणमात्र भी

देरी न करे । कुवाच्य कहनेवाले, चोर और मार-पीट करने वालों की अपेक्षा लुटेरों को अधिक अपराधी जानना चाहिए। जो राजा लुटेरों को क्षमा करता है वह शीघ्रही नष्ट होकर प्रजा का वैरी होजाता है। राजा, किसी मित्र के कहने से वा धन मिलने से भयदायी लुटेरों को कभी न छोड़े ॥ ३४३-३४७ ॥

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

जिस समय यज्ञादि धर्म-कर्म रोका जाता हो, वर्णाश्रम-धर्म का नाश होता हो, उस समय द्विजोंको अस्त्र ग्रहण करना चाहिए। अपनी रक्षा करने में, दक्षिणा की रक्षा में, स्त्री और ब्राह्मणों की विपत्ति में धर्म युद्ध से मारनेवाला पापभागी नहीं होता । गुरु, बालक, बूढ़ा वेदज्ञ ब्राह्मण भी आततायीपन से मारने आवें तो विना विचार उनके ऊपर प्रहार करे ॥ ३४८-३५० ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥
परदाराभिमर्षेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥
तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः।
येन मूलहरो धर्मः सर्वनाशाय कल्प्यते ॥ ३५३ ॥
परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः।

पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥
यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात् किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥ ३५५॥
परस्त्रियं योभिभवेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥ ३५६ ॥
उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सहखट्वाशनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥
स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

परस्त्रीगमन आदि ।

प्रकट या परोक्ष में मारनेवाले आततायी को मारने से कोई दोष नहीं होता, क्योंकि मारनेवाले का क्रोध दूसरे के क्रोध को बढ़ाता है। परस्त्रीसंभोग में लगे मनुष्यों की नाक वग़ैरह काट कर देश से निकाल देवे । संसार में वर्णसङ्करता उसीसे पैदा होती है, क्योंकि अधर्म जड़ काटता है, सर्वनाश कर डालता है। व्यभिचारी पुरुष परस्त्री से एकान्त में बातचीत करता हुआ, प्रथम साहस दण्ड के योग्य होता है । पर साधारण पुरुष किसी परस्त्री से बातें करे तो वह अपराधी नहीं होता न दण्ड ही होता है। जो पुरुष तीर्थ, जङ्गल, वन और नदियों के संगमस्थान में परस्त्री से बातें करता है उसको संभोग-दूषण ही लगता है। परस्त्री को पुष्पमाला, तेल आदि भेजना, हँसी करना, उसके गहने-वस्त्र छूना, एक पलंग पर बैठना, इन सब कामों को स्त्री-संग्रहण जानना चाहिए जो आपस की सलाह से स्त्री के स्तनादि, उसका गुप्त स्थान छुवें यह सब संग्रहण कहलाता है ॥३५१-३५८॥

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।

चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९ ॥
भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥
न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।
निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णदण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥
नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।
सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥
किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् ।
प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

शूद्र ब्राह्मणी के साथ व्यभिचार करे तो मार डालने लायक़ होता है। चारों वर्णवालों को सदा अपनी स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। भिक्षुक, भाट, यज्ञ में दीक्षित, रसोइँया और कारीगर स्त्रियों के साथ बातें विना रोक कर सकते हैं। जिसको निषेध है वह परस्त्री के साथ बातें न करे। करनेवाला एक सुवर्ण दण्ड के योग्य होता है। यह निषेध-मनादी नट, गवैया आदि की स्त्रियों के लिए नहीं है, क्योंकि वे आपही अपनी स्त्रियों को सजाकर परपुरुषों से मिलाते हैं। परन्तु उनके साथ भी निर्जन में बातें करना दण्डकारक है और एकभक्ता या विरक्ता स्त्री के साथ भी बोलचाल करने से कुछ दण्ड करे ॥ ३५९-३६३ ॥

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।
सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥
कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् ।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥
उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।

शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत् पिता यदि ॥ ३६६ ॥

जो इच्छा न करनेवाली कन्या से गमन करे, वह उसी समय वध के योग्य है । पर चाहनेवाली के साथ गमन करे और वह पुरुष सजातीय हो तो वध योग्य नहीं होता । उत्तम जाति के पुरुष को सेवन करनेवाली कन्या पर कुछ भी दण्ड न करे । परन्तु नीच जाति के साथ गमन करती हो तो उसको घर में बंद रक्खे । नीच जाति का पुरुष उत्तम जाति की कन्या से भोग करे तो वध के योग्य है और समान जाति की कन्या को भोगता हो तो वह पुरुष कन्या के पिता को आज्ञा से मूल्य देकर विवाह भी कर सकता है ॥ ३६४–३६६ ॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः ।
तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥
सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् ।
द्विशतं तु दमो दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥
कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥ ३६९ ।
या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।
अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥
भर्तारं लङ्घयेद् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ।
पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ।

जो मनुष्य अभिमान और बलात्कार से कन्या को अङ्गुलियों से बिगाड़े उसकी दोनों अङ्गुलियां कटवा दे और छः सौ पण दण्ड

करे। समान जाति और सकामा कन्या को दूषित करनेवाले की अङ्गुलियां न कटावे, सिर्फ़ दो सौ पण दण्ड करे। कन्या ही कन्या को अङ्गुलियों से बिगाड़े तो उस पर दो सौ पण दण्ड करे और उस कन्या के पिता से फ़ाज़िर दूना मूल्य दिलवावे और दस कोड़े लगवावे। यदि कोई स्त्री कन्या को अङ्गुलियों से बिगाड़े तो उसका शिर मुड़वा कर वा दो अङ्गुलियां काटकर, गधेपर चढ़ाकर घुमावे। जो स्त्री अपने रूप, गुण के घमंड से पति का तिरस्कार करके व्यभिचार करे, उसको राजा सब के सामने कुत्तों से नोचवावे और जो व्यभिचारी पापी हो उसको तपाये लोह के पलंग पर सुलाकर ऊपर से काठ रखकर जलवादे॥ ३६७-३७२॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु॥३७३॥
शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते॥ ३७४॥

एक वर्ष तक व्यभिचार करता रहे तो उस दुष्ट को उक्त दण्ड दूना होना चाहिए। हीन जाति या चाण्डाली के साथ व्यभिचार करे तो भी वही दण्ड करे। शूद्र, ब्राह्मणस्त्री से गुप्त या प्रकट व्यभिचार करे तो उसका अंग काटडाले, सर्वस्वहरण करे॥३७३-३७४॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति॥३७५॥
ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम्॥ ३७६॥
उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह।
विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना॥३७७॥
सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्।

शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः॥३७८॥

वैश्य रक्षित ब्राह्मणी से गमन करे तो एक वर्ष क़ैद करके उसका सर्वस्वहरण करे। क्षत्रिय करे तो एक हज़ार पण दण्ड करे और उसका शिर गधे के मूत से मुड़वा देय। वैश्य और क्षत्रिय, यदि अरक्षित ब्राह्मणी से गमन करें तो वैश्य पर पांच सौ और क्षत्रिय पर हज़ार पण दण्ड करे। वेही दोनों यदि रक्षित ब्राह्मणी से गमन करें, शूद्र की भांति दण्ड पावें अथवा चटाई में लपेट कर जलवा दें। रक्षित ब्राह्मणी से ज़बरदस्ती व्यभिचार करनेवाले ब्राह्मण पर हज़ार पण दण्ड करे और इच्छावाली से गमन करे तो पाँच सौ पण दण्ड करे॥ ३७५-३७८॥

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत्॥ ३७९॥
न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं वहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम्॥ ३८०॥
न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥ ३८१॥
वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः॥ ३८२॥

ब्राह्मण का शिर मुड़ा देनाही प्राणान्त दण्ड देना है दूसरों को प्राणान्त दण्ड का विधान है। कैसा भी अपराध ब्राह्मण ने किया हो पर उसको प्राणान्त दण्ड कभी न देवे। किन्तु उसको धन सहित देश से निकाल देवे। ब्राह्मण वध से अधिक कोई अधर्म नहीं है। राजा, ब्राह्मण वध का कभी मन में भी विचार न करे। वैश्य क्षत्रिया से और क्षत्रिय रक्षित वैश्या से व्यभिचार करे तो इन दोनों को अरक्षित ब्राह्मणी से व्यभिचारवाला दण्ड देना चाहिए॥ ३७९-३८२॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः॥ ३८३॥
क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः।
मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा॥ ३८४॥
अगुप्ते क्षत्रिया वैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यःस्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्॥ ३८५॥

यदि ब्राह्मण रक्षित क्षत्रिया वा वैश्या से गमन करे तो उस पर हज़ार पण दण्ड करे और रक्षित शूद्रा में गमन करनेवाले क्षत्रिय और वैश्य पर भी हज़ार पण दण्ड करे। अरक्षित क्षत्रिया में गमन करने से वैश्य पर पाँच सौ पण और क्षत्रिय का मूत्र से मूड़ मुड़ाकर, पाँच सौ पण दण्ड करे। यदि ब्राह्मण, अरक्षित क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा से व्यभिचार करे तो पाँच सौ पण दण्ड करे। और चाण्डाली-भंगिनसे गमन करने पर हज़ार पण दण्ड करे॥ ३८३-३८५॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥ ३८६॥
एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥ ३८७॥
ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक् त्यजेद्यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम्॥ ३८८॥
न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥ ३८९॥
आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः।
न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः॥ ३९०॥

'जिस राजा के नगर में न चोर हैं, न व्यभिचारी हैं, न कुवाच्य कहनेवाले हैं, न लुटेरे हैं, और न मार-पीट करनेवाले हैं वह राजा इन्द्रलोक को पाता है। इन पाँचों का अपने राज्य में निग्रह करने से राजा का राज्य और यश फैलता है। जो यजमान अपने कर्म करानेवाले निर्दोष ऋत्विज् को त्याग दे या जो ऋत्विज् योग्य यजमान को छोड़ दे उन दोनों पर राजा सौ सौ पण दण्ड करे। माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्याग के योग्य नहीं होते। इनको पतित न हों तो त्यागनेवाले पर राजा छः सौ पण दण्ड करे। आश्रम-धर्म के लिए झगड़नेवाले द्विजों का राजा कोई फ़ैसला न करे। वे खुद कर लेंगे ॥ ३८६–३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥
प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ।
अर्हावभोजयन् विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥
श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥
अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥ ३९४ ॥
श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत् सदा ॥ ३९५ ॥

किन्तु अपने सभासदों के साथ इनकी यथोचित पूजा करके प्रथम समझावे फिर स्वधर्म का आदेश करे। यदि कोई उत्सव हो और बीस ब्राह्मणों के भोजन का प्रबन्ध हो तब पड़ोसी और आने जानेवाले हिती को न जिमावे तो उस पुरुष पर एक माषक दण्ड करे। किसी मङ्गलकार्य में वेदज्ञ ब्राह्मण, साधु आदि को भोजन न देने से उसको दूना अन्न और सोना का एक माषक देना होगा।

अन्धा, वहिरा, लूला, सत्तर वर्ष का बूढ़ा और श्रोत्रिय से राजा कोई कर न लेवे। श्रोत्रिय, रोगी, दुःखी, बालक, बूढ़ा, निर्धन, महाकुलीन, और महात्मा पुरुष की तरफ़ राजा सदा आदर-दृष्टि रक्खे ॥ ३९१-३९५ ॥

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥ ३९६ ॥
तन्तुवायो दशफलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३९७॥
शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

धोवी सेमर के चिकने पाट पर धीरे धीरे कपड़े धोवे, कपड़ों को वदले नहीं और न बहुत दिनों तक पड़ा रक्खे। जुलाहा दश पल सूत लेकर मांड़ी के संबंध से ग्यारह पल कपड़ा देवे। यदि खिलाफ़ करे तो उस पर राजा बारह पण दण्ड दिलावे। जो पुरुष चुंगी वगैरह के कामों में चतुर और हर प्रकार के व्यापारों में प्रवीण हों, उन सौदागरों के लाभ का बीसवाँ भाग राजा ग्रहण करे ॥ ३९६-३९८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥
शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥
आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥
पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।

कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः॥ ४०२॥
तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥ ४०३॥

राजा अपने देश के जिन प्रसिद्ध वस्तुओं को परदेश में व्यापारार्थ जाने से रोके उनको लोभवश कोई लेजाय तो राजा उसका सर्वस्व छीन लेय। चुंगीघर से छिपानेवाला, असमय में खरीद्-बेंच करनेवाला, गिनती-तोल में झूँठ बोलनेवाला वस्तु के मूल्य से आठ गुणा दण्ड के योग्य होता है। माल कहां से आया है, कहां जाता है, कितने दिन पड़ा रहा है, उसमें हानि वा लाभ क्या होगा, यह सब विचार कर खरीद्-बेंच का भाव तै करे। पाँच पाँच दिन अथवा पाँच पाँच पक्ष बीतने पर राजा माल का भाव व्यापारियों के सामने नियत करे। तराज़ू के बांट और गज़ वग़ैरह पर अपनी मोहर लगाकर ठीक रक्खे और छठे महीना उनकी जांच किया करे॥ ३९९-४०३॥

पणं यानं तरेदाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान्॥ ४०४॥
भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥४०५॥
दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥ ४०६॥

पुल, नदी का महसूल।

नदी पार करने में खाली गाड़ी का एक पण, भार सहित मनुष्यों का आधा पण, पशु और स्त्री का चौथाई पण और खाली मनुष्य से पणका आठवाँ भाग महसूल लेय। मालभरी गाड़ी पार उतरने का महसूल बोझा के अनुसार लेय और खाली सवारी

और गरीबों से थोड़ा सा लेय । लम्बी उतराई का महसूल देश-काल के अनुसार होगा। यह नदीतट का नियम है । समुद्र के लिए कोई निश्चय नहीं हो सकता ॥ ४०४-४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥
यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥
एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥

दो महीना से अधिक की गर्भिणी, वानप्रस्थ, संन्यासी और ब्राह्मण, ब्रह्मचारी नदी पार जाने की उतराई न दें। नाव में मल्लाहों के दोष से जो कुछ हानि हो, वह मल्लाह लोग इकट्ठा होकर अपने भाग में से देवें। यह नौका से नदी पार होने का निर्णय और जल में मल्लाहों के व्यवहार का निर्णय कहा है । यदि कोई दैवी वि-पत्ति आपड़े तो उस में कोई दण्डविधान नहीं है ॥ ४०७-४०९ ॥

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥
क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥
दास्यं तु कारयंल्लोभाद् ब्राह्मणः संस्कृतान् द्विजान् ।
अनिच्छतःप्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥
शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा ॥ ४१३ ॥

न स्वामिना निसृष्टोपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति॥ ४१४॥

राजा वैश्यों से व्यापार, व्याज, खेती और पशुरक्षा का उद्यम करावे। और शूद्रों से द्विजोंकी सेवा करावे। जीविका से रहित क्षत्रिय और वैश्यों से ब्राह्मण अपना कर्म करावे और उनका पालन करे। यदि धनी ब्राह्मण लोभवश उत्तम द्विजों से सेवाकर्म करावे तो उसपर राजा छ सौ पण दण्ड करे। खरीदे वा विना खरीदे शूद्रों से सेवाही करावे क्योंकि ब्रह्मा ने शूद्रों को दासकर्म के लिएही पैदा किया है। स्वामी से छुड़ाया हुआ भी शूद्र दासकर्म को नहीं छोड़ सकता क्योंकि वह उसका स्वाभाविक धर्म है॥ ४१०-४१४॥

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः॥ ४१५॥
भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधमाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ ४१६॥
विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्।
न हि तस्यास्ति किंचित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः॥४१७॥

युद्ध में जीतकर लाया हुआ, भक्त दास, दासीपुत्र, खरीदा हुआ, किसी का दिया हुआ, परंपरा से प्राप्त और दण्ड-शुद्धि के लिए जिसने दासपना किया हो, ये सात प्रकार के दास होते हैं। भार्या, पुत्र और दास इन तीनों को मनुने निर्धन कहा है, ये जो धन पाते हैं, वह उसका है जिसके ये होते हैं। ब्राह्मण को अपने दास शूद्र से विना विचार धन ले लेना चाहिए उसका धन कुछ नहीं है क्योंकि दास के धन का मालिक उसका मालिक ही है॥ ४१५-४१७॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।

तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥४१८॥
अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान् तान् वाहनानि च।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोशमेव च ॥ ४१९ ॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

राजा यत्नपूर्वक वैश्य और शूद्रसे उनके कर्मों को करावे क्योंकि वे अपने कर्म से हटकर संसार को उपद्रवों से दुखी करेंगे। राजा प्रतिदिन आरम्भ किये कार्यों का, सवारियों का, नियत आय-व्यय, खान और धन-भण्डार का अवलोकन करे। इसप्रकार राजा इन सब व्यवहारों का निर्णय करताहुआ सब पापों का नाश करके परम गति को पाता है॥ ४१८-४२० ॥

आठवां अध्याय पूरा हुआ।

अथ नवमोऽध्यायः ।

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥
अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥
कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥
सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥
इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

नवां अध्याय ।

स्त्री-रक्षा ।

अपने सनातन धर्म में स्थित पुरुष और स्त्रियों के संयोग और वियोग समय के धर्म कहे जाते हैं:—

पुरुष को अपनी स्त्रियों को कभी स्वतन्त्र न होने देना चाहिए । नाच गान में आसक्त स्त्रियों को अपने वशमें रखना चाहिए । बालकपन में पिता, युवावस्था में पति और बुढ़ापा में पुत्र रक्षा करें,

स्त्री स्वतन्त्र होने योग्य नहीं है। समय पर कन्यादान न करने से पिता, ऋतुकाल में सहवास न करने से पति और पिता के बाद माता की रक्षा न करने से पुत्र निन्दा का पात्र होताहै। साधारण कुसंगों से भी स्त्रियों को बचावे क्योंकि अरक्षित स्त्रियां दोनों कुलों को दुःख देती हैं। इसप्रकार संपूर्ण वर्णों का धर्म है। दुर्बल पति भी अपनी स्त्रियों की रक्षा का उपाय करते हैं॥ १-६॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥ ७॥
पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥ ८॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात्प्रजाविशुध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः॥ ६॥
न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥ १०॥

स्त्रियों की रक्षा करने से पुरुष अपनी संतान को वर्णसङ्कर होने से बचाता है, अपने चरित्र को निर्दोष रखता है, अपने कुल की मर्यादा बढ़ाता है, अपनी और अपने धर्म की रक्षा करता है। पति स्त्री में वीर्यरूप से प्रवेश करके जगत् में पुत्ररूप से जन्म लेता है। अपनी स्त्री में फिर जन्मता है इसीसे स्त्री जाया कहलाती है। जैसे पुरुष को स्त्री सेवन करती है उसी भांति का पुत्र पैदा करती है। इसलिए प्रजा की पवित्रता के लिए स्त्री की रक्षा यत्नपूर्वक करे। कोई बलात्कार से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन उपायों से उनकी रक्षा कर सकता है॥ ७-१०॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥ ११॥

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥
पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

धन-संग्रह, खर्च, सफ़ाई, पतिसेवा, धर्म, रसोई और घरके सँभाल में स्त्री को लगावे । विश्वास पात्र मनुष्यों से घरमें रखवाली कराने से रक्षित नहीं होती किन्तु जो अपनी रक्षा आपही करे वही सुरक्षित होसकती हैं । मद्यपान, दुर्जनसंग, पति से वियोग, घूमना, सोना, दूसरे के घर रहना ये छः भांति के स्त्रियों में दूषण होते हैं । व्यभिचारिणी स्त्रियां रूप और अवस्था को नहीं देखतीं; केवल पुरुष देखकर ही मोहित होजाती हैं; वह कुरूप हो या सुरूप ॥ ११-१४ ॥

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥
शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥
नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मो व्यवस्थितः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

व्यभिचारिणी होनेसे, चित्तकी चञ्चलतासे, स्वभावसे रूखापनसे,

स्त्रियां रक्षित होनेपर भी अपने पति से विमन रहती हैं । ब्रह्मा के रचे, ऐसे स्त्रियों के स्वभाव जानकर उनकी रक्षा का खूब उद्योग करे। सोना, बैठे रहना, गहनेपर प्रेम, काम, क्रोध, खुदतपना, दूसरों से द्रोह और दुराचार ये स्त्रियों में स्वभाव से पैदाहैं—ऐसा मनु ने कहाहै। स्त्रियों के जातकर्मादि संस्कार मन्त्रों से नहीं होते इसलिए वे धर्मरहित होती हैं। असत्य के समान हैं—यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है ॥ १५-१८ ॥

तथा च श्रुतयो वह्वयो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥
यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।
तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥
ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।
तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥
यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥

व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वभाव की परीक्षार्थ वेदों में बहुत श्रुतियां पठित हैं । उनमें जो व्यभिचार के प्रायश्चित्तभूत हैं उन को सुनो। कोई पुत्र माता का मानस व्यभिचार जानकर कहताहै-जो मेरी माता अपतिव्रता हुई परपुरुष को चाहनेवाली थी, उस दुष्टता का मेरा पिता शुद्ध वीर्यसे शोधन करे-यह एक नमूना है। स्त्री अपने मनमें पतिके लिए जो अशुभ चिन्तन करती है (मानसिक व्यभिचार) उसका प्रायश्चित्तरूप मन्त्र पुत्रको शुद्ध करने वालाहै, माता को नहीं। जिस गुणवाले पति के साथ स्त्री विवाह करके रहे वैसेही गुणवाली वह होजाती है, जैसे समुद्र के साथ नदी खारी होजाती है ॥ १९-२२ ॥

अक्षमाला वशिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।

शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥
एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान् प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

अक्षमाला—अधम जाति की स्त्री वशिष्ठ को विवाहित होने से पूज्य हुई। शारंगी पक्षीजाति की मन्दपाल को विवाहित होने से पूज्य हुई। ये और दूसरी भी स्त्रियां इस लोक में अपने पतियों के गुणों के कारण उन्नति को पहुँची हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों का उत्तम लौकिक आचार कहा गया है। अब लोक, परलोक में सुख देनेवाले सन्तानधर्म को सुनो ॥ २३–२५ ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥
व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

ये स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करने के लिए बड़ी भाग्यवती, सत्कार योग्य और घर की शोभा हैं। स्त्रियों से और लक्ष्मी में कोई भेद

नहीं है। दोनों समान हैं। सन्तान पैदा करना, इनका पालन, अतिथि, मित्र आदि का लौकिक आदर-भोजन का निर्वाह स्त्री से ही हो सकता है यह प्रत्यक्ष है। सन्तान, धर्मकार्य, अतिथि-सेवा, अच्छा काम सुख, अपने और पितरों को स्वर्ग-प्राप्ति स्त्री के अधीन है। जो स्त्री मन, वाणी और शरीर को वश में रखकर पति के अनुकूल रहती है वह पतिलोक पाती है और जगत् में साध्वी कही जाती है। और पति के विरुद्ध करने से लोक में निन्दा पाती है। सियार की योनि में जन्म लेती है और बुरे रोगों से दुःखी होती है॥ २६-३०॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत॥ ३१॥
भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः॥ ३२॥
क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम्॥ ३३॥
विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते॥ ३४॥
बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता॥ ३५॥
यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन् बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः॥ ३६॥
इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते।
न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु॥ ३७॥
भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः।

नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

प्राचीनकाल के महात्मा—महर्षियों ने जो पुत्र को कहा था, उस विश्वहितकारी, पवित्र विचार को सुनो—

क्षेत्र-बीजनिर्णय ।

मुनिगण उत्पन्न पुत्र को भर्ता का मानते हैं। परन्तु भर्ता के विषय में दो प्रकार की श्रुति हैं—पहला मत है—पुत्र जिसके वीर्य से हुआ हो उसका माना जाता है। दूसरा मत है—जिसकी स्त्री में पैदा हो उसका होता है । स्त्री क्षेत्ररूप और पुरुष बीजरूप कहा है, इस क्षेत्र और बीज के संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति है। कहीं बीज और कहीं क्षेत्र श्रेष्ठ माना जाता है। पर जिसमें दोनों समान हों वह सन्तान श्रेष्ठ है। बीज और क्षेत्र में बीज उत्तम गिना जाता है, क्योंकि—सब प्राणियों की उत्पत्ति में बीज के रूप, रंग देखने में आते हैं। समय पर जैसा बीज खेत में बोया जाता है, उसी भांति का गुण पैदा हुए में आता है। यह भूमि प्राणियों की सनातन-योनि कही जाती है । परन्तु बीज अपने खेत के गुणों को धारण नहीं करता। किसान लोग एक ही भांति के खेत में समय पर अलग अलग बीज बोते हैं और वे अपने स्वभाव से भांति भांति के उत्पन्न होते हैं अर्थात् एक ही भूमि होने से एकसे नहीं होते ॥ ३१-३८ ॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥
अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥
तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥
अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।

यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

धान, साठा, मूंग, तिल, उड़द, जव, लसुन और ईख बोने पर अपने बीज के अनुसार ही उगते हैं। बीज दूसरा, वृक्ष दूसरा उगे यह नहीं होता। जो बीज होता है, उसीका वृक्ष पैदा होता है। इसलिए बुद्धिमान्, विनीत, ज्ञान-विज्ञान-विशारद को परस्त्री में बीज न बोना चाहिए। प्राचीन इतिहास के ज्ञाता ऋषि इस विषय में वायु की गाई गाथा गाते हैं—परस्त्री में पुरुष को बीज न बोना चाहिए ॥ ३९-४२ ॥

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥
पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥
एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥
न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

जैसे दूसरे के वेधे मृग को फिर मारने से बाण निष्फल होता है, ऐसे परस्त्री में बोया बीज शीघ्र निष्फल होता है। इस पृथिवी को जो पहले राजा पृथुकी भार्या थी, अब भी लोग पृथुकी भार्या ही जानते हैं। जो वृक्ष काटकर साफ़ करता है उसका खेत और जिसका पहले बाण लगे उसका वह मृग कहलाता है। स्त्री आप और सन्तान ये तीनों मिलकर एक पुरुष कहलाता है। वेदज्ञ ब्राह्मण भी कहते हैं कि जो भर्ता है वही भार्या है *। बेंचने वा छोड़ने से

* शतपथब्राह्मण में श्रुति है—'अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते, असर्वो हि तावद्भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति'।

भार्या अपने पति से नहीं छूटती। ऐसी धर्ममर्यादा, प्रजापति की रची हम जानते हैं॥ ४३–४६॥

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥ ४७॥
यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि॥ ४८॥
येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः।
ते वै शस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित्॥ ४९॥
यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम्।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम्॥ ५०॥
तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम्॥ ५१॥

भाइयों का बँटवारा एक बार ही होता है। कन्यादान एक बार होता है और दान भी एकही बार कहने से होजाता है—सत्पुरुष इन तीन बातों को एकबार ही करते हैं। जैसे गौ, घोड़ी, ऊंटनी, दासी, भैंस, बकरी और भेड़ आदि में सन्तान पैदा करने वाला उस सन्तान का स्वामी नहीं माना जाता, ऐसेही परस्त्री में सन्तान का भागी नहीं होता। जो क्षेत्र स्वामी न होकर, बीज बोनेवाले हों, वे उस खेत के अन्नादि फल को नहीं पासकते हैं। एक बैल दूसरे की गायों में सैकड़ों बछड़े पैदा करता है, वे गौ वालों के होते हैं और बैल का वीर्य निष्फल जाता है, वैसे ही परक्षेत्र में बोनेवाले खेतवाले का काम करते हैं, बीजवाला फल नहीं पाता॥ ४७–५१॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा।

प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥
क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥
ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति।
क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

खेत और बीजवालों में कोई ठहराव न हो तब तक सन्तान खेतवाले की प्रत्यक्ष मानीजाती है। क्योंकि—बीज से खेत ही प्रधान है। क्षेत्र में जो सन्तान होगी, वह हम दोनों की होगी—ऐसा ठहराव हुआ हो तो सन्तान क्षेत्र और बीज दोनों की होगी। जो बीज जल के वेग वा वायु से गिरकर दूसरे के खेत में पैदा हो, उसके फल का भागी खेतवाला होता है बोनेवाला नहीं ॥ ५२-५४ ॥

एव धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च।
विहंगमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥
एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥५७॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥
देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।

एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।
अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥
विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

यह व्यवस्था गौ, घोड़ी, दासी, ऊंटनी, वकरी, भेड़, पक्षी और भैंस की संतति में जाननी चाहिए। इस प्रकार वीज और योनि की प्रधानता और अप्रधानता का विषय कहा गया अब स्त्रियों का आपद्धर्म कहा जाता है।

स्त्रियों का आपद्धर्म, नियोग।

बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई को गुरुपत्नी के समान और छोटे भाई की स्त्री बड़े भाई को पुत्रवधू के समान कही है। आपत्तिकाल न हो अर्थात् पुत्र हो तो बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ नियोगविधि से गमन करे तो दोनों पतित होते हैं। सन्तान न हो तो नियोग की हुई स्त्री देवर या सपिण्डपुरुष से अभीष्ट सन्तान प्राप्त करे। विधवा स्त्री के साथ नियोग करनेवाला शरीर में घी लगाकर मौन होकर रात्रि में भोग करे और इस भांति एक ही पुत्र पैदा करे, दूसरा कभी न करे। नियोगविधि के ज्ञाता कोई ऋषि एक पुत्र से नियोग का प्रयोजन सिद्ध न होते देखकर दूसरा पुत्र पैदा करना भी धर्म मानते हैं। शास्त्र की रीति से विधवा स्त्री में नियोग का प्रयोजन हो जाने पर छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री से माता और बड़ा भाई छोटे की स्त्री से पुत्रवधू के समान वर्ताव करे॥ ५५-६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥
ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥
यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

यदि नियोग करनेवाले दोनों शास्त्रविधि को छोड़कर मनमाना व्यवहार करें तो पतित होते हैं। और पुत्रवधू गुरुपत्नी के साथ गमन करनेवाले माने जाते हैं। द्विजातियों को विधवा स्त्री का नियोग दूसरे वर्णवाले से न करना चाहिए। अन्य जाति से नियोग की हुई स्त्रियाँ धर्म का नाश कर डालती हैं। विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में कहीं नियोग नहीं कहा है और विधवा का पुनर्विवाह भी कहीं नहीं कहा है। यह नियोगविधि * राजा वेन के राज्य में

* नियोग और विधवा-विवाह वेद-स्मृति से विरुद्ध है। इसी लिए वेन के समय में प्रचलित नियोग का मनुने खण्डन किया है। दूसरी स्मृतियों से दश-पांच श्लोक विधवाविवाह के विषय में नवीन मतवाले प्रमाण देते हैं और ऋग्वेद वा अथर्व के दो चार मन्त्र भी प्रमाण में उपस्थित करते हैं। पर वे सब दूसरे अभिप्राय के हैं, कोई भी विधवाविवाह वा नियोग को सिद्ध नहीं करते।

'उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ।' ऋग्वेद, १०।१८।८।

'उतयत्पतयो दशास्त्रियाःपूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा।' अथर्व० ५।४।१७ इत्यादि मन्त्रों से सब कुछ सिद्ध करते हैं। परन्तु इनका प्रसङ्ग, सम्बन्ध, अर्थ दूसरा ही है। श्रीभीमसेनकृत 'विधवा-विवाहमीमांसा' में विस्तार से लिखा गया है।

प्रचलित हुई थी। परन्तु विद्वान् द्विजों ने इस पशुधर्म की निंदा की है। राजर्षि वेन जब सारी पृथ्वी पर राज्य करता था, उस समय कामवासना से नष्टबुद्धि होकर वर्णसङ्करता फैलाई थी। तब से जो पुरुष विधवा स्त्री का सन्तान के लिए नियोग करता है उसकी साधु पुरुष निंदा करते हैं। जिस कन्या का पति वाग्दान करने बाद मर जाय तो उसको उस का देवर इस भांति स्वीकार करे ॥ ६३-६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥
न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद् विचक्षणः ।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥
विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥
यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।
तस्य तद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥
विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥
विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥
प्रोषितो धर्मकामार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥७
संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥

श्वेत वस्त्र पहने मन, वाणी, शरीर से शुद्ध उस कन्या के साथ उसका देवर * गमन करे और सन्तान होने तक ऋतुकाल में उक्तरीति से एक एक बार गमन करे। चतुर पुरुष एक बार कन्या देकर फिर दूसरे को न दे, क्योंकि एक बार वाग्दान करके दूसरे को देने से चोरी का पाप लगता है। जो कन्या रोगी, दुष्ट और छल से दी गई हो, उसको विधिपूर्वक ग्रहण करके भी त्याग देवे। जो दोषवाली कन्या का बिना दोष कहे विवाह कर दे उस दुरात्मा पुरुष के दानको त्याग दे। कार्यवश विदेश जाने वाला मनुष्य स्त्री के भरण पोषण का प्रबन्ध करके जाय। क्योंकि सदाचारी स्त्री भी अन्न-वस्त्र के लिए दुखी होकर बिगड़ जाती है। प्रबन्ध करके पति के विदेश जाने पर स्त्री नियम से रहे, शृङ्गार आदि न करे। और प्रबन्ध बिना किए चला गया हो तो सीना कातना आदि उद्यम से निर्वाह करे। पति, धर्मकार्य के लिए विदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या, यश के लिए गया हो तो छः वर्ष और सुख के लिए गया हो तो तीन वर्ष बाट देखकर पति के पास चली जाय। दुःखदायी स्त्री की पति एक वर्ष प्रतीक्षा करे। उसके बाद आभूषणादि छीनकर उसके साथ न रहे॥ ७०-७७॥

अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा।
सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा॥७८॥
उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥७९॥

---

* 'कुहस्विद्दोषा कुहवस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। कोवांशयुत्रा विधिवेवदेवरंमर्य्यंन योपा कृणुते सधस्थआ।' ऋ० मं० १०; सू० ४०। मं०२।

इसी श्रुति के अभिप्राय से, वाग्दान के बाद मर जाने पर देवर के साथ विवाह मनु ने लिखा है। इसका अर्थ नियोग नहीं है। यह मत सर्वदेशी है।

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वदा॥ ८०॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्री जननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ ८१॥
या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्॥८२॥
अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात्।
सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ॥८३॥
प्रतिषिद्धापि चेद्यातु मद्यमभ्युदयेष्वपि।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्॥८४॥
यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः।
तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च॥८५॥

जो स्त्री अपने जुआरी, मद्यप और रोगातुर पति की सेवा न करे उसके भूषण आदि लेकर तीन महीने के लिए त्याग दे। परन्तु जो पागल, पतित, नपुंसक, बीजहीन, पापरोगी भी अपने पति की सेवा करे उसको न त्यागे, न कोई चीज़ छीने। जो स्त्री मद्यप, दुराचारिणी, उलटा वर्ताव करनेवाली, रोगिणी मार पीट करनेवाली, फ़िज़ूल खर्च करनेवाली हो उसके जीतेही दूसरा विवाह करलेवे। ऋतुकाल से आठ वर्ष तक वंध्या रहे, दशवर्ष तक बालक होकर मरते जायँ, कन्या उत्पन्न होते ग्यारह वर्ष होजायँ और स्त्री कटुभाषी हो तो दूसरा विवाह करलेवे। परन्तु जो रोगी होकर भी पति का हित करे, सुशीला हो तो उसकी संमति से दूसरा विवाह करे और उसका अपमान कभी न करे। दूसरी स्त्री के आने पर पूर्व स्त्री रूठकर घरसे निकल जाती हो तो उस को रोके या सब के समक्ष त्याग दे। उत्सवों के

समय मना करने पर भी जो स्त्री मद्यपान करे, गान आदि में शरीक हो, उस पर छः कृष्णल दण्ड राजा करे। कोई द्विज अपनी या दूसरी जाति की स्त्री से विवाह करे तो उस की जाति मर्यादा के अनुसार आदर, आभूषण, घर का प्रबन्ध करे॥ ७८–८५॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम्।
स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन॥ ८६॥
यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः॥ ८७॥

उन स्त्रियों में जो अपनी जाति की हों वे पतिसेवा और धर्मकर्म करें; दूसरे जाति की कभी न करें। पर जो मूर्खता से अपनी जाति की स्त्री रहते दूसरी से कर्म कराता है उसको चाण्डाल समान जाने–यह ऋषियों ने कहा है॥ ८६–८७॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥ ८८॥
काममामरणात्तिष्ठेत् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥
अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति॥ ९१॥
अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत्॥ ९२॥

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥

कन्या-विवाह ।

कुलीन, सुंदर और समान जाति का वर मिले तो पिता विवाह-योग्य अवस्था न होने पर भी शास्त्ररीति से कन्यादान कर दे। कन्या को ऋतुमती होने पर भी मरणपर्यन्त बैठी रक्खे पर गुणहीन वर को कभी दान न करे। यदि पिता गुणी वर मिलने पर विवाह न करे और कन्या ऋतुमती होती हो तो वह तीनवर्ष तक प्रतीक्षा करके अपनी इच्छानुसार पति से विवाह कर ले। जिस कन्या का विवाह पिता न करता हो वह यदि स्वयं विवाह कर ले तो कन्या पुरुष को कोई दोष नहीं लगता। स्वयं वर को स्वीकार करनेवाली कन्या पिता-माता या भाई का दिया आभूषण न ले; अगर ले तो चोर है। ऋतुमती कन्या का विवाह करनेवाला उसके पिता को धन न दे। क्योंकि ऋतुकाल में सन्तान का रोक पिता के कारण होनेसे उसका हक़ जाता रहा ॥ ८८-९३ ॥

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥
देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः ।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥
प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥
कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥

तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की सुन्दरी कन्या से विवाह करे। या चौबीस वर्ष का आठवर्ष की कन्या से करे। और अग्निहोत्रादि

धर्म का नाश होता हो तो शीघ्रही करले। पति देवताओं की दी हुई स्त्री को पाता है अपनी इच्छा से नहीं * इसलिए देवताओं के प्रीत्यर्थ उस सती का पालन पोषण नित्य करे। ईश्वर ने गर्भ-धारणार्थ स्त्रियों को रचा और सन्तान पैदा करने को पुरुष रचा इसलिए स्त्री-पुरुष साथ में धर्माचरण करें—यह वेद में कहा है। आसुरविवाह के लिए कन्या का मूल्य दिया हो और उसका पति मर जाय तो कन्या की इच्छा से देवर का विवाह कर दे॥ ६४–६७॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम्॥ ९८॥
एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते॥ ९९॥
नानुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम्॥ १००॥
अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ १०१॥

कन्यादान में शूद्र भी धन न ले। जो लेता है वह छिपा हुआ कन्या बेचता है। यह कर्म पहले सत्पुरुषों ने नहीं किया और न इस समय करते हैं जोकि एक को कन्यादान करके दूसरे को दीजावे। पूर्व कल्पों में भी कन्या-विक्रय नहीं सुना गया। स्त्री-पुरुष मरण पर्यन्त आपस में प्रेमपूर्वक रहकर धर्म आदि चतुर्वर्ग फल को प्राप्त करें। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों का परम-धर्म संक्षेप से कहा गया है॥ ९८–१०१॥

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्॥ १०२॥

* मन्त्र है:—'भगो अर्यमा सविता पुरंध्रिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।' इत्यादि।

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥

स्त्री-पुरुष विवाह करके ऐसा व्यवहार करें, जिसमें धर्माचरण में अलग न हों। यह स्त्री-पुरुषों का धर्म और आपत्काल में सन्तान-विधि कही गई है। अब दायभाग की व्यवस्था सुनो ॥१०२-१०३॥

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन् पैत्रिकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥१०४॥
ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात् सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥
यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः ॥ १०७ ॥
पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥
ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ १०९ ॥

दायभाग-व्यवस्था ।

पिता और माता की मृत्यु के बाद, भाई आपस में पिता की सम्पत्ति बाँट ले, पर उनके जीते नहीं बाँट सकते। बड़ा भाई पिता का सब धन ग्रहण करे और शेष भाई जैसे पिता की आज्ञा में जीविका करते थे, वैसेही भाई के वश में रहकर करें। बड़े पुत्र का जन्म होने से मनुष्य पुत्रवान् होता है और पितृऋण से छूटता है,

इसलिए वह सब धन का स्वामी हो सकता है। जिस के उत्पन्न होने से, पितृऋण दूर होता है। और मोक्ष प्राप्त होता है वही धर्म-पुत्र है। दूसरों को काम से उत्पन्न जाने। बड़ा भाई, छोटे भाइयों का पालन पिता के समान करे। और छोटे भाई, बड़े भाई के साथ पिता के समान धर्मानुसार वर्ताव करें। ज्येष्ठ कुल को बढ़ाता है और ज्येष्ठ ही नाश करता है, ज्येष्ठ गुणवान् जगत् में पूज्य है और सत्पुरुषों में निंदा नहीं पाता ॥ १०४–१०९ ॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ ११० ॥
एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया।
पृथग् विवर्द्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥
ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥
ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम्।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

जो बड़ा भाई बडप्पन का वर्ताव करे वह माता–पिता के समान है। और वैसा वर्ताव न करे तो बन्धुवत् पूज्य है। भाइयों ने यदि बांट न किया हो तो साथ रहें और बांट कर लिया हो तो अलग अलग रहें। अलग रहने से धर्म-कर्म अधिक होता है * इस लिए अलग रहना धर्मानुकूल है। बड़े भाई को बीसवां भाग अधिक भाग है और सब पदार्थों में जो उत्तम हो वह भी देना चाहिए। मध्यम भाई को इसका आधा—चालीसवां भाग अधिक दे और बाक़ी धन को सब भाई समान बांट लें। बड़ा और सब से

* बृहस्पति का भी वचन है—
'एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। एकम्भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे ॥'
अर्थात् अलग रहने से पञ्चमहायज्ञादि भी अलग होते हैं। यों धर्मवृद्धि होती है।

छोटा भाई इस प्रकार अपना भाग लें और दूसरे भाइयों का मध्यम भाग होना चाहिए ॥ ११०-११३ ॥

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।
यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥
उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु ।
यत्किंचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥
एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥
एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽप्यर्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥

बड़ाभाई गुणवान् हो और दूसरे गुणहीन हों तो सब सम्पत्ति में जो श्रेष्ठ वस्तु हैं उनको बड़ाभाई पावे और गौ वगैरह दश—पशुओं में जो श्रेष्ठ हो उसको भी पावे। यदि सब भाई गुणी हों तो बड़े भाई को दशमें से श्रेष्ठ वस्तु न देकर, उसके सन्मानार्थ कुछ वस्तु अधिक देवे। इस प्रकार बीसवां भाग निकालकर बाक़ी का बराबर भाग करे। और बीसवां अलग न किया हो तो इसभांति करे—बड़ाभाई दो भाग उससे छोटा ड्योढ़ा और उससे छोटे भाई सब एक एक भाग लें—यह मर्यादा है ॥ ११४-११७ ॥

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥
अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥
यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेदिति ।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।
पिताप्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥
पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत्॥१२२॥
एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः ।
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥
ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभ षोडशाः ।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥
सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते॥१२५॥

प्रत्येक भाई अपने भाग में से चौथा भाग अपनी कुमारी बहन को दे । जो न देवें पतित होते हैं । बकरी, भेंड़, घोड़ा आदि एक खुरवाले पशुओं का समान भाग करे और कम हों तो न बांटे, क्योंकि वे बड़े भाई के ही होते हैं । छोटा भाई बड़े की स्त्री में नियोग विधि से पुत्र पैदा करे तो उस पुत्र और चचा का समान भाग करे—यह धर्म है । क्षेत्रज पुत्र गौण होता है, इसलिए वह पिता का सब भाग धर्मानुसार नहीं ले सकता । पुत्र पैदा करने में पिता मुख्य है, इस कारण क्षेत्रज पुत्र का भाग पूर्वरीति से करे । प्रथम स्त्री में पुत्र पीछे और द्वितीय स्त्री में प्रथम हो तो, उनका भाग कैसे होना चाहिए? प्रथम स्त्री का पुत्र एक बैल अधिक ले और उसी माता से पैदा हुए छोटे भाई मामूली बैल लेवें । यदि ज्येष्ठ पुत्र दूसरी स्त्री का हो तो एक बैल और पन्द्रह गौ ले और दूसरे भाई अपनी माता के अधिकारानुसार बांट लें परन्तु एक जाति की स्त्रियों में पुत्र पैदा हों तो उनको समान गिने, माता के बड़ी होने से पुत्र बड़े नहीं होते, किन्तु जन्म से बड़ाई होती है ॥ ११८-१२५ ॥

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं स्वब्राह्मण्यास्वपि स्मृतम्।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता॥ १२६॥
अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ १२७॥
अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः॥ १२८॥
ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम्॥१२९॥

जिसका जन्म पहले हुआ हो उस पुत्र का नाम लेकर, अमुक का पिता यजन करता है—ऐसा ज्योतिष्टोम में 'सुब्रह्मण्य' मन्त्र बोलकर इन्द्र का आवाहन होता है। और दो साथ ही पैदा हुए हों, तो भी पहला ज्येष्ठ कहलाता है। जिसके पुत्र न हो वह कन्या-दान के समय जामाता से नियम करे—इस कन्या से जो पुत्र होगा वह मेरा श्राद्ध आदि करेगा। पहले दक्षप्रजापति ने अपने वंश की वृद्धि के लिए इसी विधि से कन्या को पुत्रिका की थी। दक्ष ने प्रसन्न होकर धर्म को दश, कश्यप को तेरह और राजा सोम को सत्ताईस पुत्री दी थीं॥ १२६-१२९॥

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥१३०॥
मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम्॥ १३१॥
दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत्।
स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च॥१३२॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि माता पितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

जैसी आत्मा है वैसाही पुत्र है । पुत्र और पुत्री समान हैं । इस लिए पिता की आत्मारूप—पुत्री बैठी हो तो दूसरा धन कैसे लेजाय ? जो धन माता को दहेज में मिला हो वह कन्या का ही भाग है । और पुत्रहीन का सब धन दौहित्र का ही है । जिसको पुत्रिका किया हो उसका पुत्र, अपुत्र—पिता का धन ले और वह पिता और नाना को पिण्डदान करे । लोक में धर्मानुसार पौत्र और दौहित्र में कुछ भेद नहीं है । क्योंकि दोनों के माता—पिता एकही देह से उत्पन्न हुए हैं ॥ १३०–१३३ ॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागःस्याज्ज्येष्ठतानास्ति हि स्त्रियाः॥१३४॥
अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन ।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥
अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् ।
पौत्रीमातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥
पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ १३८ ॥

यदि पुत्रिका करने के बाद अपने पुत्र होजाय तो पुत्र और दौहित्र का समान भाग करे । उसमें कन्या की श्रेष्ठता नहीं मानी जाती । पुत्रिका होनेवाली कन्या मरजाय तो उसका पति सब धन ले जाय । पुत्रिका विधान किया हो वा न किया हो, समान जाति वाले जामाता से जिस पुत्र को पावे—उसीसे नाना पौत्रवान्

होता है, वही पिण्डदान करे और धन ले। पुरुष पुत्र से स्वर्गलोक को जीतता है, पौत्र से अनन्त—सुख पाता है और पुत्र के पौत्र से सूर्यलोक को पाता है। पुत्र 'पुम्' नामक नरक से पिता को बचाता है इसलिए ब्रह्मा ने स्वयं पुत्र संज्ञा की है॥ १३४-१३८॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत्॥ १३९॥
मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिका सुतः।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः॥१४०॥
उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः॥ १४१॥

लोक में पौत्र और दौहित्र में कुछ अन्तर नहीं है। दौहित्र भी नाना को पौत्र की भांति स्वर्ग पहुँचाता है। पुत्रिका—पुत्र पहला पिण्ड माता को देवे, दूसरा—माता के पिता को, तीसरा—नाना के पिता को देवे। जिसका दत्तक (गोद लिया) पुत्र, सर्वगुणसम्पन्न हो, वह दूसरे गोत्र से आकर भी उसकी सम्पत्ति का अधिकारी होता है॥ १३९-१४१॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥१४२॥
अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्।
उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ॥ १४३॥
नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः॥१४४॥
हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥ १४५॥

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ॥
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

दत्तकपुत्र अपने उत्पादक पिता के गोत्र और धन को नहीं पा सकता। जिसका गोत्र और धन पाता है, उसी को पिण्डदान दे सकता है। बिना नियोगविधि से पैदा पुत्र और पुत्रवाली के देवर से उत्पन्न पुत्र ये दोनों पिता के धन के अधिकारी नहीं होते। क्योंकि ये जारज और कामज हैं। नियुक्त स्त्री में भी विधान के बिना पैदा हुआ पुत्र, पिता का धन नहीं पासकता वह पतित से पैदा है परन्तु विधि से नियुक्त स्त्री में उत्पन्न पुत्र औरस पुत्र के समान है। वह क्षेत्रवाले का बीज है—धर्म से उत्पन्न हुआ है। जो पुरुष मृत भाई की स्त्री और उस के धन का ग्रहण करे, वह नियोगविधि से पुत्र पैदा करके उसको भाई का धन दे देय॥ १४२-१४६॥

या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागोऽयं विधिः स्मृतः॥ १४९॥

जो नियुक्त—स्त्री दूसरे पुरुष से पुत्र पैदा करे वह पुत्र कामज है। पिता की सम्पत्ति के अयोग्य है। एक जाति की स्त्रियों में पैदा हुए पुत्रों के विभाग की यह रीति है। अब एक पुरुष से अनेक जाति की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों का हिस्सा—बांट सुनो। ब्राह्मण के यदि क्रम से चारों वर्ण की स्त्रियाँ हों तो उनमें पुत्र पैदा होने पर इस प्रकार विभाग करे॥ १४७-१४९॥

कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः।
वैश्याजःसार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥ १५१॥
सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित्॥ १५२॥
चतुरोंशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥ १५३॥
यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः॥ १५४॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत्॥ १५५॥

खेती का बैल, सांड़, सवारी का घोड़ा, गहना, रहने का स्थान और जो क़ीमती चीज़ हो उनको ब्राह्मणी के पुत्र को देवे। ब्राह्मणी का पुत्र धन में तिहाई ले, क्षत्रिया का दो भाग, वैश्या का डेढ़ भाग और शूद्रा का एक भाग ले। अथवा सब सम्पत्ति का दश भाग करके धर्मज्ञ पुरुष धर्मानुसार यों भाग करे—ब्राह्मणीपुत्र को चार भाग, क्षत्रियापुत्र को तीन भाग, वैश्यापुत्र को दो भाग और शूद्रापुत्र को एक भाग दे। यद्यपि सत्पुत्र हो वा असत्पुत्र हो पर धर्म से शूद्रापुत्र को दशभाग से अधिक न दे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के शूद्रा से पुत्र हो तो वह धन का भागी नहीं होता। जो कुछ पिता उसको दे वही उसका धन होगा॥ १५०–१५५॥

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्॥ १५६॥
शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत्॥ १५७॥

समान वर्ण की स्त्रियों में जो पुत्र उत्पन्न हों वे बड़े भाई को कुछ अधिक देकर, बाक़ी सम्पत्ति को समान बाँट लें । शूद्र की समान जाति ही की भार्या होती है, दूसरे वर्ण की विधि नहीं है । उसमें यदि सौ पुत्र भी हों तो भी वे समान—भाग के अधिकारी होंगे ॥ १५६-१५७ ॥

पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भुवो मनुः ।
तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ १५९ ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥
यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरन् जलम् ।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥
यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥
एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥
षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥
औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥

स्वायम्भुव मनुने मनुष्यों के जो बारह पुत्र कहे हैं, उनमें छः बान्धव और दायाद कहलाते हैं और छः अदायाद—अबान्धव हैं ।

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध ये छः दायाद (सम्पत्ति के भागी) वान्धव हैं। कानीन, सहोढज, क्रीतक, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र ये छः अदायाद—अबान्धव हैं। टूटी-फूटी नांव से जल तैरता हुआ जैसा फल पाता है, वैसाही फल कुपुत्रों से नरकपार होने में पिता आदि को मिलता है। यदि अपुत्र के क्षेत्र में नियोगविधि से एक पुत्र हो, और किसी प्रकार दूसरा औरस पुत्र भी हो जाय तो दोनों क्षेत्रज—औरस अपने अपने पिताकी सम्पत्ति के भागी हैं। एक औरस पुत्रही पिता के धन का भागी होता है। शेष को दयावश, अन्न-वस्त्र देना चाहिए। औरस पुत्र पिताकी सम्पत्ति का विभाग करे तो क्षेत्रज को छठा या पांचवां भाग देवे। औरस और क्षेत्रज उक्त रीति से पितृधन के अधिकारी हैं। बाक़ी दश पुत्र, क्रम से गोत्रधन के भागी हैं॥ १५८-१६५॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥ १६६॥
यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥ १६७॥
माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः॥ १६८॥
सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः॥ १६९॥
उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः॥ १७०॥
मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते॥ १७१॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥
या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥

पुत्रों की संज्ञा ।

विवाह—संस्कार से सवर्णा स्त्री में जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसको औरस कहते हैं—वह मुख्य है । मृत, नपुंसक और रोगी की स्त्री में नियोग से जो पुत्र होता है वह 'क्षेत्रज' है माता-पिता प्रसन्नतासे जल लेकर आपत्ति में जिसको देदें । वह दत्तक पुत्र है। जो सजातीय, गुण-दोषज्ञ और पुत्र गुणों से युक्त हो, वह पुत्र करलिया जाय तो ' कृत्रिम ' कहलाता है। जिसके घर पुत्र पैदा हो, पर यह न मालूम हो किसका है ? वह घर में गुप्तरीति से पैदा ' गूढोत्पन्न ' जिसकी स्त्री में हो, उसका है। माता-पिता या एकही ने जिसको त्याग दिया हो उसका जो पालन करे वह उसका ' अपविद्ध ' पुत्र कहलाता है। अपने पिता के घर, सजातीय पुरुष से, एकान्त में कन्या जो पुत्र पैदा करे उसको 'कानीन' कहते हैं। वह उस कन्या से विवाह करनेवाले का होता है। जो ज्ञात अथवा, अज्ञात गर्भिणीके साथ विवाह किया जाय वह उसी पति का गर्भ है और उसको ' सहोढ ' कहते हैं ॥ १६६-१७३ ॥

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥१७४॥
या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयं दत्तस्तु स स्मृतः ॥१७७॥
यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥
दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

जो अपनी उत्तर क्रिया के लिए माता-पिता से जिस पुत्र को खरीदता है वह उसका 'क्रीतक पुत्र' होता है, खरीददार के समान हो अथवा न हो। पति की त्यागी या विधवा स्त्री दूसरे की स्त्री होकर पुत्र जने उसको 'पौनर्भव' कहते हैं। वह पति की त्यागी या विधवा स्त्री अक्षतयोनि हो तो, प्रायश्चित्त करके दूसरे—पुनर्भू पति के पास रह सकती है । जो माता-पितासे हीन हो,विना कारणही जिस पुत्र को माता-पिताने त्याग दिया हो, वह अपने को जिसे देदे वह 'स्वयंदत्त' पुत्र कहाता है। ब्राह्मण कामना से शूद्रा में जिस पुत्र को पैदा करे, वह जीताही मुर्दा के मुवाफ़िक़ है इसलिये उसे 'पारशव' कहते हैं। शूद्र का दासी में या दास की दासी में जो पुत्र हो, वह पिता की आज्ञा से अपना भाग लेय-यह धर्ममर्यादा है ॥ १७४-१७९ ॥

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान् मनीषिणः ॥१८०॥
य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यवीजजाः ।
यस्य ते वीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

ये क्षेत्रज आदि जो ग्यारह पुत्र कहे हैं, इनको पितर क्रिया का लोप न हो—इसकारण पुत्र-प्रतिनिधि आचार्यों ने कहा है। ये

औरस पुत्र के प्रसङ्ग से जो दूसरे के वीर्य से पुत्र गिनाये, वे जिन के वीर्य से पैदा हैं उन्हींके हैं—दूसरे के नहीं हैं ॥ १८०-१८१ ॥

भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान् भवेत् ।
सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥
सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥
श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति ।
बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥
न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥

सहोदर भाइयों में यदि एक भी पुत्रवान् हो तो उस पुत्र से सब भाई पुत्रवान् हैं-ऐसा मनुजी कहते हैं । एक पुरुष की कई स्त्रियों में जो एक भी पुत्रवाली हो तो उससे सब पुत्रवाली हैं । औरस आदि पहले पहले पुत्र न हों तो अगले अगले पुत्र, पिताके धन के अधिकारी हैं और यदि बहुतसे पुत्र समानही हों तो, सब धन के भागी हैं । पिता के धनको लेने वाले पुत्रही हैं, न भाई हैं न चचा आदि हैं । परन्तु पुत्रहीन का धन उसका पिता वा भाई ले सकता है ॥ १८२-१८५ ॥

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥
अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
अत ऊर्ध्वं स कुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥
सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ १८८ ॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥

बाप, दादा और परदादा इन तीन को जल और पिण्डदान होता है। देनेवाला चौथा होता है--पाँचवें का सम्बन्ध नहीं है। जो सपिण्डों में अधिक समीप हो, उसका धन होता है। वह न हो तो कुलपुरुष वह भी न हो तो आचार्य, वह भी न हो तो शिष्य अधिकारी होता है। ये सब भी न हों तो धन ब्राह्मण पाते हैं। पर वे तीनों वेद के ज्ञाता, भीतर-बाहर से पवित्र जितेन्द्रिय हों, जिससे श्राद्धादि कर्मों में हानि न पहुँचे। कोई भी लेने वाला न हो, तो भी ब्राह्मण का धन राजा को न लेना चाहिए--धर्ममर्यादा है। परन्तु दूसरे वर्णों का धन, कोई लेनेवाला न हो तो राजा ले सकता है ॥ १८६-१८९ ॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत्।
तत्र तद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥१९०॥
द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥
जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥१९२॥
यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥

कोई पुत्रहीन मरजाय तो उसके सगोत्र में से पुत्र ले और उस पुरुष का जो धन हो, उसे सौंप दे। एक स्त्री में दो पुरुषों से पैदा दो पुत्र, औरस-पौनर्भव धन के लिए विवाद करें तो, जिसके पिता का जो धन हो वही उसको ले, दूसरा न लेय। माताके मरने पर सब सहोदर भाई और कुमारी बहनें माता के धन को

समान बाँट लें। और उन लड़कियों की जो अविवाहित हों उनको नानी के धन में से कुछ प्रसन्नता से दे देवें ॥ १६०–१६३ ॥

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १६४ ॥
अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१६५॥
ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १६६ ॥
यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १६७ ॥

स्त्रीधन आदि।

विवाह में अग्नि समीप में पिता आदि का दिया, ससुराल में पाया हुआ आभूषण आदि, पति का दिया, पिताका दिया, भाई का दिया और माता से पाया ये छः प्रकार के स्त्रीधन कहे हैं। विवाह में पति की तरफ़ से मिला धन और खुशी से पति का दिया धन, पति के जीते स्त्री मर जाय तो वह धन उसके पुत्र का होता है। ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्यनामक विवाहों में स्त्रियों को जो धन मिलता है वह स्त्री सन्तानहीन मरजाय तो पति का होता है। और आसुरादि विवाहों में जो स्त्री को धन मिले वह स्त्री सन्तानहीन मर जाय तो उसके माता—पिता का होता है ॥ १६४–१६७ ॥

स्त्रिया तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १६८ ॥
न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १६९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन् दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥
अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥
सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददन् भवेत् ॥ २०२ ॥

स्त्री के पास जो कुछ धन किसी भांति पिता का दिया हो, वह उसकी ब्राह्मणी कन्या ग्रहण करे अथवा उसकी सन्तान का हो जावे। बहुत कुटुम्बवाले परिवार में स्त्री धन संचय (कोरचा) न करे और पति की आज्ञा विना अपने धन में से भी आभूषण न बनवावे। पति के जीते स्त्रियों का जो गहना हो, उसको हिस्सेदार न बाँटें—ऐसा करने से पतित होजाते हैं। नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बधिर, उन्मत्त, जड़, मूक और जो जन्म से निरिन्द्रिय हों, ये सब पिता के धन में भाग नहीं पाते। इन सबको जीवनभर, यथाशक्ति भोजन वस्त्र दे, न देने से पतित होता है॥ १९८-२०२॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥
यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥
अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥

यदि नपुंसक आदि के किसी प्रकार विवाह से क्षेत्रज सन्तान पैदा हों तो उनके सन्तान धन के भागी होंगे। पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र जो धन पावे यदि छोटा भाई विद्वान् हो तो उस में भी उसका भाग है। सब भाइयों का यदि व्यापार से

कमाया धन हो तो उसमें पिता का धन छोड़कर समान भाग करना चाहिए । यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है ॥ २०३-२०५ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरंस्ते समेत्यं सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन् यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

जिस को जो धन विद्या से पैदा करे वह उसी का है । मित्र से, विवाह में और मधुपर्क में जो धन जिसको मिले वह उसीका है। जो अपने पुरुषार्थ से धन कमा सकता है और भाइयों के साधारण धन को न चाहे उसको कुछ निर्वाह योग्य देकर जुदा कर दे । पिता के धन को हानि न पहुँचाकर अपने परिश्रम से जो धन

पावे उसमें इच्छा न हो तो भाइयों को भाग न दे। पिता के पिता का धन जिसको कोई न पासका हो उसको पिता पावे और इच्छा न हो तो बाँट कर न दे, क्योंकि वह उसने स्वयं पाया है। भाई एक बार जुदा होकर फिर साथ रहें और फिर बाँट करना चाहें तो समभाग करें। उस समय बड़े भाई का अधिक भाग नहीं लगता। जिन भाइयों में बड़ा वा छोटा भाई बांट के समय संन्यासी होगया हो या मरगया हो तो भी उसका भाग नष्ट नहीं होता। यदि उसके पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता-पिता न हों तो सगे भाई या सहोदर बहनें आपस में विभाग कर लें। यदि बड़ा भाई छोटे भाई को लोभ से धोखा दे तो उसको बड़ा न माने, अधिक भाग न दे और राजा उसको दण्ड देवे॥ २०६-२१३॥

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतुकम्॥२१४॥
भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन॥ २१५॥
ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह॥ २१६॥
अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥ २१७॥
ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि।
पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत्॥ २१८॥
वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते॥ २१९॥
अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत॥ २२०॥

सब भाई यदि कुकर्म में पड़े हों तो धन नहीं पा सकते। बड़ा भाई भी छोटे भाई का भाग विना दिये मिलकियत न करे। भाई बांटकर जुदे न हुए हों और सब साथ रहकर व्यापारादि करते हों तो पिता पुत्रों को न्यूनाधिक भाग कभी न दे। विभाग कर देने पर दूसरा पुत्र होजाय तो वह पिता का ही धन लेता है। या जो पिता के साथ रहते हों उनसे विभाग करे। पुत्र का पुत्र मर जाय और उसकी स्त्री न हो तो माता धन पावे और माता भी न रहे तो पिता की माता लेवे। माता-पिता के धन और ऋण का यथाविधि विभाग करलेने पर यदि कुछ दूसरी सम्पत्ति का पता लगे तो उसको सब समान बांटलें। वस्त्र, सवारी, पहने आभूषण, पक्वान्न, जल, दासी, मंत्री, पुरोहित और गौ चरने का स्थान इनका विभाग धर्मशास्त्री नहीं करते। अर्थात् जो जिसके काम में आवे वही उसको रक्खे। इस प्रकार विभाग और क्षेत्रज आदि पुत्र करने की रीति क्रम से कही गई है। अब द्यूत-जुआ की व्यवस्था सुनो॥ २१४-२२०॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।
राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम्॥२२१॥
प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत्॥ २२२॥
अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः॥ २२३॥
द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत वा।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः॥२२४॥
कितवान्कुशीलवान् क्रूरान्पाखण्डस्थांश्च मानवान्।
विकर्मस्थान्शौण्डिकांश्चाक्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात्॥२२५॥

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्न तस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥२२६॥
द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥२२७॥

द्यूत–जुआ ।

राजा अपने देश में जुआ और समाह्वय को दूर करे । क्योंकि ये दोनों दोष राजा के राज्य का नाश कर देते हैं । जुआ * और समाह्वय प्रत्यक्ष लूट हैं, इस कारण राजा इन दोनों के नाश का यत्न करे । जो रुपया–पैसा-कौड़ी आदि निर्जीव से खेला जाय उसको जुआ कहते हैं । और तीतर, बटेर आदि जीवों पर जो बाजी लगाई जाती है उसको 'समाह्वय' कहते हैं । जो पुरुष जुआ और समाह्वय करें या करावें उन सब को और ब्राह्मण वेषधारी शूद्रों को राजा खूब पिटवावे । जुआरी, धूर्त, क्रूरकर्मा, पाखण्डी, मर्यादा के खिलाफ़ चलनेवाले और शराबी को राजा अपने नगर से निकलवा देय । क्योंकि राजा के राज्य में ये छिपे चोर हैं—अपने कुकर्म से प्रजा को दुःख देते हैं । यह जुआ, पहले कल्प में बड़ा वैर बढ़ानेवाला देखा गया है । इस कारण बुद्धिमान हँसी के लिए भी जुआ न खेलें ॥ २२१–२२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥
क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।

---

* ऋग्वेद के दशम मण्डल के चौंतीसवें सूक्त में विस्तार से द्यूत का परिणाम वर्णित है । उस सूक्त में १४ ऋचा हैं, उनमें अक्ष और कृषिकी प्रशंसा और अक्ष-कितवकी निंदा भी है अक्ष-द्यूत का निषेध जैसाः—'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।' इत्यादि । द्यूत से जो हानि होती है वह इतिहासों में और प्रत्यक्ष में प्रसिद्ध है ।

आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः॥ २२६॥
स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥
ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः॥ २३१॥
कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा॥ २३२॥
तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्त्तयेत् ॥ २३३ ॥

जो कोई छिपकर या प्रकटरीति से जुआ खेले उसको राजा इच्छानुसार दण्ड देवे। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दण्ड न देसकता हो तो मज़दूरी करके दण्ड चुकावे और ब्राह्मण धीरे धीरे देडाले। स्त्री, बालक, पागल, बूढ़ा, निर्धन और रोगियों को चाबुक, बेंत और रस्सी से शिक्षा देय। जिन कर्मचारियों को राज्यकार्य सौंपा हो, वे यदि धनकी गरमी से लोगों के काम बिगाड़ें तो राजा उन का सब धन छीन लेय। राजा की तरफ़ से बनावटी आज्ञा करने वाले, मंत्रियों में बिगाड़ करानेवाले, स्त्री, बालक और ब्राह्मण घातक और शत्रु से मिलनेवाले को राजा दण्ड देय। जिस मामले का न्यायानुसार दण्ड तक निर्णय होचुका हो उसको पूरा समझे फिर न दोहरावे ॥ २२८-२३३ ॥

अमात्याः प्राड्विपाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥
ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयो च गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथक् ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥ २३५ ॥

चोर–दुष्टों का निग्रह ।

मन्त्री और न्यायाधीश जिस मुक़द्दमे को अन्यथा करें उसको राजा खुद देखे और अपराध सावित होनेपर उनपर हज़ारपण दण्ड करे। ब्रह्मघाती, मद्यप, चोर और गुरुपत्नी से समागम करने वाला इन सबको महापातकी मनुष्य जानना चाहिए ॥२३४–२३५॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शरीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥
गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान्॥२३७॥
असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्या विवाहिनः ।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥
प्रायश्चित्तन्तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम् ।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटेस्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम्॥२४०॥
आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ।
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ २४१॥
इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥
नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनां धनम् ।
आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

ये चारों यदि प्रायश्चित्त न करें तो राजा धर्मानुसार शारीरिक

शिक्षा और धन-दण्ड भी करे । गुरुपत्नी-गामी के मस्तक में भग-चिह्न, शराबी के कलाल के झण्डे का चिह्न, चोर के कुत्ते के पैर का चिह्न और ब्रह्मघाती के मस्तक में शिरहीन धड़ का चिह्न करें। ऐसे मनुष्य सहभोजन, यज्ञ, वेदाध्ययन और विवाह-सम्बन्ध के अयोग्य होते हैं। और श्रौत-स्मार्त कर्मों से बहिष्कृत निर्धन पृथिवी पर विचरें । इन चिह्नवाले पातकियों को सम्बन्धी और जातिवाले त्याग दें। उन पर दया न करें, नमस्कार न करें, यही मनुजी की आज्ञा है । परन्तु जो महापातकी प्रायश्चित्त करें उन के मस्तक में चिह्न न करे, केवल उत्तम साहस दण्ड करे। इन अपराधों में ब्राह्मण कोही ' मध्यम साहस ' दण्ड करे अथवा धन-परिवार के साथ राज्य से निकाल दे । और दूसरे लोग इन पापों को जान कर करें तो उनका सर्वस्व छीन लेय और जानकर करें तो देश से निकाल देय। धार्मिक राजा महापातकी के धन को ग्रहण न करे । यदि लोभ से ग्रहण करे तो उस पाप से लिप्त होजाता है ॥ २३६-२४३ ॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥
ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥
यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥
निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोक्तानि विशां पृथक् ।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥

महापातकी के दण्ड-धन को राजा जल में डालकर वरुण के अर्पण करदे या वेदज्ञ-सदाचारी ब्राह्मण को देदेवे। पातकी के दण्ड का स्वामी वरुण है क्योंकि वह राजाओं को भी दण्ड देनेवाला

है । और वेदज्ञ ब्राह्मण सारे जगत् का प्रभु है । जिस देश में राजा पापियों का दण्ड लेकर उस का भोग नहीं करता उस देश में मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं । और प्रजाओं के धान्य ठीक ठीक पैदा होते हैं, बालक नहीं मरते और कोई विकार नहीं होता ॥२४४–२४७॥

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥
यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥
उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥
एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन् महीपतिः ।
देशानलब्धाँल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

जानकर ब्राह्मण को कष्ट देनेवाले, नीचजाति के पुरुष को राजा अनेक उपायों से शारीरिक दण्ड देवे । अदण्ड्य को दण्ड देने से राजा को जितना अधर्म होता है उतनाही अपराधी को छोड़ने से होता है । न्यायकारी को धर्म प्राप्त होता है । अठारह प्रकार के दावों में प्रत्येक के परस्पर-विवाद का निर्णय विस्तार से कहा गया है । राजा इस प्रकार सब कार्यों का धर्मानुसार निर्णय करे । अप्राप्त देशों को लेना और प्राप्त देशों की रक्षा करना, राजा का धर्म है ॥ २४८–२५१ ॥

सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥
रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥
निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥
द्विविधांस्तस्करान् विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥
प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥
उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥२५९॥

अच्छे प्रकार देश बसानेवाला और शास्त्रानुसार किला बनाने वाला राजा नित्य चोरों के नाश का पूरा उपाय करे। प्रजापालक राजा सदाचारियों की रक्षा और दुष्टों को दण्ड करने से स्वर्गगामी होता है। जो राजा चोरों को दण्ड न देकर प्रजा से कर लेता है उसकी प्रजा अप्रसन्न रहती है और वह स्वर्ग से पतित होता है। जिस राजा का देश निर्भय होता है वह देश जल से सींचे वृक्ष की भांति नित्य बढ़ता है। चार-दूतरूपी आँखवाला राजा दो प्रकार के परद्रव्य हरनेवाले चोरों को जाने। एक प्रकट, दूसरे अप्रकट। उन में नाना प्रकार के व्यापारवाले प्रत्यक्ष चोर हैं और वन में रहनेवाले छिपे चोर हैं। रिशवतखोर, भय दिखाकर धन लेनेवाले, ठग, जुआरी, तुमको धन मिलेगा-ऐसी मीठी बातों से बहकानेवाले, ऊपर धार्मिक हृदय में पापी,

हाथरेखा देखनेवाले, राजकर्मचारी, धूर्तवैद्य, कारीगर वगैरह और वेश्या ॥ २५२-२५९ ॥

एवमादीन् विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान्।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥
तान् विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥
तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥ २६२ ॥
न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥
सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥
एवं विधान्नृपो देशान् गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥
तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

इस तरह के इन प्रत्यक्ष ठगों को राजा दूतद्वारा जाने और ब्राह्मणवेश में छिपे फिरनेवाले शूद्रों पर भी दृष्टि करे। गुप्त, प्रकट, अनेक वेष और चालाकी से दूतलोग चोरों को पकड़ें। राजा सब के अपराधों को जगत् में प्रकट करके उनको उचित दण्ड देवे। विना दण्ड के पाप को रोकना असंभव है। पापी वश में

नहीं आसकते। सभा, पोशाला, मिठाई की दूकान, रण्डी का घर, कलाल का घर, अन्न बिकने का स्थान, चौराहा, प्रसिद्ध वृक्ष, समाज, नाच, गान और नाटक के स्थान, पुराने बगीचे, जंगल, कारीगर के घर, खँडहर, वन और उपवन ऐसे स्थानों की जांच दूतोंद्वारा राजा सदा करावे। चोरों के सहायक, उनका कर्म करनेवाले, चोरी के कामों को जाननेवाले और पुराने चोर ऐसे चतुर दूतों से चोरों को पकड़वाकर दण्ड देवे॥ २६०-२६७॥

भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम्॥ २६८॥
ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये।
तान् प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान्॥२६९॥
न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः।
स होढं सोपकरणं घातयेदविचारयन्॥ २७०॥
ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत्॥२७१॥
राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान्।
अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिव द्रुतम्॥२७२॥
यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः।
दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम्॥ २७३॥
ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः॥ २७४
राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान्॥ २७५॥

वे दूत उन चोरों को खाने-पीने के बहाने ब्राह्मणदर्शन के मिस से और वीरता के काम के ढंग से राजद्वार में लाकर पकड़वा दें। जो वहां पकड़े जानेकी डरसे न जावें और गुप्त राजदूतों के साथ चालाकी करके अपने को बचाते हों, उनको राजा बलात्कार से पकड़ कर मित्र-जाति भाइयों सहित वध करे। गांवों में भी जो चोरों का भोजन, उनको ठहरने का स्थान देते हैं या चोरी का माल रखते हैं उनको भी राजा पिटवावे। चोरों के उपद्रवों में देश और सीमा के रक्षक उदासीन रहें तो उनको भी दण्ड करे। दान या यज्ञ से निर्वाह करनेवाला ब्राह्मण मर्यादा से भ्रष्ट हो जाय तो उसको भी राजा दण्ड देवे। ग्राम लुटता हो, पौ तोड़ी जाती हो, मार्ग में चोर देखने में आवें, उस समय रक्षावाले सिपाही आदि अपराधियों के पकड़नेकी चेष्टा न करें। तो उन्हें सर्वस्वछीन कर देश से निकाल देय। राजा के खजाना में चोरी करनेवाले राजा की आज्ञा-भङ्ग करनेवाले, शत्रुओं में मिलेहुए मनुष्यों को हाथ-पैर कटवा कर अनेक कठोर दण्ड देवे॥ २६८-२७५॥

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्॥२७६॥
अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति॥ २७७॥
अग्निदान् भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः॥ २७८॥
तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम्॥ २७९॥

जो चोर रात को सेंध लगाकर चोरी करते हैं उनका हाथ काट कर तीखी शूली पर चढ़वा दे। गांठ काटनेवाला पहली बार पकड़ जावे तो उसकी अंगुली कटवादे, दूसरी बार हाथ-पैर कटवादे,

तीसरी बार में वध की आज्ञा देवे । चोरों को आग, भोजन, शस्त्र और ठहरने का स्थान देनेवाले को और चोरीका माल रखने वाले को चोर की भांति दण्ड देवे । जो तालाब बिगाड़े उसको जल में डुबवादे या प्रत्यक्ष मरवादे या उससे फिर तालाब बनवावे और एक हज़ार पण दण्ड करे ॥ २७६-२७६ ॥

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥
यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाप्यपां भिंद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥
समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥
आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥

राजा का अन्न भण्डार, शस्त्रशाला और देवमंदिर तोड़नेवाले को और हाथी, घोड़ा, रथ चुरानेवाले को, विना विचार मरवादे । जो पूर्व से सब के काम में आनेवाले, जलाशय के जल को अपने वश में करले या जल के प्रवाह को रोके उसपर ढाई सौ पण दण्ड करे । जो नीरोग होकर भी खास सड़कों पर मल आदि अपवित्र वस्तु डाले उस पर दो कार्षापण दण्ड करे और वह मल उसीसे उठवावे । परन्तु रोगी, बूढ़ा, गर्भिणी, बालक ऐसा करे तो उनको मना करदे और स्थान शुद्ध करवावे, यही मर्यादा है ॥ २८०-२८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥
संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।

प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥
अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥
समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥
बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृता पापकारिणः ॥ २८८ ॥
प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भेत्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥
अभिचारेषु सर्वेषु कर्त्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि चानाप्ते कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥
अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च ।
मर्यादा भेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २९१ ॥

चिकित्सा करनेवाले उलटी चिकित्सा करे तो पशु आदि के विषय में ढाई सौ पण और मनुष्यों के विषय में पांच सौ पण दण्ड करे। नदी के पुलका काठ, राजपताका का दण्डा और मूर्तियों को तोड़नेवाला, उन सबको फिर बनवादे और पांच सौ पण दण्ड देवे। अच्छी वस्तु को दूषित करने, तोड़ने और मणियों के बुरा वेधने में, ढाई सौ पण दण्ड करे। जो समान-मूल्य की वस्तुओं से न्यूनाधिक मूल्य की वस्तुओं का व्यवहार करे, वह मनुष्य पूर्व वा मध्यम साहस दण्ड पावे। राजा मार्ग में बंदीघर को बनवावे जहां दुःखी और पापी सबको दीख पड़े। सफील को तोड़नेवाले और उसकी खांई को भरनेवाले और राजद्वारों को तोड़नेवालों को तुरंत देश से निकालदेय। सब तरह के मारणों से यदि जिस

के ऊपर किया गया हो वह न मरे, वशीकरण, उच्चाटन आदि से कोई काम न सिद्ध हो तो उस पर दो सौ पण दण्ड करे। खराब चीजों को वेंचनेवाला या अच्छे में बुरा मिलाकर वेंचनेवाला और हद तोड़नेवाले को अंगच्छेद का दण्ड देय॥ २८४-२९१॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः॥ २९२॥
सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत्॥ २९३॥

सब चोरों में महापापी सुनार यदि कोई दुराचार करे तो उसको चाकू से टुकड़े टुकड़े करवादे। खेती के हल, कुदाल आदि शस्त्र और औषधं चुराने पर राजा समयानुसार दण्ड करे॥ २९२-२९३॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥ २९४॥
सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम्।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत्॥ २९५॥
सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते॥ २९६॥
तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते॥ २९७॥
चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः॥ २९८॥
पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च।

आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २६६ ॥

राजा, मन्त्री, राज्य, देश, खजाना, दण्ड और मित्र, राज्य-शक्ति ये सात प्रकृतियों में क्रम से पहलीसे अगली अगली श्रेष्ठहै। इसलिए पहले अङ्ग की हानि होने से आगे के अङ्ग पर बड़ा दुःख आपड़ता है। जैसे तीन दण्ड, एक दूसरे के आधार पर रुके रहते हैं, वैसे सात अङ्गवाला राज्य भी प्रत्येक अङ्गके आधार पर टिका रहता है। प्रत्येक अङ्ग अपनी विशेषता से समानहैं। जिससे जो काम सधताहै उसमें वही श्रेष्ठ कहा जाता है। राजा नित्य दूतों के द्वारा सेनाको उत्साह देवे, सब कार्यों को ठीक रक्खे अपने और शत्रुकी शक्तिको जाना करे। सब प्रकार की पीड़ा और व्यसनों का गौरव-लाघव विचार कर कार्य का आरम्भ करे ॥ २९४-२९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥
कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥
इन्द्रकार्यस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥

राजा राज्यवृद्धि के कार्यों को धीरे धीरे करताही रहे। क्योंकि कर्म करनेवाले को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग, सब राजा के कार्यों परही आधार रखते हैं क्योंकि राजाही भले-बुरे समय का कारण है-युगस्वरूप है। जब राजा आलस्य, निद्रा में समय बितावे तो कलियुग, जब सावधानी से राज्य करे तो द्वापर, जब अपने कार्यों में लगा रहे तब त्रेता और जब शास्त्रानुसार कर्मों का संपादन करे तब सत्ययुग

होता है । इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी के तेजोमय-प्रकाशमान आचरणों से जगत् में व्यवहार करे ॥ ३००-३०३ ॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥
अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥

जैसे इन्द्र वर्षा में चार मास जल वर्षा करके प्रजामनोरथ पूर्ण करता है वैसे राजा-इन्द्र के आचरण से अपने देशकी प्रजा को सन्तुष्ट करे । जैसे आठ मास सूर्य अपने तेजसे पृथ्वीका जल खींच लेता है, वैसे राजा सूर्य की भांति आचरण करके प्रजा को दुःख न देकर राज्य-करलेवे । जैसे वायु प्राणरूप से सब प्राणियों में विचरता है, राजा भी दूतों से अपने देशका समाचार लेता रहे । जैसे यम समयपर मित्र-शत्रु सबको शिक्षा देताहै, वैसे राजा-यम के समान सारी प्रजाका शासन करे ॥ ३०४-३०७ ॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।

दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥
एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान् राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

जैसे वरुण अपराधियों को अपने पाशों से बाँधता है, वैसे राजा वरुण होकर पापियों को दण्ड देवे । जैसे मनुष्य पूर्ण चन्द्रबिम्ब को देखकर खुश होते हैं, वैसे प्रजामण्डल जिस राजा को देख कर खुश हो वह राजा चन्द्रव्रतधारी है । पापियों पर अग्नि के समान प्रताप रक्खे, दुष्ट मन्त्रियों को मरवा दे यह अग्निव्रत है । जैसे पृथ्वी सर्व प्राणियों को सम-भाव से धारण करती है, वैसे राजा भी सम-भाव से प्राणियों का पालन करे । इन सब और दूसरे भी उपायों से वर्ताव करे और स्वराज्य या परराज्य के चोरों को दण्ड देवे ३०८-३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥
यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१४ ॥
लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥

ब्राह्मण-माहात्म्य ।

खजाना की कमी आदि विपत्ति में पड़कर भी राजा ब्राह्मणों को नाराज न करे क्योंकि वे लोग कुपित होकर राज्य का नाश कर देते हैं । जिन ब्राह्मणों ने कुपित होकर अग्नि को सर्वभक्षक,

समुद्र को न पीने योग्य और चन्द्रमा को क्षयरोगी करके पीछे पूर्ण किया उन ब्राह्मणों को कुपित करके कौन नष्ट न होजायगा ? जो ब्राह्मण रुष्ट होकर दूसरे लोक और लोकपालों को रच सकते हैं और देवताओं को शाप देकर नीचयोनि में डाल सकते हैं, उन को दुःख देकर कौन बढ़ सकता है ? ॥ ३१३-३१५ ॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः॥३१६॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥ ३१७ ॥
श्मशानेस्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥

स्वर्गादि लोक और देवता, जिनके आश्रय से टिके रहते हैं और वेदही जिन का धन है उन ब्राह्मणों को कौन मारना चाहेगा? जैसे अग्नि वेदमन्त्रों से या दूसरे प्रकार से प्रकट हो पर महान् देवता है, वैसे ब्राह्मण विद्वान् या मूर्ख हो महान् देवता है । तेजस्वी अग्नि श्मशान में भी दूषित नहीं होता किन्तु यज्ञ में हवन किया हुआ फिर वृद्धि को प्राप्त होता है । इसी प्रकार ब्राह्मण सब निंदित कामों के करने पर भी सर्वथा पूज्य हैं, महान् देवता हैं ॥ ३१६-३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रतिसर्वशः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥
अद्भयोऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्मक्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ ३२२॥
दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम्।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे॥ ३२३॥

क्षत्रिय यदि ब्राह्मण को दुःख दे तो ब्राह्मण ही उनको किसी उपाय से अपने वश में रक्खे। क्योंकि ब्राह्मणों से ही क्षत्रिय उत्पन्न हैं। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय, पत्थर से लोहा पैदा हुआ है। इनको पैदा करनेवाला व्यापक तेज अपने कारण में शान्त होजाता है। ब्राह्मण की सहायता विना क्षत्रिय नहीं बढ़ता। और क्षत्रिय की सहायता विना ब्राह्मण की उन्नति नहीं होती इस लिये दोनों मिलकर रहें तभी लोक-परलोक में वृद्धि पाते हैं। राजा दण्ड का सम्पूर्ण धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य समर्पण करके रण में प्राणत्याग करे॥ ३२०-३२३॥

एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान्नियोजयेत्॥३२४॥
एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः॥ ३२५॥

इसप्रकार राजा सदा आचरण करके राजधर्मों का पालन करे और लोकहित के कामों में सब कर्मचारियों को नियुक्त करे। ये सब राजा का सनातन-कर्तव्य कहा गया है अब वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों को क्रम से सुनो॥ ३२४-३२५॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम्।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे॥ ३२६॥
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥
मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥
बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

वैश्य-शूद्रकर्त्तव्य ।

वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार के बाद विवाह करके नित्य व्यापार और पशुरक्षा में तत्पर रहे । प्रजापति ने पशुओं की सृष्टि करके रक्षार्थ वैश्यों को सौंपा और ब्राह्मण, क्षत्रिय को प्रजा को सौंपा । इसलिए पशुपालन न करने की इच्छा वैश्य न करे, जबतक वैश्य पालन करे, दूसरे वर्ण को कभी न चाहिए । मणि, मोती, मूँगा, लोहा, सूत की वस्तु, कपूर और मीठा, घी आदि रसपदार्थों का भाव वैश्य सदा विचार में रक्खे । सब बीजों के बोने की विधि, खेतों के गुण-दोष और सब तरह की नाप-तौल को जाना करे ॥ ३२६-३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥
भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥
धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैःश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥
शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहङ्कृतः।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥
एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रणीतायां स्मृतौ
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

गल्ले के अच्छे-बुरे का हाल, देशों में पदार्थों का भाव, गुण आदि। समय में खरीद, बेचने में मुनाफा आदि और पशुओं के बढ़ने की रीति वैश्य जाना करे। नौकरों की नौकरी का परिमाण, अनेक भाषा, माल ठीक रहने की विधि, खरीदने, बेचने का ढंग जाने। धर्मानुसार धन बढ़ाने में परमयत्न करे और सब प्राणियों को अन्न देय यह सब वैश्यों का कर्त्तव्य है। वेदविशारद विद्वान्, गृहस्थ, यशस्वी ब्राह्मण आदि की सेवा ही शूद्र का परम सुखदायी धर्म है। जो शूद्र भीतर बाहर से पवित्र, उत्तमजाति का सेवक, मधुरभाषी, निरहङ्कार और ब्राह्मणों के आश्रय में रहता है, वह क्रम से उत्तम जाति में जन्म पाता है। इसप्रकार सुख के समय में चारों वर्णों के कर्त्तव्य शुभकर्म कहे गये हैं। अब आपत्तिकाल में चारों वर्णों का बर्त्ताव कहा जाता है ॥ ३३१-३३६ ॥

नवां अध्याय पूरा हुआ।

अथ दशमोऽध्यायः ।

अधीयीरंस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥
सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान् यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥
वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

दशवां अध्याय ।

संकीर्ण–जातिभेद ।

अपने अपने धर्म कर्मों के अनुसार रहकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदों को पढ़ें । इन में ब्राह्मण सब को पढावें और क्षत्रिय, वैश्य पढें, पढ़ावें नहीं, यह निर्णय है । ब्राह्मण सब वर्णों को उनकी जीविका के उपायों को बतलावे और खुद भी अपने कर्त्तव्यों को जाने । जाति की विशेषता परमात्मा के मुखसे उत्पत्ति नियमों का धारण और जातकर्मादि संस्कारों की विशेषता से ब्राह्मण वर्णों का स्वामी है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन द्विजाति *

* ब्राह्मण आदि जातिवाचक शब्द ऋग्वेद में भी हैं, जैसा—' ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे । ' ' पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ' इति । यहां पञ्चजन शब्द चारों वर्ण के लिए है, ऐसा निरुक्त में यास्कमुनि ने लिखा है । जातिभेद वैदिक युग का है, नवीन नहीं है ।

कहलाते हैं और चौथा शूद्र एकजाति कहलाता है। पाँचवां वर्ण कोई नहीं है॥ १-४॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥ ५॥
स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान्॥ ६॥
अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम्॥७॥

ब्राह्मणादि वर्णों की अक्षतयोनि स्त्रियों में क्रम से जो पुत्र पैदा हों, उनको उसी जाति का जानना चाहिए। ब्राह्मणादि के अपने से एक श्रेणी नीचे जाति की स्त्री में पैदा हुए पुत्र पिता के समान जाति के गिने जाते हैं—क्योंकि वे माता के दोष से निन्दित हैं। अपने से एक एक श्रेणी नीचे की जाति में उत्पन्न पुत्रों की यह सनातन विधि है और अपने से दो दो जाति नीचे की स्त्रियों में पैदा पुत्रों की विधि इसप्रकार है:—॥ ५-७॥

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥ ८॥
क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते॥ ९॥
विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः॥ १०॥
क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ॥ ११॥

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥ १२॥

ब्राह्मण से वैश्यकन्या में अम्बष्ठ जाति का पुत्र होता है और शूद्रकन्या में निषाद * और पारसव कहा जाता है। क्षत्रिय से शूद्रकन्या में क्रूर आचारवाला पुत्र उग्रजाति का कहलाता है, क्योंकि उसका शरीर क्षत्रिय और शूद्रा से हुआ है। ब्राह्मण के क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र जाति की कन्या से, क्षत्रिय के वैश्य-शूद्र-कन्या से और वैश्य के शूद्र जाति की कन्या से उत्पन्न हुए पुत्र अपसद-नीच कहलाते हैं। क्षत्रिय से ब्राह्मणकन्या में पैदा हुआ पुत्र जाति से सूत होता है। वैश्य से ब्राह्मणी में वैदेह जाति का और वैश्य से क्षत्रिया में मागध जाति का होता है। शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया और ब्राह्मणी में क्रम से अयोगव, क्षत्ता और चाण्डाल जाति के पुत्र होते हैं और वे मनुष्यों में अधम-वर्णसङ्कर कहलाते हैं॥ ८-१२॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ।
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि॥ १३॥
पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्।
ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते॥ १४॥
ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः॥१५॥

एक एक जाति के अन्तरसे अर्थात् ब्राह्मण से वैश्या में अनुलोम से उत्पन्न पुत्र जैसे अम्बष्ठ और उग्र कहे हैं वैसे प्रतिलोम से अर्थात् शूद्र से क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र क्षत्ता और वैदेह कहलाते

* निषाद संकर जाति का बोधक है। निरुक्त में 'निषादः पञ्चमः' लेख है। यहां पर जो वैश्य और शूद्रकन्याओं का ग्रहण है उसको विवाहिता समझना चाहिए। क्योंकि याज्ञवल्क्य का वचन है:—'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः।'

हैं। द्विजों के नीचे जाति की स्त्री में माता के दोष से उत्पन्न पुत्र 'अनन्तर' कहलाते हैं। ब्राह्मण से उग्र की कन्या में आवृत जाति का अम्बष्ठकन्या में आभीर जाति का और आयोगवी में धिग्वण जाति का पुत्र कहलाता है ॥ १३-१५ ॥

आयोगवश्च क्षत्ता च चाण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥
वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु ।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥
जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ।
शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥
क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते ।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥
द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
तान् सावित्री परिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥
व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥
झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥
वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च ।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्त्वत एव च ॥ २३ ॥

आयोगव, क्षत्ता और चाण्डाल ये शूद्र से प्रतिलोमभाव से पैदा तीन मनुष्यों में अधमहैं अपसदहैं। वैश्य से मागध और वैदेह और क्षत्रिय से सूत, ये तीन भी प्रतिलोमभाव से पैदा होते हैं

अपसद हैं। निषाद से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र 'पुक्कस' जाति का और शूद्र से निषादकन्या में कुकुट जाति का पुत्र होता है। इसीप्रकार क्षत्ता से उग्रकन्या में 'श्वपाक' और वैदेह से अम्बष्ठी में 'वेण' कहलाता है। द्विजाति अपनी सवर्णा स्त्री में उत्पन्न पुत्रों का संस्कार जो न करें तो वे गायत्रीभ्रष्ट 'व्रात्य' कहलाते हैं। व्रात्य ब्राह्मण से पापी-भूर्जकंटक उत्पन्न होते हैं, उन की आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैखसंज्ञा होती है। व्रात्य-क्षत्रिय से उत्पन्न पुत्र झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड़ कहलाते हैं। व्रात्य-वैश्य से उत्पन्न पुत्र सुधन्वाचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत कहलाते हैं॥ १६-२३॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः॥ २४॥
संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥२५॥
सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः।
मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽयोगव एव च॥ २६॥
एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु॥ २७॥
तथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात्॥२८॥

ब्राह्मणादि वर्णों में आपस के व्यभिचार से, अपने सगोत्रा के साथ विवाह न करने से और अपने वर्णाश्रम धर्मों को छोड़ने से वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं। जो सङ्कीर्णयोनि, प्रतिलोम और अनुलोम के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं उनको विशेषरीति से कहते हैं:-सूत, वैदेह, चाण्डाल, मागध, क्षत्ता और आयोगव ये छः पुरुष अपनी माता की जाति में और अपने से ऊंची जाति में जो

सन्तान पैदा करें वे अपनी जाति की होती हैं। और जैसे ब्राह्मण का तीनों वर्णों में से क्षत्रिय और वैश्यकन्या में और अपनी जाति की कन्या में पैदा पुत्र द्विज कहा जाता है, वैसे क्षत्रिय से ब्राह्मणी, वैश्य से क्षत्रिया और ब्राह्मणीकन्या में उत्पन्न पुत्र उत्तम गिने जाते हैं॥ २४-२८॥

ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान्।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान्॥ २९॥
यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते॥ ३०॥
प्रतिकूलं वर्त्तमाना बाह्याबाह्यतरान् पुनः।
हीना हीनान् प्रसूयन्ते वर्णान् पञ्चदशैव तु॥ ३१॥

आयोगव आदि छः प्रतिलोम पुत्र परस्पर में अपने से अधम जाति के पुत्रों को पैदा करते हैं। जैसे शूद्र ब्राह्मण की कन्या में वर्णसंकर चाण्डाल पुत्र पैदा करता है वैसे चाण्डाल चारोंवर्ण की कन्याओं में अपने से भी नीच-जाति के पुत्रों को उत्पन्न करता है। चाण्डाल वगैरह अपनी दूसरी पाँच प्रतिलोम जातियों में अति अधम पुत्रों को उत्पन्न करते हैं और प्रतिलोम जाति के वर्ण-संकर अपने से उत्तम जाति की कन्या में हीन जाति के पन्द्रह पुत्रों को उत्पन्न करता है। अर्थात् चारोंवर्ण की स्त्रियों में तीन अधमों के तीन तीन पुत्र बारह हुए और उनके पिता तीन अधम मिलकर १५ हुए॥ २९-३१॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम्।
सैरन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे॥ ३२॥
मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते।
नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये॥ ३३॥

निषादो मार्गवं सूतें दासं नौकर्मजीविनम् ।
कैवर्त्तकामिति यं प्राहुरार्यावर्त्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥
मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गर्हितान्नाशनासु च ।
भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥
कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥
चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।
आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥
चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥
निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥

दस्यु से आयोगवी में 'सैरिन्ध्र' जाति का पुत्र होता है । वह दास न होकर भी केश सँभालना हाथ-पैर दाबना वगैरह काम करे और जाल से मृग आदि को पकड़े । वैदेह से आयोगवी स्त्री में 'मैत्रेयक' जाति का पुत्र होता है । वह मधुरभाषी, सूर्योदय-समय में घंटा आदि का शब्द करके राजा आदि भद्र पुरुषों की प्रशंसा का काम करे । निषाद, आयोगवी में भार्गव जाति का पुत्र पैदा करता है वह दास भी कहाता है, नौका से जीविका करता है और आर्यावर्तदेशनिवासी उसको 'कैवर्त्त' कहते हैं । इसी प्रकार मृत मनुष्य वस्त्र पहननेवाली, क्रूरस्वभाव, जूंठन खाने वाली आयोगवी में अपने पिता के भेद से अधम जातीय सैरिन्ध्र, मैत्रेय और मार्गवजाति के तीन पुत्र पैदा होते हैं । निषाद से वैदेहीकन्या में कारावर जाति का पुत्र होता है, वह मोची का काम करे । वैदेहिक से वैदेही में अंध्र और मेदजाति के पुत्र होते

हैं वे गांव से वाहर रहें। चाण्डाल से वैदेही में पाण्डुसोपाक पैदा होता है, वह वृक्षों की छाल से पंखा, सूप, आदि से जीविका करे। निषाद से वैदेही में आहिण्डक, चाण्डाल से पुक्सी में, सोपाक और चांडाल से निषादस्त्री में अन्त्यावसायी जाति के पुत्र होते हैं। ये जल्लादी का काम करें, मरघट में रहें। ये सब महादूषित होते हैं॥ ३२-३६॥

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः॥४०॥
सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ४१॥
तपो बीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥ ४२॥
शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ ४३॥
पौण्ड्रकाश्चोड्रद्राविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ ४४॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो वहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ ४५॥
ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः।
ते निन्दितैर्वर्त्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः॥ ४६॥
सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम्।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः॥ ४७॥

इस प्रकार वर्णसंकरों की जातियां उनके माता-पिता के साथ

कही गई हैं। इन में छिपी या प्रकट जातियों को उनके कर्मों से जानना चाहिए। अपनी जाति और पिछली जाति की स्त्री में द्विज के पैदा किए छः पुत्र उपनयन संस्कार के योग्य होते हैं। और प्रतिलोम से उत्पन्न हुए सब शूद्र के समान माने जाते हैं। तप के प्रभाव से (विश्वामित्र) और बीज के प्रभाव से (ऋष्यशृङ्ग) सब युगों में मनुष्यजन्म की उचाई और निचाई को प्राप्त होते हैं। पुंड्र, उड्र, द्रविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, अपह्नव, चीन, किरात, दरद और रूसदेश के क्षत्रियगण धीरे धीरे धर्मक्रियाओं को छोड़ देने से और धर्मोपदेशक ब्राह्मणों का संग न करने से वृषल-म्लेच्छपने को प्राप्त होगये। इस जगत् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रजाति के पुरुष जो क्रिया के लोप से पतित जाति के होगए हों, वे आर्यभाषा बोलें या म्लेच्छभाषा, पर उन को 'दस्यु' चोर समझना चाहिए *। द्विजों में जिनको अपसद वा वर्णसंकर कहा है वे द्विजों के ही दूषित कामों से जीविका करें। सूतों का काम, घोड़े का सारथि होना, अम्बष्ठों का चिकित्सा, वैदहों का अन्तःपुर का काम और मागधों का व्यापार कर्म है॥ ४०-४७॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च।
मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम्॥ ४८॥
क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौको बधबन्धनम्।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम्॥ ४९॥
चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च।

* इसीलिए जिन देशों में ब्राह्मणादि आर्यजन निवास नहीं करते वे देश 'कीकट' आदि निंद्य शब्दों से वेद में लिखे हैं। जैसा—'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः'। यास्क मुनि ने निरुक्त में व्याख्या की है—'कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः...'। शक, यवन आदि म्लेच्छों के भाषा शब्द हमारी आर्यभाषा से बहुत मिलते हैं। इससे अनुमान होता है सबका मूल कुटुम्ब एक ही था। देश और कर्म त्याग से अनार्य होगये हैं।

वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥
चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥
वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ।
न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥
अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥
दिवाचरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः।
अबान्धवं चैव शवं निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

निषादों का काम मछली मारना, आयोगव का लकड़ी काटना, मेद, अंध्र, चंचु और मद्गुका बनपशुओंको मारना, क्षत्ता, उग्र और पुक्कस का बिलों में रहनेवाले साँप, नौला को मारना वा पकड़ना। धिग्वणों का मोची का काम और वेणों का बाजा बनाने का काम है। क्षत्ता आदि जातिवाले गाँव के पास प्रसिद्ध वृक्ष के नीचे, श्मशान में, पर्वत पर, बगीचे में रहकर अपनी अपनी जीविका को करें। चाण्डाल और श्वपच गाँव के बाहर रहें, इनके पात्रों को काम में न लाना। कुत्ता, गधा आदि इनके धन हैं। ये मुरदा के कफ़न धारण करें, फूटे पात्रों में भोजन करें, लोह के गहने पहनें और रोज़ गावों में घूमा करें। पुरुष को धर्माचरण के समय इन चाण्डालों का दर्शन भी न करना चाहिए, इनका व्यवहार और विवाह समान-जातिवालों में होना चाहिए। इनका भोजन पराधीन होवे, फूटे पात्रों में खाने को अन्न देवे और ये लोग रात में गाँव या नगर में न फिरें। राजा की आज्ञा से चपड़ास पाए हुए

काम के लिए दिन में घूमें और बेवारिश मुरदों को ले जावें। यह मर्यादा है ॥ ४८-५५ ॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥
वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥
अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥
पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥
कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥
यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥
ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

जिनको राजाज्ञा से फाँसी का दण्ड हुआ हो उनको शास्त्रानुसार मारे और उनके वस्त्र, शय्या, आभूषणों को लेवे। जातिभ्रष्ट, वर्णसङ्कर, अपरिचित और आर्य मालूम होनेवाला ऐसे अनार्यों को उनके कर्मों से पहचाने। असभ्यता, कठोरपन, क्रूरता और अनाचार से लोक में पुरुष की वर्णसङ्करता प्रकट होती है। वर्णसङ्कर अपने पिता का या माता का अथवा दोनों का स्वभाव पाता है। वह अपने स्वभाव-शील को किसी भांति छिपा नहीं सकता। वर्णसङ्कर उत्तम कुल में पैदा होने पर भी अपने उत्पादक के स्वभाव

को कुछ न कुछ पाताही है । जिस देश में ये वर्णदूषक सन्तान होते हैं वह देश प्रजा के साथ जल्द ही बिगड़ जाता है । ब्राह्मण, गौ, स्त्री और बालरक्षा के लिए निष्कामभाव से प्राण छोड़ने से प्रतिलोमजों को उत्तम जाति में जन्म मिलता है ॥ ५६-६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

चारों वर्णों के धर्म-कर्म-जीविका आदि ।

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता और इन्द्रिय-निग्रह यह चारों वर्णों का संक्षिप्त-धर्म मनुजी ने कहा है ॥ ६३ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥ ६४॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥
अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यामप्यनार्याश्च श्रेयस्त्वं केति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥
तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण से शूद्रा में कन्या हो, वह कन्या ब्राह्मण को विवाहित हो, उसके भी कन्या हो और वह भी ब्राह्मण को दी जाय, यों सातवीं पुस्त में जो पुरुष उत्पन्न होगा, उसका पूर्वज पारशव होने पर भी वह पुरुष ब्राह्मण माना जाता है । शूद्र जैसे ब्राह्मणता को पाता

है वैसेही ब्राह्मण शूद्रता को पाता है। ऐसेही क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र छठी पीढ़ी में शूद्र होता है और वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न पांचवीं पीढ़ी में शूद्र होता है। ब्राह्मण से शूद्रा में और शूद्र से ब्राह्मणी में दैवेच्छा से पुत्र पैदा हो, उनमें श्रेष्ठता इस प्रकार है- ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र यज्ञादि कर्म करताहो तो 'आर्य' कहलाता है। और शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ, 'अनार्य' कहलाता है। पहला नीच जाति में होने से और दूसरा प्रतिलोम होने से दोनों संस्कार के अयोग्य हैं। यह धर्म की मर्यादा है ॥ ६४-६८॥

सुवीजं चव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा।
तथाऽऽर्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥
वीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः।
वीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः॥ ७० ॥
अक्षेत्रे वीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति।
अवीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

अच्छा वीज अच्छे खेतमें वोनेसे जैसे अच्छा होताहै, वैसे आर्य से आर्या में पैदाहुआ पुत्र सब संस्कार के योग्य होताहै। कोई विद्वान् वीज की प्रशंसा करते हैं, कोई क्षेत्र की प्रशंसा करते हैं, कोई वीज और क्षेत्र दोनों की प्रशंसा करते हैं, उसमें व्यवस्था यों है- ऊसर में वोया वीज वीचही में नष्ट होजाताहै और विना बीज के खेत कोरा-सपाट पड़ा रहताहै ॥ ६९-७१ ॥

यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥
अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्।
संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥
त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥
वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।
न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥
शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥

क्योंकि बीज केही प्रभाव से हरिणी आदि में ऋष्यशृङ्ग उत्पन्न हुए और माननीय-पूज्य हुए इसलिए बीज उत्तम माना जाता है। शूद्र द्विज का कर्म और द्विज शूद्र का कर्म करता हो तो दोनों की तुलना करके ब्रह्माने कहाहै-शूद्र द्विजकर्म में अनधिकारी होनेसे और ब्राह्मण निषिद्ध आचरण करने से समान नहीं है। क्योंकि गुण-स्वभाव के बिना केवल कर्म से अनार्य, आर्य नहीं होसकते । जो ब्रह्मयोनिज ब्राह्मण हैं, वे अच्छे प्रकार इन छः कर्मों का अनुष्ठान करें पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। ब्राह्मण के ये छः कर्म हैं । इनमें यज्ञ कराना, पढ़ाना और शुद्धदान लेना ये तीन कर्म जीविका हैं। ब्राह्मण के धर्मों से क्षत्रिय के तीन धर्म छूटे हैं पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना । अर्थात् इन कामों को क्षत्रिय न करें । और वैश्य भी न करें, यही शास्त्रमर्यादा है। क्योंकि प्रजापति ने क्षत्रिय, वैश्य के लिए ये धर्म नहीं कहे हैं।

शस्त्र, अस्त्र धारण करना क्षत्रिय की और व्यापार, पशुपालन, खेती वैश्य की आजीविका के लिए हैं और दान देना, वेद पढ़ना, यज्ञकरना, इन दोनों का धर्म है ॥ ७२-७६ ॥

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।
वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥
अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥
वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥
इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् ।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥
सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥
सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।
अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण का वेदाभ्यास करना, क्षत्रिय का रक्षा करना और वैश्य का व्यापार करना ये अपने अपने कर्मों में विशेष कर्म हैं । ब्राह्मण यदि वेद पढ़ाकर अपनी जीविका न करसके तो क्षत्रिय के कर्म से जीविका करे । यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों के कर्मों से जीविका न

करसके तो खेती, गोरक्षा आदि वैश्यजीविका से निर्वाह करे। ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्य जीविका से निर्वाह करता हुआ भी खेती को कभी न करे। कोई खेती को अच्छी मानते हैं, पर यह सत्पुरुषों में निन्दित है। क्योंकि इसमें हलसे जीव हिंसा, अवर्षा-सूखा आदि का डर है, पराधीन कर्म है। ब्राह्मण और क्षत्रिय की जीविका अपने कर्मों से न चले तो निन्दित कर्मों को छोड़कर, वे वैश्य वृत्ति, व्यापार का आश्रय लेवें। ब्राह्मण सब भांति के रस, सब अन्न, तिल, पत्थर, निमक, पशुओं को न बेंचे। सब प्रकार के लाल वस्त्र, सन-अलसी-ऊन के विनारँगे वस्त्र, फल, कंद, औषधों को न बेंचे ॥ ८०-८७ ॥

अपःशस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥
आरण्यांश्च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥८९॥
काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः।
विक्रीणीत तिलाञ्छुद्धान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥९०॥
भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः।
कृमिभूतःश्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥
इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

जल, हथियार, विष, मांस, सोमरस, सब तरहकी सुगन्धि, दूध, शहद, दही, घी, तेल, मद्य, गुड़, कुश, जंगली पशु, दाढ़वाले पशु, पक्षी, भांग, गांजा, नील, लाख और एक खुरके पशु, इन सबका

व्यापार न करे । ब्राह्मण किसान खेती करके तिल पैदा किये हो तो उसको यज्ञादि के लिए बेंच डाले । जो पुरुष भोजन, दान और स्नान के सिवा, दूसरे कामों में तिलका उपयोग करता है वह कीड़ा होकर पितरों के साथ कुत्ते की विष्टा में डूबता है । मांस, लाख और लोन बेंचने से ब्राह्मण तुरंत पतित होजाता है । और दूध बेंचने से तीन दिनमें शूद्र होजाता है ॥ ८८–९३ ॥

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ।
कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

ऊपर गिनाये पदार्थों को छोड़कर, दूसरे शास्त्र में निषिद्ध पदार्थों को यदि ब्राह्मण इच्छा से बेंचता है, तो वह सात रात्रि के बाद, वैश्यपने को पाता है । गुड़ आदि रसोंका घी आदि रसोंसे बदला करे, किन्तु लोन का रसों से बदला न करे । पका अन्न, कच्चा अन्न से और तिल दूसरे अन्न से बदल लेवे । इन विधियों से आपत्ति में पड़ा क्षत्रिय भी वैश्यवृत्ति से जीवन निर्वाह करे । परन्तु ब्राह्मण की जीविका से कभी जीविका न करे ॥ ९४–९५ ॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥१००॥
वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वेपथि स्थितः।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमाहिते ॥ १०३ ॥

जो नीचजाति का पुरुष लोभ से, उत्तम जाति के कर्म से जीविका करे, उसका धन छीनकर राजा देश से निकाल दे। अपना धर्म किसी अंश में न्यून हो तो भी अच्छा है। पर दूसरे का धर्म सर्वांग पूर्ण भी अच्छा नहीं। क्योंकि दूसरे के धर्म से जीविका करने वाला तत्काल जाति से भ्रष्ट होजाता है। यदि वैश्य अपनी वृत्ति से जीविका न कर सके तो शूद्रवृत्ति से भी निर्वाह कर सकता है। पर जूंठा खाना आदि न करे और दुःख के दिन बीत जाने पर उसको छोड़ देवे। यदि शूद्र द्विजोंकी सेवा न कर सके और उसके पुत्र, स्त्री भूखों मरते हों तो शिल्प कार्य से जीविका करे। जिन कार्यों के करने से द्विजातियों की सेवा के लिए अवकाश मिल सके, ऐसे शिल्पकार्यों को करे। यदि ब्राह्मण धर्म मार्ग में स्थित, जीविका की कमी से दुःखी हो तो सब से दान लेवे। क्योंकि पवित्र दूषित होता हो, यह धर्म से सिद्ध नहीं होता। आपत्तिकाल में, निंदित को वेद पढ़ाने, यज्ञ कराने और उनसे दान लेने से ब्राह्मणों को दोष नहीं लगता। क्योंकि वे अग्नि और जल के समान पवित्र हैं॥ ९६-१०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥
श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥
भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥
क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

प्राणान्त दुःख न पड़कर, जो पुरुष मनमाना अन्न खाता है, वह कीच से आकाश के समान, पाप से लिप्त नहीं होता। भूखसे दुःखी अजीगर्त ऋषि (सौ गो के लोभ से) पुत्र मारने को तैयार हुए थे पर उन्हें दोष नहीं लगा। धर्माधर्म के ज्ञाता वामदेव ऋषि क्षुधा से प्राणरक्षार्थ कुत्ता का मांस खाना चाहा। महातपस्वी भरद्वाज पुत्रसहित निर्जन वन में क्षुधा से पीड़ित होकर, वृधु-नामक बढ़ई से बहुत गौ दान में लीथीं। धर्माधर्म के ज्ञाता, विश्वा-मित्र भूख से दुःखी होकर, चाण्डाल के हाथ से कुत्ता की जाँघ लेकर, खाने को उद्यत हुए थे ॥ १०४–१०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥
याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥
जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

दान लेना, यज्ञ कराना और वेद पढ़ाना इनमें दान लेना अधम है और ब्राह्मण को मृत्यु के बाद परलोक में दुःख देता है। क्योंकि याजन और अध्यापन संस्कार वालों को कराये जाते हैं। और प्रतिग्रह शूद्र से भी लिया जाता है । अनुचित-याजन और अध्यापन का पाप जप, होम से दूर होता है और प्रतिग्रह का पाप वस्तु के त्याग से या तप से दूर होता है ॥ १०९-१११ ॥

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥११२॥
सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः ।
याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥
अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च ।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥
सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥
विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥११७॥
चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात् प्रतिमुच्यते ॥११८॥
स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः ।
शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥११९॥

किसी उपाय से जीविका न कर सके तो ब्राह्मण शिल, उञ्छ को

भी ले लेय। क्योंकि प्रतिग्रहसे शिल श्रेष्ठहै और उञ्छ उससे भी श्रेष्ठ माना जाता है। जो स्नातक ब्राह्मण निर्धनता से दुःख भोगता हो वह राजा से अन्न, वस्त्र या धन मांगे यदि न दे तो उसको त्यागदे। विना जोता खेत, गौ, बकरा, मेढ़ा, सोना, कच्चा और पक्का अन्न इनमें अगले अगले से पहले पहले निर्दोष माने जाते हैं। दायभाग का दावा आदि से मिले, बेंचने में मिले, विजय से मिले, ब्याज में मिले, परिश्रम से मिले या सत्पुरुषों से दान मिले ये सात प्रकार की धन की प्राप्ति धर्मानुकूलहै। विद्या, कारीगरी, नौकरी, सेवा, पशुपालन, व्यापार, खेती, सन्तोष, भिक्षा और ब्याज ये दश जीविका के साधनहैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय आपत्ति में भी ब्याजपर धन न दें। परन्तु धर्मार्थ किसान वगैरह को थोड़े ब्याजपर कुछ द्रव्य दे देवे। राजा आपत्ति में भी चौथा भाग लें-कर यदि प्रजा की पूरी रक्षा करे तो पातकों से छूट जाता है। युद्ध करना क्षत्रिय का निजधर्म है, इसलिए युद्ध से मुँह न फेरे। वैश्यों की शस्त्र से रक्षा करके, अपने राजकीय-कर को ग्रहण करे॥ ११२-११६॥

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम्।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा॥ १२०॥
शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन् क्षत्रमाराधयेद्यदि।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्॥१२१॥
स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ १२२॥
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्॥ १२३॥
प्रकल्प्या अस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्॥१२४॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः॥१२५॥
न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥१२६॥

राजा वैश्यों से अन्नका आठवां भाग लेय और कार्षापण तक सराफ़ी के लाभ पर बीसवां भाग ले और शूद्र मज़दूर, कारीगरोंसे काम करा ले। ब्राह्मण की सेवासे शूद्र जीविका न करसके तो क्षत्रिय वा धनी वैश्य की सेवा करके, जीविका करे। परन्तु लोक परलोक दोनों में सुख चाहनेवाला शूद्र ब्राह्मण की सेवा करे। अमुक शूद्र अमुक ब्राह्मण का आश्रित है, ऐसा कहलाने से ही शूद्र कृतार्थ होता है। ब्राह्मणसेवाही शूद्र का प्रधान कर्म है। इस के सिवा उसके कर्म निष्फल हैं। ब्राह्मण सेवकों की काम करनेकी शक्ति, बुद्धिमानी और परिवार को देखकर योग्यतानुसार अन्न, वस्त्र, पुराने ओढ़ने, बिछौने वग़ैरह देवे। सेवक शूद्र को लसुन आदि अभक्ष्य-भक्षण से कोई पातक नहीं लगता। उनका उपनयन आदि संस्कार भी नहीं होता। अग्निहोत्रादि धर्म में उनका अधिकार नहीं है और बिना मन्त्र होम आदि का निषेध भी नहीं है। वह भक्तिसे करसकता है॥ १२०-१२६॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥ १२७॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥१२८॥
शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूद्रोऽपि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥ १२९॥
एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः।

यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम्॥१३०॥
एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम्॥१३१॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रणीतायां स्मृतौ
दशमोऽध्यायः॥१०॥

धर्मज्ञ शूद्र धर्म संपादन की इच्छा से मन्त्र के विना सत्पुरुषों के आचरण करते हुए दोष नहीं किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं। शूद्र जैसे जैसे सदाचार का पालन करता है वैसे वैसे लोक में प्रशंसा पाता है और मरकर उत्तम लोक का भागी होता है। समर्थ भी शूद्र धनसंग्रह न करे, क्योंकि शूद्र धन पाकर ब्राह्मणों को दुःख देता है। इसप्रकार ये सब चारों वर्णों के आपत्काल के धर्म कहे गए हैं। जो अपने अपने धर्म का भलीभांति सेवन करते हैं वे परमगति को पाते हैं। यह चारों वर्णों की धर्मविधि पूरी हुई। अब प्रायश्चित्त की विधि कहेंगे॥१२७-१३१॥

दशवां अध्याय समाप्त॥

अथ एकादशोऽध्यायः।

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम्।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥ १ ॥
नवैतान् स्नातकान् विद्याद्ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान्।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥
एतेभ्योऽपि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम्।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥
सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत्।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥
कृतदारोऽपरान् दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संततिः ॥ ५ ॥
धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥
यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

ग्यारहवां अध्याय।

धर्म-भिक्षुक।

सन्तानार्थ विवाह करनेवाला, यज्ञ करने की इच्छावाला, मार्ग चलनेवाला, यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा देनेवाला, गुरु, माता और पिता के लिए धन का अर्थी, विद्यार्थी और रोगी इन नौ स्नातक ब्राह्मणों को धर्मभिक्षुक जानना चाहिए। ये सब निर्धन हों तो विद्या के अनुसार इनको दान देना चाहिए। इन ब्राह्मणों को

दक्षिणा के साथ अन्न देना और दूसरों को यज्ञ वेदी के बाहर पकाया अन्न देना कहा है। राजा यज्ञ-दक्षिणा में उत्तम वस्तुओं को योग्यता के अनुसार देवे। जो विवाहित पुरुष भीख मांगकर दूसरा विवाह करता है उसको रतिमात्र फल है और उसकी सन्तान द्रव्य देनेवाले की होती है। जो लोग विरक्त-वेदज्ञ-ब्राह्मणों को यथाशक्ति दक्षिणा देते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं। जिस के पास कुटुम्बियों के निर्वाहार्थ तीन साल तक का या अधिक अन्न हो, वह सोमयाग करने योग्य होता है॥ १-७॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम्॥ ८॥
शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः॥ ९॥
भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदैहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवितस्य मृतस्य च॥ १०॥
यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि॥ ११॥
यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये॥ १२॥
आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
नहि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः॥ १३॥

इससे कम द्रव्य होने में जो द्विज सोमयाग करता है उसका पहला सोमयज्ञ भी नहीं पूरा पड़ता। इसलिए दूसरा कभी न करे। जो कुटुम्ब को दुःखी होते दूसरों को धन देता है, वह पहले तो अच्छा लगता है, परन्तु परिणाम में विष के स्वाद सा भयानक मालूम होता है। वह केवल धर्म का झूंठारूप है। कुटुम्बियों को

दुःख देकर, जो पुरुष परलोक के लिए दानादि करता है, वह लोक-परलोक में दुःख फल को करता है । धार्मिक राजा के होते हुए क्षत्रियादि यजमानों का विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ किसी अङ्ग से रुका हो तो धनी वैश्य से जो सोमयज्ञ से रहित हो, उस के धन से मदद ले लेनी चाहिए। यज्ञ में दो वा तीन अङ्ग अधूरे हों और वैश्य से उतना धन न मिले तो शूद्र के घर से यथेच्छ धन ले लेय, क्योंकि शूद्र का यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ८-१३ ॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥
आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥
तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

जो अग्निहोत्री नहीं है और सौ १०० गौ का धन रखता है और जिसने यज्ञ न किया हो, पर हज़ार १००० गौ का धन हो, उन दोनों के घर से भी धन लेना चाहिए। जो ब्राह्मण नित्य दान लेता हो पर दान देता न हो, वह भी यज्ञार्थ धन दे तो ले लेना चाहिए। इस कर्म से उसका यश और धर्म बढ़ता है। जिसने तीन दिन तक भोजन न किया हो वह सातवीं खुराक धर्महीन पुरुष से भी अन्न ले लेवे तो कोई दोष नहीं है ॥ १४-१६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥
ब्राह्मणस्वं न हर्त्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।
दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥
यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥
न तस्मिन् धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
क्षत्रियस्य हि बालिश्याद् ब्राह्मणः सीदति क्षुधा॥२१॥
तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान् महीपतिः ।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥
कल्पयित्वास्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥२३॥
न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।
याजमाना हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥२४॥

खल (खरिहान) खेत या घर से या कहीं से अन्न लावे और उसका स्वामी पूछे तो उससे सत्य बात कह देवे । क्षत्रिय को ब्राह्मण का धन कभी न छीनना चाहिए । यदि निर्वाह न होसके तो दूसरे कुकर्मियों से धन ले लेय । जो पुरुष यज्ञादि धर्म न करने वालों से धन लेकर धर्माचारी सत्पुरुषों को देता है वह अपने को नौका बनाकर उन दोनों को तार देता है । यज्ञादि करनेवालों के धन को देवधन कहते हैं और यज्ञादि धर्म-कर्म न करनेवालों का धन आसुरीधन कहलाता है । ब्राह्मण निर्वाह के लिए कोई दोष भी करे तो भी उसको राजा दण्ड न करे । क्योंकि राजाही के दोषों से ब्राह्मण भूख से दुःख उठातेहैं । ब्राह्मण के परिवार, विद्या, शील आदि को जानकर राजा धर्मार्थ जीविका कायम कर देवे । और चोर वगैरह दुष्टों से रक्षा करे क्योंकि उसके धर्म का छठा भाग राजा पाता है । ब्राह्मण यज्ञ के लिए शूद्र से धन कभी न

मांगे। क्योंकि शूद्रभिक्षा से यज्ञ करनेवाला मरकर चण्डाल होता है॥ १७-२४॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः॥२५॥
देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति॥ २६॥
इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे॥ २७॥
आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥ २८॥
विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः॥ २९॥

जो ब्राह्मण यज्ञ के लिए धन मांगकर यज्ञ में नहीं लगाता वह मरकर सौ वर्ष भास वा कौआ की योनि में रहता है। जो देवार्पण या ब्रह्मार्पण किये धन को लोभ से खाजाता है वह पापात्मा परलोक में गीध की जूंठन से जीता है। पशुयाग या सोमयाग न होसके तो उस दोष की शान्ति के लिए ब्राह्मण को शूद्र से भी धन लेकर वैश्वानरी इष्टि करनी चाहिए। जो द्विज आपत्काल के न होते आपत्काल के धर्म से बर्ताव करता है वह परलोक में उसका फल नहीं पाता। विश्वेदेव, साध्यदेव, महर्षि और ब्राह्मणों ने मृत्यु से डरकर, आपत्काल में मुख्य विधि के स्थान में प्रतिनिधि की कल्पना की है॥ २५-२९॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥ ३०॥

न ब्राह्मणोऽवेदयत किञ्चिद्राजनि धर्मवित्।
स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान् मानवानपकारिणः॥ ३१॥
स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः॥ ३२॥

मुख्य विधि की शक्ति होने पर भी जो पुरुष प्रतिनिधि से कर्म करता है उस दुर्बुद्धि को उस धर्म का फल परलोक में नहीं मिलता। धर्मज्ञ ब्राह्मण अपने थोड़े नुक़सान को राजा से न कहे। उन अपकारियों को अपने सामर्थ्य सेही दण्ड देवे। तपशक्ति और राजशक्ति इनमें अपनी तपशक्ति अधिक प्रभावशाली है। इसलिए द्विजों को अपनी ही शक्ति से शत्रु दमन करना चाहिए॥ ३०-३२॥

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्याविचारयन्।
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः॥ ३३॥
क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः।
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः॥ ३४॥
विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत्॥ ३५॥
न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्त्तो नासंस्कृतस्तथा॥ ३६॥
नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः॥ ३७॥

ब्राह्मण अथर्ववेद के आङ्गिरस मन्त्रों को पढ़कर अभिचार करे। मन्त्रोच्चारण ही ब्राह्मण का शस्त्र है। उसीसे द्विज शत्रुओं का नाश करे। क्षत्रिय अपने भुजबल से, वैश्य और शूद्र धन से और

ब्राह्मण मन्त्र जप, हवन से आपत्ति को दूर भगावें । ब्राह्मण विहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला, पुत्र-शिष्यों का शासन करनेवाला, प्रायश्चित्तादि को बतानेवाला और सब का मित्र कहा गया है। उसको कोई बुरी बात या रूखी बात न कहे। कन्या, युवती, थोड़ा पढ़ा, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत-संस्काररहित पुरुष अग्निहोत्र न करे। यदि ये सब होता किये जायँ तो खुद और जिसका अग्निहोत्र हो वह दोनों नरकगामी होते हैं । इस कारण श्रौतकर्म में प्रवीण, वेदविशारद ही अग्निहोत्र का होता बन सकता है॥३२-३७॥

प्राजापत्यमदत्त्वाऽश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥
पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
नत्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते हि कथंचन ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥

जो ब्राह्मण वैभव होने पर अग्न्याधान स्वीकार करके प्रजापति देवतावाले अश्व का दान नहीं करता वह अग्न्याधान फल को नहीं पाता। श्रद्धावान्, जितेन्द्रिय पुरुष, पुण्य के दूसरे कर्मों को करे। पर न्यून दक्षिणा देकर कोई यज्ञ न करें अर्थात् विना पूरी दक्षिणा यज्ञ न करना चाहिए। कम दक्षिणा देकर यज्ञ कराने से यज्ञ इन्द्रियाँ, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशुओं का नाश करती है। इस कारण थोड़े धनवाला यज्ञ न करे ॥३८-४०॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन् मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥
ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥
अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥
अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥
अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण यदि जान-बूझकर दोनों काल हवन न करे तो एक मास चान्द्रायण करे। क्योंकि अग्निहोत्र का होम लोप करना पुत्रहत्या के समान है । जो ब्राह्मण शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र की उपासना करते हैं वे शूद्र ऋत्विज् हैं और वेदपाठियों में निंदित होते हैं । शूद्रधन से अग्निउपासना करनेवाले मूर्ख ब्राह्मणों के मस्तक पर धनदाता-शूद्र पैर रखकर परलोक में संकटों को तरजाता है। शास्त्रोक्त कर्मों को न करने और दूषित कर्मों को करने से और विषयों में आसक्ति से मनुष्य प्रायश्चित्त लायक होता है। अनजान में पाप करने पर विद्वानों ने प्रायश्चित्त कहा है । कोई श्रुतिप्रमाण से जानकर पाप करने पर प्रायश्चित्त का विधान कहा है। अज्ञान से किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है। और ज्ञान से किया पाप विविध प्रायश्चित्तों से शुद्ध होता है ॥ ४१-४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥
इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

विविध-प्रायश्चित्त ।

दैववश अथवा पूर्वजन्म के पाप से द्विज प्रायश्चित्त योग्य होकर विना उसको किये सज्जनों के साथ संसर्ग न करे । कोई यहां के कोई पूर्वजन्म के दुराचार से दुष्टात्मा मनुष्य, विविधरूप-विकारों को पाते हैं ॥ ४७--४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥
अन्नहर्त्तामयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥
दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ॥ ५२ ॥
एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धवधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५३ ॥

सोना का चोर बुरे नखोंवाला, शराबी काले दांतोंवाला, ब्रह्म-हत्यारा, क्षयरोगी और गुरु स्त्री-गामी चर्मरोगी होता है । चुगल की नाक सड़ती है, झूठे निंदक का मुख दुर्गन्धयुक्त होता है । अन्नचोर अङ्गहीन और अन्न में मिलावट करनेवाला अधिकाङ्ग होता है । पकान्न चोर को मन्दाग्नि, विद्याचोर गूंगा, वस्त्रचोर श्वेतकुष्ठी और घोड़े का चोर लूला होता है । दीप चुरानेवाला अंधा, दीप बुझानेवाला काना, हिंसा से अधिक रोगी और अहिंसा से नीरोग होता है । इस प्रकार अनेक पापकर्मों से मनुष्य जड़बुद्धि, गूँगे, अंधे, बहिरे और कुरूप होजाते हैं ॥ ४९—५३ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।

निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५४ ॥
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५५ ॥
अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५६ ॥

इसलिए पापशुद्धि के लिये नित्य प्रायश्चित्त करना चाहिए। जो लोग नहीं करते वे दूषित लक्षणयुक्त होजाते हैं। ब्रह्महत्या, मद्यपान, सुवर्ण की चोरी, गुरुस्त्री से व्यभिचार और इन महापापों के करनेवाले का संसर्ग ये सब महापातक कहे हैं। अपनी बड़ाई में झूंठ कहना, राजा से किसी की चुगली करना और गुरु को झूंठा दोष लगाना—ये पाप ब्रह्महत्या के समान हैं॥५४—५६॥

ब्रह्मोज्झता वेदनिंदा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५७ ॥
निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५८ ॥
रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५९ ॥
गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ६० ॥
परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६१ ॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६२ ॥

व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६३ ॥
सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥ ६४ ॥

वेद को भूलजाना, वेद की निंदा करना, झूंठी गवाही देना, मित्र का वध करना और अभक्ष्य को खाना, ये छः मद्यपान के समान हैं । धरोहर का मारना, मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, हीरा और मणि चुराना सुवर्णचोरी के माफिक है । सहोदर बहन, कुमारी कन्या, चाण्डालिनी, मित्र और पुत्र की स्त्री से समागम करना गुरुपत्नी के साथ समागम के समान हैं । गोहत्या करना, व्रात्य, शूद्रों को यज्ञ कराना, परस्त्री से व्यभिचार, अपने को दास-रूप से बेंचना, योग्य गुरु को त्यागना, निर्दोष माता-पिता को त्यागना, स्वाध्याय न करना, स्मार्त्ताग्नि को छोड़ना ये सब उपपातक हैं । छोटा भाई पहले विवाह करके अग्निहोत्र-धारण करे तो बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहाता है, उस बड़े और छोटे भाई को कन्या देना, उनको ऋत्विज् बनाना, कन्या को दूषण लगाना, शास्त्रमर्यादा से व्याज अधिक लेना, व्रत को तोड़ना, तालाब, बगीचा, स्त्री और सन्तान को बेचना, समय पर संस्कार न करना, बांधवों का पालन न करना, शिष्यों से मासिक लेकर पढ़ाना, नौकरी देकर पढ़ना, न बेंचने योग्य घी-दूध आदि बेंचना, सोने की खानों पर राजाज्ञा से अधिकारी होना, बड़े यन्त्र-कलों का चलाना, हरी जड़ी बूटियों को काटना, स्त्री से जीविका करना, अभिचार करना और वशीकरण करना—ये सब उपपातक हैं ॥५७-६४॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ६५ ॥
अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया ।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥ ६६ ॥

धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६७ ॥
ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्मं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६८ ॥
खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६९ ॥
निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ७० ॥
कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७१ ॥
एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक् पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७२ ॥

ईंधन के लिए हरे वृक्षों को काटना, अपने ही लिए भोजन बनाना, दूषित अन्न को खाना, समर्थ होकर भी अग्निहोत्र न लेना, चोरी करना, ऋणों को न चुकाना, असत् शास्त्रों का पढ़ना, नाच-गान में लगना, धान्य, कुप्य और पशुओं की चोरी, मद्यप स्त्री का संग, स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय का वध और नास्तिकता, ये सब उपपातक हैं। ब्राह्मण को पीड़ा देना, न सूंघने योग्य वस्तु को और मद्य को सूंघना, कुटिलता और पुरुष से मैथुन, ये जाति से भ्रष्ट करनेवाले पाप हैं। गधा, घोड़ा, ऊंट, मृग, हाथी, बकरा, मेढ़ा, मछली, सांप और भैंस का वध करना, इन कर्मों को 'संकरीकरण' पाप कहते हैं। निन्दितों से धन लेना, व्यापार, शूद्रसेवा और असत्य बोलना ये 'अपात्रीकरण' पाप हैं। कृमि, कीट और पक्षियों का वध, मद्य के साथ भोजन, फल, काठ और फूल चुराना और अधीरता ये 'मलिनीकरण' पाप हैं। ये सब ब्रह्म-

हत्यादि पाप जो अलग अलग कहे गये हैं वे जिन जिन व्रतों से नष्ट होते हैं-उनको सावधान होकर सुनो ॥ ६५-७२ ॥

ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटीं कृत्वा वने वसेत्।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥७३॥
लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः॥ ७४ ॥
यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥७५॥
जपन् वान्यतमं वेदं योजनान्तं शतं व्रजेत्।
ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥ ७६ ॥
सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७७ ॥
हविष्यभुग्वाऽनुसरेत् प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्।
जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥ ७८ ॥
कृतावपनो निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७९ ॥
ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान् परित्यजेत्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ८० ॥

ब्रह्महत्या—प्रायश्चित्त।

ब्रह्महत्या-पातक से निवृत्ति के लिए बारह वर्ष तक वन में कुटी बनाकर रहे, भिक्षा मांगकर खावे और झोपड़ी में मुरदे की खोपड़ी टांगे। अथवा शस्त्रधारियों की इच्छानुसार पातक ज़ाहिर होने

का निशान करे, या जलती आग में नीचा शिर करके तीनबार कूदे। अथवा अश्वमेध, स्वर्गजित्, अभिजित्, गोसव, विश्वजित्, त्रिवृत् और अग्निष्टुत् इन यज्ञों में कोईसा करे। अथवा मिताहारी जितेन्द्रिय होकर, किसी वेद का पाठ करता हुआ सौ योजन तक चलाजाय। अथवा वेदज्ञ ब्राह्मण को अपना सर्वस्व या जीविका योग्य धन,वा सब सामग्री सहित घर देदेवे। अथवा हविष्य भोजन करता हुआ सरस्वती नदी के सोते की तरफ़ गमन करे। या नियमित भोजन करके तीनों वेद संहिताओं का पाठ करे। या दाढ़ी, मूंछ मुड़ाकर, गांव के बाहर गौगोठ में, आश्रम में, या वृक्ष के जड़ में रहकर, गो-ब्राह्मण के हितसाधन में लगा रहे। अथवा ब्राह्मण और गौ के निमित्त तुरंत प्राण त्याग देने से ब्रह्महत्या से मुक्त होजाता है॥ ७३-८०॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते॥ ८१॥
एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति॥ ८२॥
शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते॥ ८३॥
धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते।
तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुध्यति॥ ८४॥

कोई चोर ब्राह्मण का धन चुराकर लिये जाता हो तो उस पर तीन बार चढ़ाई करके धन को लौटालावे या न लावे तो भी ब्रह्महत्या से छूट जाता है। अथवा जब धन के लिए वह ब्राह्मण युद्ध करके मरने को तैयार हो, तब उतना धन देकर उसका प्राण बचाने से भी ब्रह्महत्या से छूटजाता है। इस प्रकार, ब्रह्मचर्य से दृढ़तापूर्वक व्रत ठाननेवाला बारह वर्ष में ब्रह्महत्या से छूटजाता

है। या अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मण और राजा के सामने अपना पाप कहकर, अवभृथ-स्नान करने पर ब्रह्महत्या से मुक्त होता है। ब्राह्मण धर्म का मूल और क्षत्रिय अग्रभाग कहलाता है, इस लिए उनके सामने पाप कहकर शुद्ध होजाता है ॥ ८१-८४ ॥

ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८५ ॥
तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम् ।
सा तेषां पावना यस्मात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८६ ॥
अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८७ ॥
हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण जन्म से ही देवों का भी देव है, और उसका उपदेश वेदमूलक होने से लोक में प्रमाण माना जाता है। वेदज्ञों में तीन ब्राह्मण जो प्रायश्चित्त पाप का बतलावें, वह पापियों को पवित्र करता है। क्योंकि, ब्राह्मणों की वाणीही पावन है। इस लिए सावधान होकर कहे प्रायश्चित्तों में कोई भी करने से ब्राह्मण पाप-मुक्त होजाता है। अज्ञान में गर्भहत्या, यज्ञ करते क्षत्रिय, वैश्य और गर्भवती स्त्री का वध करके भी यही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥ ८५-८८ ॥

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा ।
अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८९ ॥
इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ९० ॥

साक्षी में झूठ बोलकर, गुरुको झूंठा दोष लगाकर, धरोहर मार कर और स्त्री वा मित्र का वध करके ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे। अजान में द्विज का वध किया हो तो ये प्रायश्चित्त कहे हैं। परन्तु जानकर हत्या करने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥८९-९०॥

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९१ ॥
गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।
पयो घृतं वाऽऽमरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९२ ॥
कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि।
सुरापानापनुत्यार्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९३ ॥
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमश्रुते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९४ ॥
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९५ ॥
यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ९६ ॥

मद्यपान-प्रायश्चित्त।

द्विज अज्ञान से मद्य पीकर, आग के मुवाफ़िक़ तपाकर मद्य पीवे, उससे शरीर जलजाने पर पाप से छूटता है अथवा गोमूत्र, जल, गौ का दूध, घी, गोबर का रस इनमें किसी पदार्थ को आग के मुवाफ़िक़ लाल करके मरणान्त पिया करे। या अन्नकण या तिल की खली एक साल तक रात में एक बार खाय। कम्बल ओढ़कर, बाल रखकर और मद्यपात्र का चिह्न धारण करे। सुरा अन्न का मल है और मल को पाप कहते हैं। इस कारण ब्राह्मण-क्षत्रिय-

वश्य को सुरा-मद्य न पीनी चाहिए । गुड़ की, पीठे की, और महुवे की ये तीन प्रकार की मद्य होती हैं । जैसी गुड़ की है वैसी ही दूसरी भी है । इस लिए द्विजों को न पीनी चाहिए । मद्य यक्षों का, मांस राक्षसों का और सुरा-आसव पिशाचों का भोजन है । देव-हवि खानेवाले द्विजों को यह कभी न सेवन करनी चाहिए ॥ ९१-९६ ॥

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९७ ॥
यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९८ ॥
एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९९ ॥

ब्राह्मण मद्यपान करके उसके नशे में अपवित्र स्थान में गिरता है, गोप्य वेदमन्त्र पढ़ता है और अकार्य करता है । जिस ब्राह्मण के शरीर में रहनेवाला वेदज्ञान एकबार भी मद्य से मिल जाता है उसका ब्राह्मणत्व नष्ट होजाता है और शूद्रता को प्राप्त होजाता है । यह सुरापान का प्रायश्चित्त नानाप्रकार का कहा है । अब सोना चुराने का प्रायश्चित्त कहा जायगा ॥ ९७-९९ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान् मां भवाननुशास्त्विति ॥ १०० ॥
गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।
वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०१ ॥
तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०२ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०३ ॥

सुवर्ण चोरी का प्रायश्चित्त।

सुवर्णचोरी करनेवाला ब्राह्मण राजा के पास जाकर अपना कर्म प्रकट करे और कहे कि मेरे को आप शिक्षा दें—तब राजा उसके कंधे पर से मूसल लेकर उसको एकवार मारे। चोर मारने से शुद्ध होता है और ब्राह्मण तप से शुद्ध होजाता है। जो तप से शुद्ध होना चाहे वह चीर पहन कर वन में ब्रह्महत्या का व्रत करे। इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे और गुरुपत्नीगमन के पाप को आगे लिखे व्रतों से दूर करे ॥ १००-१०३ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुध्यति १०४

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ १०५ ॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०६ ॥

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०७ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम्।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०८ ॥

गुरुपत्नीगमन-प्रायश्चित्त।

गुरुपत्नीगामी अपने पाप को कहकर लोहे की जलती हुई शय्या पर सोवे। या लोह की बनी स्त्री मूर्ति जलती हुई को चिपट कर मरने से पाप शुद्ध होता है। अथवा खुदही अपने लिङ्ग

और अण्डकोशों को काटकर अंजलि में रखकर मरण तक नैर्ऋत्य दिशा में चला जाय। या हाथ में खाट का पाया रक्खे, चीथड़े पहने, दाढ़ी मूंछों को बढ़ाकर निर्जन वन में एक वर्ष तक सावधानी से निवास करे। और प्राजापत्य व्रत करे। अथवा जितेन्द्रिय होकर, हविष्यान्न, जौ की लपसी खाकर तीन मास तक चान्द्रायण व्रत करे। इन व्रतों से महापातकीपुरुष अपने पापों को दूर करें और उपपातकी लोग आगे लिखे विविध व्रतों से अपने पापों का नाश करें॥ १०४-१०८॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः॥ १०९॥
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम्।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः॥११०॥
दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत्॥ १११॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः॥ ११२॥

उपपातकों का प्रायश्चित्त।

गोवध करनेवाला मुण्डन कराकर, गोचर्म ओढ़कर एक मास गौगोष्ठमें रहे और जौकी लपसी चाटे। दो मास तक गोमूत्र से स्नान करे, जितेन्द्रिय रहे, चौथे काल (दूसरे दिन सायंकाल) विना नमक का थोड़ा भोजन करे। दिन में गौओं के पीछे फिरे और खड़ा होकर उनके खुर से उड़ी धूर को पिये। गो-सेवा करे, उनको प्रणाम करे, रात में वीरासन से बैठा रहे। सदा गौओं के बैठने पर बैठे और खड़ी होने पर खड़ा हो, चलने पर चले और फिर बैठने पर बैठ जाय। यह सब प्रेमभाव से करे॥ १०९-११२॥

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११३ ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११४ ॥
आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११५ ॥
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११६ ॥
वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११७ ॥

रोगी, चोर, वाघ के भय से व्याकुल गिरीहुई कीचड़ में फँसी हुई गौ को सब उपायों से मुक्त करे। धूप में, वर्षा में, शीत में और आंधी चलने पर यथाशक्ति गौ की रक्षा करे फिर अपनी रक्षा करे। अपने या दूसरे के घर में, खेत में, खरिहान में चरती गौ को और दूध पीते बछड़े को किसी से न कहे। जो गोवध करने वाला पुरुष इस विधि से गोसेवा करता है वह तीन मास में गोहत्या के पाप से मुक्त होजाता है। इसभांति व्रत करनेवाला एक बैल और दश गौ दान करे। यह पास न हो तो वेदज्ञ-ब्राह्मण को सर्वस्व अर्पण कर देवे ॥ ११३-११७ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११८ ॥
अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११९ ॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्यृचा।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात् सर्पिषाहुतीः॥ १२०॥

अवकीर्णी को छोड़कर दूसरे उपपातकी द्विज अपनी शुद्धि के लिए इसी व्रत को या चान्द्रायण व्रतको करें। परस्त्री से ब्रह्मचर्य खण्डित करनेवाला अवकीर्णी होता है। वह रात को काने गधे पर चढ़कर चौराहा में जाकर पाकयज्ञ के विधान से निर्ऋति देवता का यज्ञ करे। अग्नि में विधि से होम करके 'सं मा सिञ्चन्तु मरुतः—' * इत्यादि ऋचा से, मरुत, इन्द्र, गुरु और अग्नि को घृत की आहुति करे॥ ११८-१२०॥

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः।
अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः॥ १२१॥
मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः॥ १२२॥
एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम्।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्मपरिकीर्तयन्॥ १२३॥
तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुध्यति॥ १२४॥
जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया।
चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया॥ १२५॥
संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम्॥ १२६॥

---

* 'सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे।' अथर्व०, ७।३।३३।१.

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः॥ १२७॥
अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः॥ १२८॥

ब्रह्मचारी इच्छा से वीर्यपात करे तो उसका व्रत भङ्ग होजाता है। यह धर्मज्ञ-ब्रह्मवादियों का मत है। व्रतभङ्ग से उसका तेज वायु, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि इन चार व्रतधारियों को प्राप्त होता है। इस व्रतभङ्ग का पाप लगे तो गधे का चमड़ा ओढ़कर अपना कर्म करे और सात घरों से भीख मांगे और उस भिक्षा से एक बार भोजननिर्वाह करे। और तीन बार स्नान करे। इस प्रकार एक वर्ष में शुद्ध होता है। जानकर कोई जातिभ्रंश कर पाप करे तो 'सान्तपन व्रत' और अनजान में करे तो 'प्राजापत्य व्रत' करे। संकर और अपात्र करनेवाले कर्मों में एक मास चान्द्रायण व्रत शुद्ध करता है। और मलिनीकरण कर्मों में तीन दिन जौ की लपसी खाने से शुद्ध होता है। सदाचारी क्षत्रिय के वध में ब्रह्महत्या का चौथाई वैश्य वध में आठवां हिस्सा और शूद्रवध में सोलहवां हिस्सा-प्रायश्चित्त जानना चाहिए। यदि श्रेष्ठ द्विज अज्ञान में क्षत्रिय का वध करे तो विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करके बाद में एक हज़ार गौ और एक बैल का दान करे॥ १२१-१२८॥

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम्।
वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः॥ १२९॥
एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम्॥ १३०॥
एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासाञ्शूद्रहा चरेत्।
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः॥ १३१॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्या व्रतं चरेत् ॥ १३२ ॥
पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा योजनं वाध्वनो व्रजेत्।
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाब्दैवतं जपेत् ॥ १३३ ॥
अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात् सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः।
पलालभारकं षण्ढे सैसकश्चैकमाषकम् ॥ १३४ ॥
घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणन्तु तित्तिरौ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३५ ॥
हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् १३६ ॥

अथवा वह पुरुष ग्राम से दूर वृक्ष के नीचे जटा रखकर एक वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे। और यहीं प्रायश्चित्त अज्ञान में सदाचारी वैश्य के वध में भी जानना चाहिए। और एकसौ गौ का दान करना चाहिए। शूद्रवध में भी यही सब प्रायश्चित्त छः मास तक करना दश श्वेतगौ और एक बैल दान करना चाहिए। बिलाव, नौला, पपीहा, मेंडक, कुत्ता, छिपकली, उल्लू और कौआ को अनजान में मारकर शूद्रहत्या का व्रत करे। अथवा तीन रात तक दूध पीकर रहे या एक योजन तक मार्ग चले या तीनबार नदी में स्नान करे या 'आपोहिष्ठा' इत्यादि वरुणसूक्त का पाठ करे। द्विज सर्प का वध करे तो तीखे नोक का-लोह का दण्डा दान करे। नपुंसक का वध करने पर एक भार पयाल वा एक मासा सीसा देय। सूअर के वध में घी भरा घड़ा, तीतर मारने पर एक द्रोण तेल, तोता की हत्या में दो वर्ष का बछड़ा, क्रौञ्च-वध में तीन वर्ष का बछड़ा दान करे। हंस, बगली, बगला, मोर, वानर, बाज और भास इन पक्षियों को मारकर ब्राह्मण को गोदान करे तब पाप से शुद्ध होता है ॥ १२९-१३६॥

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान् वृषान् गजम् ।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३७ ॥
क्रव्यादांस्तु मृगान् हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।
अक्रव्यादान् वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३८ ॥

घोड़े की हत्या में वस्त्र, हाथी की हत्या में पांच नीले बैल, बकरा और मेढ़ा के लिए सांड़ और गर्दभ के वध में एक वर्ष का बछड़ा दान करे। मांसाहारी पशुओं की हत्या में दूध देनेवाली गौ, मांस न खानेवाले पशुओं की हिंसा में बछड़ी और ऊंट की हिंसा में रत्तीभर सोने का दान करना चाहिए ॥ १३७-१३८ ॥

जिनकार्मुकवस्तावीन् पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३९ ॥
दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।
एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १४० ॥
अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।
पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४१ ॥
किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १४२ ॥
फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४३ ॥
अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥ १४४ ॥

चारों वर्ण की व्यभिचारिणी स्त्रियों की हत्या होने पर क्रमसे मृगचर्म, धनुष, बकरा और मेढ़े का दान करे। पूर्व कहे हुए सर्प

आदि के प्रायश्चित्तों को न करसके तो एक एक कृच्छ्र व्रत करे। हजार हड्डीवाले जीवों की हत्या और बिना हड्डीवाले गाड़ी भर जीवों की हत्या में शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे। अस्थि-हड्डी वाले प्राणियों की हत्या में ब्राह्मण को कुछ दक्षिणा दे और अस्थि-रहितों की हत्या में प्राणायाम से शुद्ध होता है। फल देनेवाले वृक्ष, गुल्म, बेल, लता और फूलवाले पौधों को व्यर्थ काटने पर सौ ऋचाओं का पाठ करे। सब भांति के अन्न, रस, फल-पुष्पादि में पैदा हुए जीवों के वध में 'घृत-प्राशन' शुद्ध करता है ॥ १३६-१४४ ॥

कृष्टजानामोषधीनां उत्पन्नानां स्वयं वने।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४५ ॥
एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम्।
ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४६ ॥

खेत में या वन में स्वयं उत्पन्न औषधियों को व्यर्थ काटने पर एक दिन दूध पीकर गौ के पीछे फिरे। ज्ञान या अज्ञान में हिंसा से हुए सब पाप इन व्रतों से नष्ट होजाते हैं। अब अभक्ष्य-भक्षण का प्रायश्चित्त सुनो ॥ १४५-१४६ ॥

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४७ ॥
अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शंखपुष्पीसृतं पयः ॥ १४८ ॥
स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशावारि पिबेत्त्र्यहम् ॥ १४९ ॥
ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ १५० ॥

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च ।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५१ ॥
वपनं मेखलादण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कार कर्मणि ॥ १५२ ॥

अभक्ष्य-भक्षणप्रायश्चित्त ।

अज्ञान में मद्यपान से संस्कार से शुद्धि होती है । जानकर पीने का कोई प्रायश्चित्त नहीं कहा है । मरणान्त में शुद्धि होती है-यही मर्यादा है । जिसने सुरा और मद्य के पात्र का जल पिया हो वह पांच दिन शंखपुष्पी का काढ़ा पिये । मद्य छूकर, देकर और विधि से ग्रहण करके और शूद्र का जूंठा जल पीकर, तीन दिन कुशका उबाला जल पीवे । सोमपान करनेवाला ब्राह्मण, मद्यप के मुखगंध को सूंघकर तीन प्राणायाम जलका और घृतप्राशन करने से शुद्ध होता है । अज्ञान से विष्ठा, मूत्र और मद्यका स्पर्श हुआ पदार्थ खाकर द्विजातियों का फिर संस्कार होना उचित है । द्वितीयबार संस्कार में द्विजातियों को मुण्डन, मेखला, दण्ड, भिक्षा और व्रत धारण नहीं करना होता ॥ १४७-१५२ ॥

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत् ॥ १५३ ॥
शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यान्यपि द्विजः ।
तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५४ ॥
विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५५ ॥
शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५६ ॥

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५७ ॥
मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५८ ॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधुमांसं कथंचन।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५९ ॥
विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वाश्वनकुलस्य च।
केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १६० ॥

अभोज्यों का अन्न, स्त्री और शूद्र का जूंठन खाकर और अभक्ष्य मांस खाकर सात रात जव की लपसी खावे। सिरका आदि सड़ी भोज्य वस्तु और काढ़ा पीकर विना वमन किये द्विज शुद्ध नहीं होता। गांव का सुअर, गधा, ऊंट, सियार, वानर और कौआ का मूत्र, विष्ठा खाजाने पर, चान्द्रायण व्रत करे। सूखा मांस, ज़मीन के फूल, अज्ञात और कसाईखाने का मांस खाकर भी चान्द्रायण ही करे। कच्चे मांस खानेवाले, सुअर, ऊंट, मुरगा, मनुष्य, कौआ और गधे का मांस खाने में आजाय तो तप्तकृच्छ्र से शुद्ध होता है। विना समावर्तन के जो ब्रह्मचारी द्विज, मासिक श्राद्ध का अन्न खाय वह तीन दिन उपवास करे और एक दिन जल में बैठे। जो ब्रह्मचारी किसी प्रकार मांस सेवन करले, वह प्राजापत्य व्रत करे और बाक़ी ब्रह्मचर्य को खतम करदे। बिल्ली, कौआ, चूहा, कुत्ता और नौला का जूंठा और बाल, कीड़ा पड़ा अन्न खाकर 'ब्रह्मसुवर्चला' का काढ़ा पीवे॥१५३-१६०॥

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः ॥१६१॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ १६२ ॥
धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ १६३ ॥
मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥१६४॥
द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः।
चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६५ ॥
भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६६ ॥
तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च।
चैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६७ ॥
मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च।
अयः कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥१६८॥

अपनी शुद्धि चाहनेवाला पुरुष अभोज्य अन्न न खाय और अज्ञान से खाया हुआ वमन करदे। यह न करसके तो शीघ्र प्रायश्चित्तों से शुद्धि करे। यह सब अभक्ष्य-भक्षण व्रतों की अनेक प्रकार की विधि कही। अब चोरी के पाप को नाश करनेवाले व्रतों को सुनो। ब्राह्मण यदि जानकर अपने सजातीय के घर से अन्न, पकान्न और धन चुरावे तो एक वर्ष प्राजापत्य करने से शुद्ध होता है। मनुष्य, स्त्री, खेत, घर, कूप और बावड़ी के जल की चोरी करने पर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। कम कीमत के पदार्थ दूसरे के घर से चुराने पर सान्तपन व्रत करे और वह पदार्थ लौटा देवे। लड्डू आदि भक्ष्य, खीर वगैरह भोज्य, सवारी,

शय्या, आसन, फूल, मूल और फल की चोरी में पञ्चगव्य से शुद्धि होती है। तृण, काठ, वृक्ष, सूखा अन्न, गुड़, वस्त्र, चर्म और मांस चुराने पर तीन दिन उपवास करे। मणि, मोती, मूँगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांस और पत्थर चुराने पर बारह दिन चावल की कनकी खावे॥ १६१-१६८॥

कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः॥१६९॥
एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत्॥ १७०॥
गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च॥१७१॥
पैतृस्वस्रेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥१७२॥
एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान्।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः॥ १७३॥

कपास, रेशम, ऊन दो और एक खुर के पशु, पक्षी, सुगन्ध द्रव्य, औषध, रस्सी की चोरी करने पर तीन दिन पानी पीकर बितावे। द्विजों को इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करना चाहिए। अगम्या स्त्री के गमन का पाप इन व्रतों से दूर करे:—सगी बहन, मित्र और पुत्र की स्त्री, कुमारी और चाण्डाली के साथ गमन में, गुरुपत्नी-गमन का प्रायश्चित्त करे। फूफू की बेटी, मौसी की बेटी और मामा की बेटी इन तीन बहनों से गमन करके चान्द्रायण व्रत करे। बुद्धिमान् पुरुष इन तीनों को स्त्रीरूप से स्वीकार न करे। ये जाति की होने से अगम्या हैं इनसे गमन करने से नरकगामी होता है॥ १६९-१७३॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७४॥
मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७५॥
चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यं तु गच्छति ॥१७६॥

अमानुषी योनि, रजस्वला और जल में वीर्यपात करके सान्तपन व्रत करे । द्विज को पुरुष, स्त्री, बैलगाड़ी में, जल में और दिन में, मैथुन करके वस्त्र सहित स्नान करना चाहिए । ब्राह्मण अज्ञान से चाण्डाल, म्लेच्छस्त्री से गमन करके, भोजन करके उनसे दान लेकर पतित होता है । और जानकर ऐसा कर्म करने पर उनके समान होजाता है ॥ १७४-१७६ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ १७७ ॥
सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७८॥
यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः ।
तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७९ ॥
एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।
पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १८० ॥

दुराचारी स्त्री को उसका पति एक घर में बन्द करे और जो पुरुष को परस्त्रीगमन में प्रायश्चित्त है वही उससे करवावे । किसी जातीय पुरुष के बहकाने पर फिर भी वह बिगड़ जावे तो उसको चान्द्रायण व्रत करावे । एक रात चांडाली के साथ

समागम से जो पाप द्विज करता है वह तीन वर्ष तक भिक्षा अन्न खाकर गायत्री जप से दूर होता है। यह सब पाप करनेवाले चारों वर्ण की शुद्धि कही है। अब पतितों के संसर्ग का प्रायश्चित्त सुनो॥ १७७-१८०॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥ १८१॥
यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये॥ १८२॥
पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ॥ १८३॥
दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा।
अहोरात्रमुपासीरन् अशौचं बान्धवैः सह॥ १८४॥

एक वर्ष तक पतितों के साथ एक सवारी वा आसन पर बैठने से और एक पंक्ति में भोजन करने से उनको यज्ञकर्म कराने, वेद पढ़ाने और विवाहसम्बन्ध करने से पतित होजाता है। जो मनुष्य इन पतितों के साथ जो संसर्ग करता है वह उस संसर्ग की शुद्धि के लिए वही व्रत करे। पतित प्रायश्चित्त न करे तो उसके सपिण्ड और ममेरे-फुफेरे भाई आदि निंदित तिथिको सायंकाल गाँव के बाहर जाति-पुरोहित-गुरुजनों के सामने जलदान करे। दासी जल भरे पुराने घड़े को प्रेत के समान पैर से ठोकर देकर फोड़ दे, और सपिण्ड बान्धवों के साथ एक दिन-रात का प्रायश्चित्त माने॥ १८१-१८४॥

निवर्त्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणमहासने।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी॥ १८५॥

ज्येष्ठता च निवर्त्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम्।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान् गुणतोऽधिकः ॥१८६॥
प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम्।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥१८७॥
स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम्।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८८ ॥
एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८९ ॥

सपिण्ड उनके साथ बोल-चाल उठना-बैठना छोड़ दें। पिता के धन में उसको भाग न दें और लौकिक व्यवहार भी न करें। पतित की ज्येष्ठता और उसके भाग का धन जाता रहता है। इसलिये वह भाग छोटों में जो गुणी हो उसको देना चाहिये। परन्तु वह प्रायश्चित्त करे तो सपिण्ड-बान्धव साथही पवित्र जलाशय में स्नान करें और जल भरा घड़ा उस जलाशय में डालें। और घर में आकर जाति के सब काम पूर्ववत् करें। पतित स्त्रियों के विषय में भी यही विधि करे। परन्तु उनको अन्न, वस्त्र, जल देना चाहिए और घर के पास में रहें ॥ १८५-१८६ ॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित् सहाचरेत्।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१९०॥
बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९१ ॥
येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९२॥

प्रायश्चित्त न करनेवाले पातकियों के साथ दान आदि का कोई सम्बन्ध न रक्खे । और प्रायश्चित्त करनेवालों की फिर निन्दा भी न करे । बालहत्यावाले, कृतघ्न, शरणागत को मारनेवाले और स्त्रियों की हत्या करनेवाले, प्रायश्चित्त कर भी लें तोभी उनका संसर्ग न करे । जिन द्विजों का शास्त्रोक्त समय में यज्ञोपवीत न हुआ हो उनको तीन प्राजापत्य व्रत कराकर विधिपूर्वक यज्ञोपवीत करावे ॥ १९०-१९२ ॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्था तु ये द्विजाः ।
ब्राह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९३ ॥
यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥ १९४ ॥
जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९५ ॥
उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् ।
प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥ १९६ ॥
सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९७ ॥
व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९८ ॥
शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।
संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९९ ॥
श्वशृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०० ॥

विरुद्ध कर्म करनेवाले और वेद न पढ़ेहुए द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें तो उनको भी येही तीन कृच्छ्र का प्रायश्चित्त बतावे। जो ब्राह्मण निंदित कर्मों से धन कमाते हैं वे उसको छोड़ने और जप-तप से शुद्ध होते हैं। एकाग्रचित्त से तीन हज़ार गायत्री का जप करके एक महीना गोष्ठ में दुग्धाहार करके, बुरे दान लेने के पाप से छूटता है। उस उपवास से कृश, गोष्ठ से आए विनीत ब्राह्मण से पूछे कि हे सौम्य! "क्या तू हमारे समान रहने की प्रतिज्ञा करना चाहता है?" उन ब्राह्मणों से 'अब असत् दान न लूंगा' यह सत्यवचन कहे और गौओं को चारा देवे फिर गौओं से पवित्र किए स्थान (जहां जल पीती हों) में वे ब्राह्मण उसके साथ व्यवहार आरम्भ करें। व्रात्यों को यज्ञ कराकर माता, पिता और गुरु से अन्य का प्रेतकर्म कराके मारणकर्म और 'अहीन' नामक यज्ञ करके तीन प्राजापत्य व्रत करने से शुद्ध होता है। शरणागत को छोड़कर अनधिकारी को वेद पढ़ाकर एक वर्ष जौ खाय तो पाप से छुटकारा पाता है। गाँव के रहनेवाले कोई जीव कुत्ता, सियार, गदहा, मांसाहारी जीव, मनुष्य, घोड़ा, ऊंट और सुअर काटलें या स्पर्श करलें तो प्राणायाम से शुद्ध होता है॥ १९३-२००॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा।
होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम्॥२०१॥
उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति॥२०२॥
विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति॥ २०३॥
वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्॥ २०४॥

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥ २०५॥
ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वावध्य वाससा।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत्॥ २०६॥
अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते॥ २०७॥
शोणितं यावतः पांशून् संगृह्णाति महीतले।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वशेत्॥ २०८॥

एक मास तक दो दिन के बाद तीसरे दिन सायंकाल को भोजन, वेदसंहिता का पाठ और साकल मन्त्रों से होम, पंक्तिवाह्य को शुद्ध करता है। ब्राह्मण जानकर ऊंट या गधे की सवारी में बैठे या नंगा होकर स्नान करे तो प्राणायाम से शुद्ध होता है। मल, मूत्र के वेग से आतुर पुरुष विना जलके वा जल में मल-मूत्र करे तो गाँव के बाहर सवस्त्र स्नान करे और गौ का स्पर्श करके शुद्ध होता है। वेदोक्त नित्यकर्मों का और स्नातक का व्रत का लोप होने पर उपवास करना प्रायश्चित्त है। ब्राह्मण को हुंकार (चुप रह आदि) और बड़े को (तू) कहकर स्नान करके भोजन करे और प्रणाम करके उनको प्रसन्न करे। ब्राह्मण को तिनुके से भी मारकर अथवा वस्त्र से बांधकर या विवाद से जीतकर प्रणाम करके उनको प्रसन्न करे। ब्राह्मण को मारने की इच्छा से दण्डा उठाकर सौ वर्ष और मारकर हज़ार वर्ष नरक में पड़ता है। मारेहुए ब्राह्मण के देह से गिरा रुधिर धूल के जितने कणों को भिगोता है मारनेवाला उतने हज़ार वर्ष नरक में पड़ता है॥ २०१-२०८॥

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम्॥ २०९॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्॥२१०॥
यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामिदेवर्षिपितृसेवितान् ॥२११॥
त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥२१२॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ २१३ ॥
एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥ ॥ २१४॥
तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः ॥२१५॥
यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१६ ॥

ब्राह्मण के ऊपर मारने के लिए लकड़ी उठाकर प्राजापत्य, मारने पर अतिकृच्छ्र और रुधिर निकलने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करे। जिन दोषों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है उनका शक्ति और पाप विचार कर प्रायश्चित्त नियत करे। मनुष्य जिन उपायों से पाप नष्ट करता है उन देवर्षि और पितरों के सेवित उपायों को तुम से कहता हूं । प्राजापत्य-व्रत करनेवाला द्विज तीन दिन प्रातः-काल और तीन दिन सायंकाल और तीन दिन विना मांगा अन्न खावे और तीन दिन व्रत करे यों बारह दिनका होता है। एक दिन गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशका जल मिलाकर खाय और एक रात्रिका उपवास करे तब 'कृच्छ्र-सान्तपन' होता है। तीन

दिन प्रातःकाल एक एक ग्रास खाय, दूसरे दिन सायंकाल को एक एक ग्रास खाय, तीसरे दिन विना मांगा एक एक ग्रास खाय और अन्त के तीन दिन उपवास करे यह अतिकृच्छ्र कहलाता है। तप्तकृच्छ्र करनेवाला द्विज एक बार स्नान करे और तीन दिन गरम जल तीन दिन गरम दूध तीन दिन गरम घी और तीन दिन वायु का पान करे। जितेन्द्रिय होकर बारह दिन भोजन न करना 'पराक' नामक कृच्छ्र है। यह सब पापों को दूर करदेता है॥२०९-२१६॥

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१७ ॥
एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१८ ॥
अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिश्चान्द्रायणं चरन् ॥२१९॥
चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥२२०॥
यथाकथञ्चित् पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम्॥२२१॥
एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन् व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२२ ॥
महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२३ ॥
त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२४ ॥

तीन समय स्नान करे, कृष्णपक्ष में एक एक ग्रास घटावे, शुक्लपक्ष में एक एक ग्रास बढ़ावे यह चान्द्रायण व्रत कहलाता है। 'यवमध्यम' व्रत में शुक्लपक्ष से नियमपूर्वक चान्द्रायणव्रत करता हुआ इन्हीं सब विधियों को करे। 'यतिचान्द्रायण' करनेवाला, नित्य दोपहर में हविष्यान्न के आठ आठ ग्रास खावे और नियमसे रहे। चार ग्रास प्रातःकाल और चार ग्रास सूर्यास्त में खाय, यह 'शिशुचान्द्रायण' व्रत है। एक मास में हविष्यान्न के दोसौ चालीस २४० ग्रास खाने से चन्द्रलोक प्राप्त होता है। रुद्र, आदित्य, वसु, मरुत और महर्षियों ने सब पापों के नाशार्थ इस व्रत को किया था। यह व्रत करनेवाला पुरुष प्रतिदिन स्वयं महाव्याहृतियों से हवन करे। और अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोध-त्याग और सरलता का वर्ताव करे। तीन बार दिन में और तीन बार रात में सवस्त्र स्नान करे। स्त्री, शूद्र और पतितों से कभी बातचीत न करे॥ २१७-२२४॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेव द्विजार्चकः॥ २२५॥
सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः॥ २२६॥
एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृतपापांस्तु मंत्रैर्होमैश्च शोधयेत्॥ २२७॥
ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात् तथा दानेन चापदि॥ २२८॥
यथा यथा नरो धर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते॥ २२९॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।

तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २३० ॥
कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात् प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३१ ॥
एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३२ ॥

आसन पर उठा बैठा करे, अशक्त हो तो भूमि पर सोवे और ब्रह्मचारी, व्रती, गुरु, देवता और द्विजोंका पूजक होवे । नित्य यथाशक्ति गायत्री और अघमर्षणादि पवित्र मन्त्रों का जप करे। प्रायश्चित्त के सभी व्रतों में यह विधि मान्य है। पापी द्विजों को इन व्रतों से शुद्ध करे और गुप्त पापियों को ब्राह्मणसभा, मन्त्र जप और होम कराकर शुद्ध करे। पाप करनेवाला पाप प्रकट करने, पश्चात्ताप करने और तप स्वाध्याय करने से और आपत्ति में दानही करने से पाप से छूटता है। मनुष्य जैसे जैसे अपने अधर्म प्रकट करता है वैसे वैसेही उससे छूटता है जैसे सांप केंचुल से अलग होजाता है। जैसे जैसे उसका मन दुष्कृत-कर्म की निंदा करता है वैसे वैसे उसका शरीर अधर्म से छूटता है। पाप करने के बाद संताप करके उससे छूटता है और फिर ऐसा न करूंगा-इस संकल्प से पवित्र होता है। परलोक में कर्म-फल मिलता है, ऐसा मन से विचार कर नित्य मन, वाणी और शरीर से शुभकर्म किया करे ॥ २२५-२३२ ॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥२३३॥
यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३४ ॥
तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।

तपो मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३५ ॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्त्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् २३६ ॥
ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३७ ॥
औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३८॥
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३९ ॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात्ततः ॥२४० ॥

जानकर वा न जानकर निंदित कर्म करके उससे छुटकारा चाहनेवाला फिर दूसरा पापकर्म न करे। पापी के मन में यदि प्रायश्चित्त से संतोष न हो तो जबतक सन्तोष हो तबतक तप करे। देवलोक और मनुष्यलोक के सब सुख तपोमूलक हैं। तप से ही मध्य में और अन्त में सुख मिलता है, यह ऋषियों का मत है। ब्राह्मण का ज्ञान तप है, क्षत्रिय का तप रक्षा है, वैश्य का तप व्यापार है और शूद्र का तप सेवा है। संयमी फल, मूल, पवन का आहार करनेवाले ऋषि तप से ही चराचर विश्व को प्रत्यक्ष देखते हैं। रसायन, औषध, ब्रह्मविद्या और स्वर्गादि लोक में निवास ये सब तप से ही सिद्ध होते हैं। उनके साधन तपही हैं। जो दुस्तर है, दुर्लभ है, दुर्गम है, दुष्कर है, वह सब तप से सिद्ध होजाता है। क्योंकि तप की शक्ति अलङ्घ्य है। महापातकी और उपपातकी सब तप करने सेही उसपापसे छूटतेहैं ॥२३३-२४०॥

कीटाश्चाहि पतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च।

स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्॥२४१॥
यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥ २४२ ॥
तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान् संवर्धयन्ति च॥२४३॥
प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४४ ॥
इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४५ ॥
वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४६ ॥
यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४७ ॥

कीट, सर्प, पतंग, पशु, पक्षी और स्थावर प्राणी भी तपोबल से स्वर्ग को जाते हैं। मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो कुछ पाप करते हैं उन सब को तपोधन ऋषि तप से शीघ्र ही भस्म करदेते हैं। तप से शुद्ध ब्राह्मण के यज्ञबलि को देवता ग्रहण करते हैं और कामनाओं को पूर्ण करते हैं। तपोबल से ही प्रजापति ने इस शास्त्र को रचा था और ऋषियों ने वेद भी तप से पाया था। सब प्राणियों का तप से उत्तम योनि में जन्म होता है यह देख कर देवगण तप का माहात्म्य करते हैं। प्रतिदिन वेदाध्ययन, पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, अपराध सहन ये महापातक के भी पापों का शीघ्र नाश कर देते हैं। जैसे अग्नि तेज से ईंधन को जला देता है वैसे वेदविशारद, ज्ञानरूपी अग्नि से सब पाप को जला देता है॥ २४१–२४७ ॥

इत्येतदेत सा मुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत॥ २४८॥
सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश।
अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः॥ २४९॥
कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वाशिष्ठं च प्रतीत्यृचम्।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति॥ २५०॥
सकृज्जप्त्वास्य वामीयं शिवसङ्कल्पमेव च।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः॥ २५१॥
हविष्यान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः॥ २५२॥
एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम्।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा॥ २५३॥
प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम्।
जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात्॥ २५४॥

इस प्रकार पापों का यथाविधि प्रायश्चित्त कहा गया है। अब गुप्त पापों का प्रायश्चित्त सुनो। एक मास तक ॐकार और व्याहृति के साथ सोलह प्राणायाम करने से भ्रूणहत्या से मनुष्य छूट जाता है। 'अपनःशुशोचदघम्' इत्यादि ऋग्वेद का कौत्स-सूक्त और 'प्रतिस्तोमेतिरुपसंवशिष्ठा०' इत्यादि वाशिष्ठमंत्र, 'महित्रीणाम्' इत्यादि सूक्त और 'शुद्धवत्य०' इत्यादि ऋचाओं का पाठ करने से सुरापान दोष से मुक्त होजाता है। 'अस्य वामस्य०' इत्यादि ऋचा के सूक्त और 'शिवसंकल्प०' इत्यादि सूक्त के पाठ से, सुवर्णचोरी के पाप से तुरंत छूट जाता है। 'हविष्यान्नमजरं०' इत्यादि उन्नीस ऋचा, 'नतमंहोन दुरितं०'

इत्यादि आठ ऋचा और पुरुषसूक्त का एक मास नित्य पाठ करने से गुरुपत्नी संभोग का पाप दूर होजाता है। महापातक और उपपातकों को दूर करने के लिए 'अव ते हेड वरुण०' इत्यादि ऋचा, अथवा 'यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने०' इत्यादि ऋचाका एक वर्ष तक जप करे। प्रतिग्रह के अयोग्य का लेने और निंदित अन्न के भोजन का पाप, 'तरत्समंदिधावति०' इत्यादि चार मंत्र का पाठ तीन दिन करने से दूर होता है ॥ २४८–२५४ ॥

सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुद्ध्यति।
स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति चतृचम्॥२५५॥
अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्।
अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक्॥२५६॥
मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम्॥२५७॥
महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति॥२५८॥
अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः॥ २५९ ॥
त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम्॥ २६० ॥

अधिक पाप करनेवाला नदी में स्नान करके 'सोमा रुद्रा धारयेथा०' इत्यादि और 'अर्यमणं वरुणं मित्रं०' इत्यादि तीन ऋचाओंका एक मास तक नित्य पाठ करे तो शुद्ध होता है। पापी पुरुष, छःमास तक, 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं०' इत्यादि सात ऋचा का नित्य पाठ करे और जल में मल-मूत्र डालनेवाला एक

मास तक भीख मांगकर निर्वाह करे। द्विज, 'देवकृतस्य०' इत्यादि शाकल होम के मन्त्रों से, एक वर्ष तक घी का होम करे अथवा 'नम इन्द्रश्च०' इत्यादि मन्त्रका एक वर्षतक पाठ करे तो महापाप से भी छूट जाता है। महापातकी एक वर्षतक भीख मांगकर खाय, सावधानी से नित्य गौओं के पीछे फिरे। और पवमान देवता के सूक्तों का पाठ करे तो शुद्ध होता है। तीन पराक व्रतों से शुद्ध, जितेन्द्रिय होकर, वन में वेदसंहिता का तीन बार पाठ करे तो सब पापों से छूटता है। तीन दिन उपवास करे, तीनों समय में स्नान करे और अघमर्षण-सूक्त का पाठ करे तो सब पापों से छूटजाता है॥ २५५-२६०॥

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनम्।
तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम्॥ २६१॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः।
ऋग्वेदं धारयन् विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन॥ २६२॥

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २६३॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति॥ २६४॥

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥ २६५॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्॥ २६६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रणीतायां स्मृतौ
एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

जैसे यज्ञों का राजा अश्वमेध सब पापों का नाशक है, वैसे अघमर्षण-सूक्त सब पापों का नाशक है। ऋग्वेद को धारण करने वाला ब्राह्मण चाहे तीनों लोकों का संहार करे या मनमाने भोजन करे तो भी उसको पातक नहीं लगता। जो द्विज, सावधानी से, ऋक्संहिता या यजुःसंहिता अथवा सामसंहिता की ब्राह्मण-उपनिषदों के सहित तीन बार आवृत्ति करे तो सब पापों से मुक्त होजाता है। जैसे बड़ी नदी में डाला हुआ ढेला गल जाता है वैसे सब पाप तीन आवृत्ति वेद में डूब जाते हैं। ऋक् यजु और साम वेद और विविध मन्त्रों को त्रिवृत् वेद जानना चाहिए। जो इनको जानता है वही वेदवेत्ता है। सब वेदों में प्रधान तीन अक्षर का—जिसमें तीनों वेद अन्तर्गत हैं, वह गोपनीय प्रणव 'ओं' कार, दूसरा त्रिवृत् वेद है। जो उसके स्वरूप और अर्थ को जानता है वह वेदविशारद है॥ २६१–२६६॥

ग्यारहवां अध्याय पूरा हुआ।

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥
शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥
तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

बारहवां अध्याय ।

कर्मफल-निर्णय ।

हे पापरहित ! यह चारों वर्णों का संपूर्ण धर्म तुमने कहा । अब शुभाशुभ कर्मों के दूसरे जन्म में होनेवाले फलों को यथार्थरूप से हम से कहिये । इस प्रकार महर्षियोंने भृगु से पूँछा । यह सुनकर

मनुपुत्र-धर्मात्मा भृगुने ऋषियों से कहा. इस सम्पूर्ण कर्मयोग के निर्णय को सुनोः—मन, वाणी और शरीर से होनेवाला कर्म शुभ, अशुभ फल देता है और उसी कर्म के अनुसार मनुष्यों का उत्तम-मध्यम और अधम योनि में जन्म होता है। उस देही के उत्तम-मध्यम-अधम और मन-वाणी-शरीर के आश्रित फल देने वाले तीन प्रकार के दश लक्षणयुक्त धर्म का मनप्रवर्तक-चलाने वाला है। अन्याय से परधन हरने का विचार, दूसरे का अनमत चाहना और परलोक में अश्रद्धा ये तीन प्रकार के मानस पापकर्म हैं। कठोर वचन कहना, झूँठ बोलना, सब भांति की चुगली और व्यर्थ बकवाद करना ये चार वाणी के पापकर्म हैं। विना दी हुई वस्तु लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्री-गमन ये तीन शरीर के पापकर्म हैं ॥ १–७ ॥

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचावाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥
योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥ १४॥

मनुष्य मन से किए शुभाशुभ कर्मफल को मन से ही, वाणी से किये, वाणी ही और शरीर से किए कर्म का शरीर से ही फल भोगता है। मनुष्य शारीरक कर्मदोषों से वृक्षादियोनि, वाणी के कर्मदोषों से पक्षी और मृग की योनि और मानसिक कर्मदोषों से चण्डाल आदि हीनयोनि में जन्म पाता है। वाणी को नियम में रखना वाग्दण्ड, मन को वश में रखना मनोदण्ड और शरीर को वश में रखना कायदण्ड ये तीनों जिसकी बुद्धि में स्थित हैं वह पुरुष 'त्रिदण्डी' कहाजाता है। मनुष्य संपूर्ण जीवों पर इन तीनों दण्डों को स्थापित करने और काम-क्रोध को वश में रखने से, सिद्धि-कृतार्थता को पाता है। जो इस शरीर को कर्म में प्रेरित करता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। और जो कर्म करता है उसे 'भूतात्मा' कहते हैं। जीव नामक दूसरा अन्तरात्मा (सूक्ष्म शरीर) सब शरीरधारी क्षेत्रज्ञों के साथ पैदा होता है। जिससे जन्मों में सम्पूर्ण सुख-दुःख जाना जाता है। वे दोनों महान्-सूक्ष्म शरीर और क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा पञ्चभूतों के साथ मिलकर ऊंचे-नीचे प्राणियों में स्थित होकर परमात्मा के आश्रय से रहते हैं॥ ८-१४॥

असंख्या मूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥ १५॥
पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्॥ १६॥
तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः॥ १७॥
सोऽनुभूयासुखोदर्कान् दोषान् विषयसङ्गजान्।

व्यपेत कल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥
तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥
यद्याचरति धर्मं स प्रायशो धर्ममल्पशः ।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥
यदि तु प्रायशो धर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥
यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ।
तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

उस परमात्मा के शरीर से क्षेत्रज्ञ नामक असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं। जो उत्तम-अधम प्राणियों से निरन्तर कर्म कराते हैं। पापीमनुष्यों का शरीर यमयातना के लिए दूसरा सूक्ष्म-पञ्चतन्मात्रा से उत्पन्न होता है। वह पापी उस शरीर से यमयातना को भोगकर फिर उन पञ्चभूतों की मात्राओं में विभाग के अनुसार लीन होजाता है। वह सूक्ष्मशरीरी जीव, दुःखों को भोग चुकने पर पापरहित होकर महान् और क्षेत्रज्ञ का आश्रय करता है। वे महान् और क्षेत्रज्ञ साथ में उस प्राणी के पुण्य-पाप का विचार करते हैं, जिनसे मिला हुआ यहां और परलोक में सुख-दुःख भोगता है। मनुष्यजन्म में यदि वह धर्म अधिक और अधर्म थोड़ा किए रहता है तो उन्हीं पञ्चभूतों से युक्त होकर स्वर्ग में सुख भोगता है। यदि अधर्म अधिक रहता है तो मरकर यमयातना भोगता है। उन यातनाओं को भोगने के बाद निष्पाप होकर वह जीव फिर विभाग के अनुसार पञ्चभूतों का आश्रय लेकर जन्म लेता है ॥ १९-२२ ॥

एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।

धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥२४॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥
यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

गुणों का प्रभाव।

इन जीवगतियों का जोकि धर्म-अधर्म से होनेवाली हैं अपने मन से विचार करके पुरुष को सदा धर्म में मन टिकाना चाहिए। सत्त्व, रज और तम ये तीनों आत्मा प्रकृति के गुण हैं। इन्हीं गुणों से व्याप्त महत्तत्त्व सारे विश्व में स्थित है। इन गुणों में जो गुण जब देह में अधिक होता है तब उस प्राणी को अपने भाव का कर डालता है। वस्तु का वास्तविक ज्ञान सत्त्व-गुण का उलटा ज्ञान तमोगुण का और राग-द्वेष रजोगुण का लक्षण

है। सब प्राणियों के शरीर इन्हीं के प्रभावों से व्याप्त हो रहे हैं। जिस से आत्मा को सुख का ज्ञान हो शान्त शुद्ध और प्रकाश-भाव पैदा हो वह सत्त्वगुण है। आत्मा को अप्रीतिकर दुःख से मिला विषयों में खींचनेवाला रजोगुण होता है। जो मोह-युक्त हो प्रकट न हो विषयी हो और तर्क या बुद्धि से न जाना जाय वह तमोगुण है। इन तीनों गुणों का जो उत्तम-मध्यम-अ-धम फल होता है वह सब आगे कहा जाता है ॥ २३-३० ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म, कर्म और आत्मचिन्तन ये सब सत्त्वगुण के काम हैं। आरम्भ में रुचि होना, फिर अधैर्य, बुरे कामों में फँसना और विषय-भोग ये रजोगुण के काम हैं। लोभ, नींद, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचार, मांगने की आदत और प्रमाद ये तमोगुण के काम हैं। इन तीनों गुणों का संक्षेप से लक्षण यों है:— जिस कर्म को करके करते हुए या आगे करने में लज्जा आती है वह तमोगुण का लक्षण है। जिस कर्म से लोक में प्रसिद्धि चाहे, पर फल न होने पर शोक न पैदा हो, वह रजोगुण का लक्षण है। जिससे ज्ञान प्राप्त करना चाहे, जिसको करने में लज्जा न आवे और जिस कर्म से मन प्रसन्न सन्तुष्ट रहे, उसको सत्त्वगुण का लक्षण जानना चाहिए। तम का काम, रज का अर्थ और सत्त्व का धर्म ये मुख्य लक्षण हैं। इनमें क्रम से अगला अगला श्रेष्ठ माना जाता है॥ ३१-३८॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते।
तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम्॥३९॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥ ४०॥
त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः।
अधमा मध्यमाग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः॥ ४१॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥ ४२॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः॥४३॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।

रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञश्चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

इन गुणों में जिस गुण से जीव जिन जिन गतियों को पाता है, उन गतियों को संक्षेप से कहताहूं—सात्त्विक गुणवाले देवभाव, रजोगुणी मनुष्यत्व और तमोगुणी पक्षीपनको पाते हैं—यह तीन प्रकार की गति है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से होनेवाली गति, कर्म और विद्या के अनुसार, उत्तम-मध्यम-अधम होती है। वृक्षादि स्थावर, कृमि, कीट, मछली, साँप, कछुआ, पशु और मृग ये तमोगुणी अधम गति है। हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और शूकर ये तमोगुणी मध्यमगति है। चारण-भाँट, गरुड़ादि पक्षी, पाखंडी पुरुष, राक्षस और पिशाच ये तमोगुण की उत्तम गति जाननी चाहिए। झल्ल, मल्ल, नट, शस्त्र से जीनेवाले, जुआ-मद्यपान में आसक्त पुरुष ये रजोगुण की अधमगति हैं। राजा, क्षत्रिय, राजपुरोहित, विवाद करनेवाले ये रजोगुणी मध्यमगति है ॥ ३९–४६ ॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥
एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥
यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥
बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥

गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, विद्याधर और अप्सरा ये रजोगुणी उत्तमगति है। वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, विमानचारी देवता, नक्षत्र और दैत्य ये सत्त्वगुण की अधमगति है। यजमान, ऋषि, देवता, वेद, ज्योति, वर्ष, पितर और साध्यदेव यह सत्त्वगुण की मध्यमगति है। ब्रह्मा, प्रजापति, धर्म, महत्तत्त्व और प्रधान इसको सत्त्वगुण की उत्तमगति विद्वान् लोग कहते हैं। इस प्रकार मन, वाणी और शरीर के तीन प्रकार के कर्मों से होने वाली, त्रिगुणमयी, उत्तम-मध्यम-अधम तीन प्रकार की सब प्राणियों की गति कही गई है। इन्द्रियों में आसक्ति और धर्माचरण न करने से मूर्ख-अधम मनुष्य पापयोनि को प्राप्त होते हैं। इस लोक में यह जीव जिस जिस कर्म से जिस जिस योनि में जन्म लेता है, उन सब को क्रम से सुनो—महापातकी पुरुष बहुत वर्षों तक भयानक नरकों में पड़कर, पाप कट जाने पर बाक़ी भोग भोगने के लिए इन नीच योनियों में जन्मता है ॥ ४७-५४ ॥

श्वशूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।

चाण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥
कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥
लूता हि सरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७॥
तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥
हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥
संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥
मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ।
विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥
धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

ब्रह्महत्या करनेवाला, कुत्ता, सुअर, गधा, ऊँट, बैल, बकरा, मेंढ़ा, मृग, पक्षी, चाण्डाल और पुक्कस की जाति में जन्मता है। मद्यपान करनेवाला ब्राह्मण कृमि, कीड़ा, पतंग, मैला खानेवाले पक्षी और हिंसक प्राणियों की जाति में जन्मता है। सोना चुरानेवाला ब्राह्मण मकड़ी, सांप, गिरगट, जलचर पक्षी, हिंसक जीव और पिशाच की योनि में जन्मता है। गुरुपत्नी-गामी पुरुष सैकड़ों बार घास, गुल्म, लता, कच्चा मांस खानेवाले, दाढ़वाले और क्रूर कर्मियों की योनि में जन्म लेता है। हिंसक मनुष्य कच्चा मांस खानेवाले, कृमि और अभक्ष्य-भक्षी होते हैं। चोर

एक दूसरे को खानेवाले प्राणी होते हैं । चाण्डाली से संयोग करनेवाले प्रेत होते हैं । पतितों से संसर्ग, परस्त्री और ब्राह्मण धन हरनेवाला, ब्रह्मराक्षस होता है । मणि, मोती, मूँगा और विविध रत्नों को चुराकर, हेमकार पक्षियों में जन्मता है । अन्न चुराकर चूहा कांस की चोरी से हंस, जल चुराने से मेंढक, मधु चुराने से मक्खी, दूध की चोरी से कौआ, रस चुराने से कुत्ता और घी चुराने से नौला होता है ॥ ५५-६२ ॥

मांसं गृध्रो वसां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः ।
चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥
कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः ।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥
छुछुन्दरिः शुभान् गन्धान् पत्रशाकं तु बर्हिणः ।
श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥ ६५ ॥
बको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।
रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥
वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ।
स्त्रीमृक्षः स्तोककोवारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥ ६७ ॥
यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥
स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः ।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥
स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।
पापान् संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

मांस चुराने से गीध, चरबी चुराने से जलकाक, तेल की चोरी से तैलपक पक्षी, लोन चुराने से झींगुर और दही की चोरी से बलाका पक्षी होता है। रेशम चुराने से तीतर, अलसी के कपड़ों की चोरी से मेंढक, कपास वस्त्र चुराने से सारस, गौ चुराने से गोधा और गुड़ चुराने से वाग्गुद पक्षी होता है। उत्तम सुगन्ध की चीज़ चुराने से छछुन्दरि, पत्ते-शाक चुराने से मोर, पकान्न चुराने पर भेड़िया और कच्चा अन्न चुराने से शल्यक होता है। आग चुराने से वक, सूप-मूसल चुराने पर मकड़ी और लाल वस्त्र चुराने से चकोर पक्षी होताहै। मृगया, हाथी चुराने से नाहर, घोड़ा चुराने से व्याघ्र, फल-मूल की चोरी से वानर, स्त्री चुराने से रीछ, पीनेका जल चुराने से चातक, सवारी की चोरी से ऊँट और पशु की चोरी से बकरा होता है। मनुष्य दूसरे की कोई भी वस्तु चुराकर और बिना होम हवि भोजन से अवश्य पक्षी होता है। स्त्रियां भी चोरी करने पर इन्हीं दोषों को पाती हैं और उन्हीं जन्तुओं की स्त्री बनती हैं। बिना आपत्ति के अपने अपने नित्य कर्मों से पतित पुरुष पाप-योनियों में पैदा होकर, शत्रुओं के यहां दासपना को पाते हैं॥ ६३-७०॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥ ७१॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः॥ ७२॥
यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते॥ ७३॥
तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु॥ ७४॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥
विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥७६॥
संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥
असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।
बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अपने धर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण उल्कामुख प्रेत होकर वमन खाता है। क्षत्रिय, कटपूत प्रेत होकर विष्ठा और मुरदा खाता है। अपने धर्म से भ्रष्ट वैश्य मैत्राक्षज्योतिक प्रेत होकर, पीब खाता है और शूद्र चैलाशक प्रेत होकर, कपड़े की जूँ खाता है। विषयासक्त पुरुष जैसे जैसे विषयों का सेवन करते हैं, वैसे वैसे उनमें उनकी कुशलता हो जाती है। वे निर्बुद्धि उन पाप कर्मों के बार बार करने से यहां अनेक योनियों में जन्म लेकर दुःख पाते हैं। तामिस्र आदि भयानक नरकों में बार बार जन्म होता है। असिपत्र आदि वनों में चलना पड़ता है। यमलोक के बन्धन और छेदन के दुःख भोगने पड़ते हैं। अनेक पीड़ाएं होती हैं, कौआ, उल्लू नोच नोच कर खाते हैं, जलती रेती का ताप और कुम्भीपाक आदि दारुण नरक भोगने पड़ते हैं। दुःख से पूर्ण पशु आदि की योनि में बारंबार जन्म होते हैं। सर्दी-गर्मी की पीड़ा और भांति भांति के भय होते हैं। फिर फिर गर्भ में वास होता है। दुःखद जन्म होता है। विविध बंधन शृङ्खला वग़ैरह का और दासपना प्राप्त होता है ॥ ७१-७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥
यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥
एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
नैःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च नैःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥
सर्वेषामेव चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥
षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

बान्धवों का वियोग, दुर्जनों का सहवास, दुःख से धन पाना, धन का नाश, कठिनता से मित्र पाना और शत्रुओं से वैर भाव होता है। जिसका उपाय न हो सके ऐसा बुढ़ापा आता है, व्याधियों से कष्ट, नानाप्रकार के दुःख और दुर्जय मरण होता है। मनुष्य जिस भाव से जो कर्म करता है, उसीके अनुकूल शरीर धारण करके फलों को भोगता है। यह सब कर्म फलों का वृत्त कहा गया है। अब ब्राह्मणों का कल्याण करनेवाला कर्म सुनोः—

नैःश्रेयस-कर्म ।

वेदाभ्यास, तप, आत्मज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुसेवा,

ये कर्म ब्राह्मणों को परम-हितकारी हैं। इन सब शुभकर्मों में भी पुण्य का, अधिक कल्याण करनेवाला कर्म-आत्मज्ञान है। वह सब विद्याओं में श्रेष्ठ है और उससे मोक्ष मिलता है। इन ऊपर कहे छः कर्मों में लोक-परलोक दोनों में अधिक कल्याणकारी वैदिक कर्म है ॥ ७६-८६ ॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ ॥८७॥
सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ ९२॥
एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥

वैदिक कर्मों में ऊपर कही सब क्रियाओं का अन्तर्भाव होता है। स्वर्गादि सुख और अभ्युदय करनेवाला प्रवृत्ति कर्म और

मोक्ष देनेवाला-आत्मज्ञानरूप निवृत्त कर्म ये दो प्रकार के वैदिक कर्म होते हैं। इसलोक के और परलोक के सुख की कामना से किया हुआ कर्म प्रवृत्त और निष्काम आत्मज्ञानार्थ किया कर्म निवृत्त कहलाता है। प्रवृत्त कर्म के करने से देवताओं की समता को और निवृत्त कर्म करने से पञ्चभूतों को उलांघ कर मोक्ष पाता है। सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को समान देखनेवाला आत्मयाजी मोक्ष को पाता है। द्विज शास्त्रोक्त कर्मों को भी न कर सके तो ब्रह्मध्यान, इन्द्रियनिग्रह और वेदाभ्यास ही करे। इन्हीं आचरणों से ही विशेषकर ब्राह्मण के जन्म की सफलता है। द्विज आत्मज्ञान को पाकर ही कृतार्थ होता है, अन्यथा नहीं। पितर, देवता और मनुष्यों के धर्म का मार्ग दिखाने वाला वेद ही नेत्र है। वह मीमांसा आदि शास्त्रों के विचार विना जानने में अशक्य है और अनन्त है। यही मर्यादा है॥ ८७-९४ ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ९५ ॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥
बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥
सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः॥ १०१॥
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १०२॥

जो स्मृति वेदमूलक नहीं हैं, जो वैदिक देव-यज्ञादि को झूँठा बतलानेवाले ग्रन्थहैं, उन सबको निष्फल और नरकगति देनेवाले जानना चाहिए। वेद से भिन्न-मूलक जो ग्रन्थहैं वे सब उत्पन्न होते हैं और थोड़े समय में नष्ट होजाते हैं। वे आधुनिक होनेसे निष्फल और असत्य हैं। चारों वर्ण, चारों आश्रम, तीनों लोक और भूत, भविष्य, वर्तमान काल सब वेदहीसे प्रसिद्ध होतेहैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच भी वेद से उत्पन्न हैं और सत्वादि गुणों के कर्म से हैं। सनातन वेद यज्ञादि से चराचर विश्व का धारण और पालन करताहै। इसलिये वेद अधिकारी के परम कल्याण का साधन है। सेनापति, राज्य, न्यायाधीश और सबका स्वामी वेदशास्त्रज्ञही होता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि गीले वृक्षों को भी भस्म करडालता है वैसेही वेदज्ञ अपने कर्मदोषों को भस्म करडालता है। वेद के तत्त्व को जाननेवाला चाहे जिस आश्रम में रहकर इसीलोक में मोक्ष पाजाता है॥ ९५-१०२॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥१०३॥
तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ १०४॥
प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ १०५॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ १०६॥
नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते॥ १०७॥
अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः॥१०८॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ १०९॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥११०॥

अज्ञों से ग्रन्थ पढ़े हुए श्रेष्ठ हैं, उनसे धारण करनेवाले श्रेष्ठ हैं। उनसे भी अर्थ समझनेवाले श्रेष्ठ हैं। उनसे भी शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं। तप और विद्या ब्राह्मण का परम हितकारी है। ब्राह्मण तप से पाप नाश करता है और ब्रह्मविद्या से मोक्ष पाता है। धर्म के तत्त्व को जानने की इच्छावाले प्रत्यक्ष (श्रुति) अनुमान (स्मृति) और विविध शास्त्रों को भली भांति जानें। जो वेद और धर्मशास्त्र का वेद के अनुकूल तर्क से विचार करता है वह धर्म को जानता है, दूसरा नहीं जानता। इस प्रकार मोक्ष देनेवाले सब कर्म कहे गये हैं। अब इस मानव धर्मशास्त्र के रहस्य का उपदेश करते हैं:—

रहस्य-उपदेश।

जो धर्म इस शास्त्रमें नहीं कहे गये उनका निर्णय शिष्ट ब्राह्मणों की आज्ञा से जो हो वही माननीय होता है। जिन्होंने साङ्ग वेद धर्मभाव से अध्ययन किया हो उन वेद के प्रत्यक्ष प्रमाण भूत ब्राह्मणों को शिष्ट जानना चाहिए। कमसे कम दश सदाचारी ब्राह्मणों की सभा या तीनही ब्राह्मणों की सभा जो धर्म बतलावें वही धर्म जानना चाहिए॥ १०३-११०॥

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥
एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
तस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६॥
एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥
सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

तीनों वेद का ज्ञाता वेदानुकूल शास्त्रज्ञ, मीमांसादि तर्कों का ज्ञाता, निरुक्त और धर्म के विचारों में परायण ऐसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ दश ब्राह्मणों की सभा कहलाती है । धर्म में सन्देह पड़ने पर निर्णय करने के लिए तीनों वेद के ज्ञाता, कम से कम तीन ब्राह्मणों को अधिष्ठाता करना चाहिए । एक भी वेदज्ञ ब्राह्मण जिसको धर्म कहे उसको धर्म जाने । पर दश हज़ार मूर्खों का भी कहा धर्म मान्य नहीं होता । ब्रह्मचर्य हीन, वेद न जानने

वाले नाममात्र से ब्राह्मण जाति के हज़ारों इकट्ठे होजायँ तो भी वह सभा नहीं कही जाती। तमोगुणी धर्म न जाननेवाले, जिसको प्रायश्चित्त बतावें उसका पाप, सैकड़ों भाग होकर बतलानेवाले को प्राप्त होता है। यह परम कल्याणकारी संपूर्ण साधन कहा गया है। जो द्विज अपने धर्म से विचलित नहीं होता वह परम गति को पाता है। इस प्रकार भगवान् मनुने, मनुष्यों की हितकामना से यह धर्म का सारा तत्त्व कहा था, वही मैंने तुम लोगों से कह सुनाया। मनुष्य संपूर्ण कार्य कारणों को आत्मा में सावधान होकर भावना करे। जो सबको आत्मरूप जानता है उसका मन अधर्म में नहीं जाता॥ १११-११८॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ ११९॥
खं संनिवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।
पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु॥ १२०॥
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम्॥ १२१॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ १२२॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ १२३॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ १२४॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ १२५॥

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रणीतायां स्मृतौ
द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १२ ॥

इन्द्रादि सब देव आत्मस्वरूप हैं, यह सारा जगत् परमात्मा में ही स्थित है। क्योंकि पर्मात्मा ही प्राणियों को उन के शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला है। ज्ञानी पुरुष बाहरी आकाश को आत्माकाश में, वायु को चेष्टा और स्पर्श में, तेज को जठराग्नि में, सूर्य को नेत्र में, जल को शरीर के चिकने पदार्थों में, पृथिवी को शरीर में, चन्द्रमा को मन में, दिशाओं को श्रोत्र में, विष्णु भगवान् को गति में, शिव को बल में, अग्नि को वाणी में, मित्र को गुदा में और प्रजापति को जननेन्द्रिय में भावना करे। संपूर्ण विश्व का शासनकर्ता अणु से भी अणु शुद्ध सुवर्ण समान-कान्तिमय और निर्विकल्प-बुद्धिगम्य परमात्मा को जानना चाहिए। इस परमात्मा को कोई अग्नि, कोई मनु, कोई प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते हैं। यह परमात्मा सब प्राणियों को पञ्चभूतों के साथ मिलाकर चक्र के गति की भांति उत्पत्ति, पालन और प्रलयद्वारा घुमाया करता है। इस प्रकार जो पुरुष सब प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है वह सब की समता को पाकर परमपद ब्रह्म को पाता है। जो द्विज भृगु के कहे इस मानव धर्मशास्त्र को पढ़ता है वह सदाचारी होता है और अभीष्ट उत्तम गति को पाता है ॥ ११६-१२६ ॥

बारहवां अध्याय समाप्त ।

विक्रयार्थ पुस्तकों का सूचीपत्र ॥

नाम पुस्तक.	मूल्य.
निर्णयसिन्धु मूल	१॥) पु०
भगवन्तभास्कर	॥) पु०
मिताक्षरा सटीक	१०) पु०
प्रथम आचारकाण्ड	३) पु०
द्वितीय व्यवहारकाण्ड...	४।) पु०
तृतीय प्रायश्चित्तकाण्ड	५) पु०
शुक्रनीति	।-)॥
राजनीति	≡)।
याज्ञवल्क्यस्मृति सटीक	।)॥
चाणक्यनीतिदर्पण	-)॥
मानवधर्मसार का सार	)॥ पु०
मानवधर्मसार सटीक	-)॥
निर्णयसिन्धु भाषाटीका सहित	४) पु०
मनुस्मृति सटीक	५) पु०
अष्टादशस्मृति सटीक	२॥) पु०
याज्ञवल्क्य मयत्री संवाद	≡)॥
मनुस्मृति उर्दू अनुवाद सहित	१॥) पु०
श्रीमद्भागवत बारहांस्कंध सटीक पत्रेनुमा ...	५) पु०
मार्कण्डेयपुराण मूल	।≡)॥
मार्कण्डेयपुराण तीन जिल्दों में	२॥)
स्कन्दपुराण काशीखंड सटीक पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध	७)

अकारादिक्रमेण श्लोकानुक्रमणिका।

श्लोकः	पृष्ठम्
अपसव्यमग्नौ कृत्वा	... १०१
अपह्नवेऽधमर्णस्य	... २५५
अपां समीपे नियतः	... ४१
अपांक्त्यो यावतः पांक्त्यान्	... ६५
अपांक्तदाने यो दातुः	... ६३
अपांक्त्योपहता पंक्तिः	... ६६
अपामग्नेश्च संयोगात्	... १७६
अपि नः स कुले जायात्	... १११
अपि यत्सुकरं कर्म	... २१६
अपुत्रायां मृतायां तु	... ३४१
अपुत्रोऽनेन विधिना	... ३४०
अपुष्पाः फलवन्तो ये	... १०
अप्रणोद्योऽतिथिः सायम्	... ८३
अप्रयत्नः सुखार्थेषु	... १६४
अप्राणिभिर्यत्क्रियते	... ३५५
अप्सु प्रवेश्य तं दण्डम्	... ३५६
अप्सु भूमिवदित्याहुः	... २६३
अबीजविक्रयी चैव	... ३६६
अब्दार्धमिन्द्रमित्येतत्	... ४४०
अब्राह्मणः संग्रहणे	... ३०६
अब्राह्मणादध्ययनम्	... ६४
अभयस्य हि यो दाता	... २६७
अभिचारेषु सर्वेषु	... ३६६
अभिपूजितलाभांस्तु	... १६६
अभियोक्ता न चेद्ब्रूयात्	... २५५
अभिवादनशीलस्य	... ४४
अभिवादयेद्वृद्धांश्च	... १४०
अभिवादात्परं विप्रः	... ४५
अभिशस्तस्य षण्ढस्य	... १५१
अभिषह्य तु यः कन्याम्	... ३०८
अभोज्यमन्नं नात्तव्यम्	... १२४

श्लोकः	पृष्ठम्
अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नम्	... ४२२
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोः	... ५२
अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादन-मेव च	... ५६
अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्	... ४२०
अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा	... १६२
अमन्त्रिका तु कार्येयम्	... ३४
अमात्यः प्राड्विवाको वा	... ३५७
अमात्यमुख्यं धर्मज्ञम्	... २२०
अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थ	... २३२
अमात्ये दण्ड आयत्तः	... २१७
अमानुषीषु पुरुषः	... ४२७
अमाययैव वर्तेत	... २२४
अमावास्या गुरुं हन्ति	... १३३
अमावास्यामष्टमीं च	... १३६
अमेध्ये वा पतेन्मत्तः	... ४१४
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः	... ३२६
अयमुक्तो विभागो वः	... ३५४
अयाज्ययाजनैश्चैव	... ७६
अयुध्यमानस्योत्पाद्य	... १४२
अरक्षिता गृहे रुद्धाः	... ३२०
अरक्षितारं राजानम्	... २६८
अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य	... ४४०
अराजके हि लोकेऽस्मिन्	... २०७
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाः	... १६
अर्थकामेष्वसक्तानाम्	... २५
अर्थसम्पादनार्थं च	... २२५
अर्थस्य संग्रहे चैनाम्	... ३१६
अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा	... २५०
अर्थेऽपव्ययमानं तु	... २५४
अलङ्कारं नाददीत	... ३३३

श्लोकः	पृष्ठम्

श्लोकः	पृष्ठम्
पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा	... ४२०
परकीयनिपानेषु	... १४६
परदाराभिमर्शेषु	... ३०५
परदारेषु जायेते	... ६४
परद्रव्येष्वभिध्यानम्	... ४४३
परपत्नीति या स्त्री स्यात्	... ४५
परमं यत्नमातिष्ठेत्	... २६७
परस्त्रियं योऽभिवदेत्	... ३०६
परस्परविरुद्धानाम्	... ३३२
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्	... १४२
परस्य पत्न्या पुरुषः	... ३०५
पराङ्मुखस्याभिमुखः	... ५७
परामप्यापदं प्राप्तः	... ३७०
परित्यजेदर्थकामौ	... १४४
परिपूतेषु धान्येषु	... ३०२
परिपूर्णं यथाचन्द्रम्	... ३६६
परिवित्तिः परिवेत्ता	... ६४
परिवित्तितानुजेऽनूढे	... ४०७
परीक्षिताः स्त्रियश्चैनम्	... २२४
परीवादात्खरो भवति	... ५७
परेण तु दशाहस्य	... २८४
पलं सुवर्णाश्चत्वारः	... २६६
पशवश्च मृगाश्चैव	... ६
पशुमण्डूकमार्जार	... १३५
पशुषु स्वामिनां चैव	... २८५
पशूनां रक्षणं दानम्	... १७
पांसुवर्षे दिशां दाहे	... १३३
पाठीनरोहितावाद्यौ	... १६२
पाणिग्रहणसंस्कारः	७२
पाणिग्रहणिका मन्त्राः	... २८५
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री	... १८७

श्लोकः	पृष्ठम्
पाणिभ्यां तूपसंगृह्य	... १०२
पाणिमुद्यम्य दण्डं वा	... २१३
पात्रस्य हि विशेषेण	... २२१
पादोऽधर्मस्य कर्तारम्	... २४६
पानं दुर्जनसंसर्गः	... ३२०
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव	... २१५
पारुष्यमनृतं चैव	... ४४३
पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य	... २४२
पाखण्डमाश्रितानां च	... १७५
पाखण्डिनो विकर्मस्थान्	... ११६
पिण्डनिर्वपणं केचित्	... १०६
पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्राम्	... १०१
पिताचार्यः सुहृन्माता	... ३०३
पितामहो वा तच्छ्राद्धम्	... १०२
पिता यस्य निवृत्तः स्यात्	... १०२
पिता रक्षति कौमारे	... ३१८
पिता वै गार्हपत्योऽग्निः	... ६२
पितुर्भगिन्यां मातुश्च	... ४६
पितृदेवमनुष्याणाम्	... ४५७
पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः	... ७५
पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य	... ८६
पितृवेश्मनि कन्या तु	... ३४७
पितॄणां मासिकं श्राद्धम्	... ८६
पितेव पालयेत्पुत्रान्	... ३२६
पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि	... १८५
पित्रा विवदमानश्च	... ६२
पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु	... ३३४
पित्र्यं वा भजते शीलम्	... ३८५
पित्र्ये रात्र्यहनी मासः	... १३
पित्र्ये स्वदितमित्येव	... १०८
पिशुनः पौतिनासिक्यम्	... ४०६